

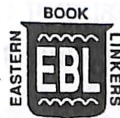
अभिधावृत्तिमातृका

एवम्

शब्दव्यापारविचार

(तुलनात्मक विवेचन)

डॉ० निरुपमा त्रिपाठी
वरिष्ठ प्रवक्ता,
कानपुर विद्यामन्दिर महिला (पी०जी०) कालेज,
कानपुर



ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
दिल्ली–110007
फोन : 23850287, 32919869
e-mail : ebl@vsnl.net

प्रथम संस्करण : 2007

मूल्य : 450.00

आइ.एस्.बी.एन्. : 978-81-7854-129-7

अभिधावृत्तिमातृका एवम् शब्दव्यापारविचार
डॉ० निरुपमा त्रिपाठी

मुद्रक : **आर०के० ऑफसेट,** दिल्ली

पूजनीया माता (स्वर्गीया) श्रीमती विद्या पाठक

एवम्

पूज्य पिता (स्वर्गीय) प्रोफेसर राम दास पाठक

की स्मृति में

श्रद्धा के साथ समर्पित

–निरुपमा त्रिपाठी

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

'काव्यादर्श'

प्रोफेसर रेवाप्रसाद द्विवेदी
अवकाशप्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
साहित्यविद्या विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–221005
राष्ट्रपति सम्मान प्राप्त

28, महामना कालोनी
वाराणसी–221005
फोन नं०–(0542) 2570682
दिनाङ्क ....

प्राक्कथन

डॉ० निरुपमा त्रिपाठी ने प्रयागविश्वविद्यालय के सुयोग्य विद्वान् डॉ० सुरेशचन्द्रजी पाण्डेय के निर्देशन में संस्कृत–डी० फिल्० उपाधि प्राप्त की है और दो विरोधी धाराओं के ग्रन्थ–'अभिधावृत्तिमातृका' तथा 'शब्दव्यापारविचारः' का तुलनात्मक विवेचन 252 पृष्ठों में प्रस्तुत किया है। साथ ही उक्त दोनों मूल ग्रन्थों (अभिधावृत्तिमातृका, शब्दव्यापारविचारः) का मूलपाठ भी दे दिया है, अतः यह ग्रन्थ अधिक उपादेय बन पड़ा है।

शब्दशक्ति का अर्थ है शब्द ज्ञान की अर्थबोधिका शक्ति, न कि शब्द में रहने वाली शक्ति, क्योंकि शब्द अपने आप में एक अचेतन गुण है।

कुछ विचारकों ने शब्दशक्ति को व्यापारात्मक माना और माना कि वह अपना अर्थ बताकर तीसरे क्षण में ध्वस्त हो जाता है, और उसके बाद भी अर्थ का बोध होता रहता है। यह परवर्ती बोध प्रथम अर्थ के ज्ञान से होता है अतः उसमें कारण बनता है प्रथम ज्ञान जो स्वयं में एक पृथक् गुण है, शब्द नहीं। अन्य विचारकों ने माना कि शब्द तब तक सव्यापार रहता है जब तक तात्पर्यभूत अर्थ प्राप्त नहीं होता। दूसरा मत मुकुलभट्ट का है जबकि प्रथम मत मम्मट का। फलतः दोनों परस्पर में विरोधी हैं। इन दोनों आचार्यों की उपस्थापनाओं की तात्त्विक मीमांसा एक स्पृहणीय विषय है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अवश्य ही इसके साथ न्याय हुआ होगा।

अच्छा होता यदि श्रीमती डॉ० निरूपमा जी 'अभिधावृत्तमातृका' को अपने संशोधित नाम 'अभिधावृत्तमातृका' ही कहतीं।

रेवाप्रसाद द्विवेदी
26.12.2006



Prof. Suresh Chandra Pande
Retired Professor & Head
Sanskrit Department
Allahabad University, Allahabad
President's certificate of honour



1/6, Prayag Street
Allahabad-211 002
Phone : (0532) 2641538

Dated ....

भूमिका

'अभिधावृत्तिमातृका एवम् शब्दव्यापारविचार: (तुलनात्मक विवेचन)' शीर्षक प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य मुकुलभट्ट एवं आचार्य मम्मट की शब्दशक्तिविषयक अवधारणा का विशद एवं विस्तृत शास्त्रीय विवेचन करने वाला ग्रन्थ है।

स्वतन्त्र चिन्तक एवं शास्त्रकार के रूप में आचार्य मुकुलभट्ट साहित्य शास्त्र में अपना विशेष स्थान रखते हैं। उनकी मान्यता है कि जो (पाठक) व्याकरण, मीमांसा तथा न्याय में प्रतिबिम्बित दशविध अभिधावृत्त की साहित्य (काव्यवाङ्मय) में समुचित योजना करते हैं वे वागीश्वर बन जाते हैं। वे आचार्य उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज के गुरु रहे हैं। प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार वे मीमांसा, व्याकरण, न्याय एवं साहित्यशास्त्र के पण्डित थे। आचार्य आनन्दवर्धन के परवर्ती किन्तु अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती होने के कारण उनका समय दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। प्रतीहारेन्दुराज ध्वनिविरोधी थे अत: उनके गुरु मुकुलभट्ट का भी ध्वनि की उपेक्षा करना और अभिधा में ही ध्वनि के विविध उदाहरणों को अन्तर्भूत कर लेना उनका मौनरूप से ध्वनि का विरोध ही सिद्ध करता है। सभी ध्वनिविरोधी या ध्वनिकाल से पूर्ववर्ती आचार्य अभिधा के क्षेत्र की व्यापकता मानते हैं। राजशेखर ने एक स्थान पर लिखा है, औद्भट सम्प्रदाय वाले अभिधा को तीन प्रकार का मानते हैं– वैभक्त, शाक्त और शक्तिविभक्तिमय। आचार्य उद्भट स्वयं अभिधा को मुख्य व्यापार मानकर गुणवृत्ति को अमुख्य मानकर संभवत: उसी में उसे अन्तर्भूत मानते थे। ("शब्दानामभिधा-नमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च"-भामहविवरण) प्रभाकर-दर्शन भी दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापारवादी होने से अभिधा के द्वारा ही सारा अर्थबोध कराने वाला है। आचार्य महिमभट्ट तो शब्द की एक ही शक्ति मानते हैं और वह है अभिधा। लोचनकार लक्षणा को अभिधापुच्छभूता कहते हैं। आचार्य कुन्तक विचित्रा अभिधा में सभी अमुख्य अर्थ का बोध स्वीकार करते हैं।

उक्त सन्दर्भ में यदि हम आचार्य मुकुलभट्ट की दशविध अभिधा के विस्तार को देखें तो कुछ भी अटपटा या शास्त्रविरुद्ध नहीं लगता प्रत्युत सुचिन्तित शास्त्रीय व्याख्यान लगता हैं। उन्होंने लक्षणा को भी स्पष्ट रूप से अभिधा का ही भेदविशेष

मानने में कोई संकोच नहीं किया। उनकी दृष्टि में शब्द का तो एक ही व्यापार है और वह है अभिधा। यह अभिधा दो प्रकार की है– निरन्तरार्थविषय तथा सान्तरार्थनिष्ठ। सान्तरार्थनिष्ठ अभिधा ही लक्षणा का क्षेत्र है। लक्षणा वस्तुतः शब्द की नहीं अपितु अर्थ की शक्ति है। मुकुलभट्ट की इस मान्यता का कहीं भी प्रतिवाद नहीं हुआ। आचार्य मम्मट इसीलिये लक्षणा को आरोपिता क्रिया कहते हैं। सर्वदर्शनसंग्रहकार ने लक्षणा को अर्थ का धर्म माना है, और शब्द में आरोपित माना है। इस प्रकार आचार्य मुकुलभट्ट पहले आचार्य हैं जिन्होंने काव्य के सन्दर्भ में अभिधा के अधिकार को इस सीमा तक पहुंचा दिया कि जिससे काव्य के सभी अर्थों का समावेश उसी के वृत्त में हो जाता है। लक्षणा के मुख्यार्थबाधरूप निमित्त के विषय में वे मौन है। उनकी दृष्टि में मुख्यार्थ की पर्यालोचना से जो अर्थ निकलता है वही लाक्षणिक अर्थ है। मीमांसक भी लक्षणा को अभिधेयाविनाभूत प्रतीति ही मानते हैं। इसीलिये गौरनुबन्ध्यः में जातिरूप मुख्यार्थ है और गो व्यक्तिरूप अर्थ लक्ष्यार्थ। इस प्रकार दशभेद वाली अभिधा के अन्तर्गत सभी लोक और काव्य के सन्दर्भों की व्याख्या हो जाती है।

आचार्य मम्मट ध्वनिवादी होने से अभिधा की सीमाओं को बांधकर रखते हैं यहाँ तक कि अनेकार्थशब्दों के स्थल में भी प्रकरणादि से उसका नियमन कर उसका प्रतिप्रसव स्वीकार नहीं करते किन्तु परवर्ती होने से मुकुल भट्ट से सर्वथा भिन्न मत रखते हुए भी उनसे अव्यक्त रूप से प्रभावित उसी प्रकार होते हैं जैसे ध्वविविरोधी भट्टनायक से ध्वनिवादी अभिनवगुप्त। मम्मट ने अनेक स्थलों पर मुकुलभट्ट के वाक्य या वाक्यांशों को यथावत् स्वीकार कर लिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मुकुलभट्ट के अभिधाविस्तार का तथा आचार्य मम्मट के उससे मतभेद एवं शब्दशक्तिविषय मान्यताओं का विशद गम्भीर मूल्यांकन किया गया है। दो भिन्न सम्प्रदाय वाले आचार्यों का समीचीन तुलनात्मक विवेचन करने में लेखिका सफल रही है, क्योंकि वह स्वयं प्रतिभाशाली एवं शास्त्रचिन्तन में रोचकता से अध्ययन करने वाली है। इस उत्तम ग्रन्थ के लिये मेरा साधुवाद एवं आशीर्वाद।

सुरेशचन्द्र पाण्डे

11. 4. 2007

निवेदन

शब्द ही इस संसार में शरीरधारियों के सकल व्यवहार का आधार है। यद्यपि विविध प्रकार के सङ्केतों से मनोभावों को प्रकट तो किया जा सकता है किन्तु अर्थों की पूर्ण अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से ही होती है। भारतीय-चिन्तन-परम्परा में शब्द-विवेचन का अति गम्भीर प्रतिपादन इसकी महत्ता को ही दर्शाता है।

भारतीय साहित्य में शब्दविषयक विशद चर्चा व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा इन तीन शास्त्रों में विशेष रूप से मिलती है। इन्हीं को आधार बनाते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र में भी इस विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है।

इन विचारधाराओं से पूर्व वैदिक परम्परा में तो शब्द की उत्पत्ति सृष्टि से भी पूर्व मानी गई है। समस्त वैदिक साहित्य में शब्द या वाणी को अपौरुषेय माना गया है। 'वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्म 'चेति' (ऐ० ब्रा०, ६/३) 'वागिति सर्वेदेवाः' (जै० उ०, १/९/२११), तथा –

सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते
वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति..। (वृहदा०उ०,४/२)

इत्यादि वैदिक वाक्यों में वाणी को ब्रह्म कहा गया है।

'छान्दोग्योपनिषद्' में वाणी की महत्ता इस प्रकार बतायी गई है –

'यद् वै वाङ् नाभविष्यत् न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत् सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्वेति। (छान्दोग्यो०, ७/२/९) ।

शब्द के स्वरूप और उसकी उत्पत्ति के विषय में प्राचीन महर्षियों ने जो सिद्धान्त सहस्रों वर्ष पूर्व निश्चित किया था वह आज भी वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक माना जाता है।

वैयाकरणों में आचार्य भर्तृहरि के अनुसार लोक में कोई भी ज्ञान शब्द के विना सम्भव ही नहीं है। इन्होंने 'शब्दाद्वैत' नाम से एक नवीन प्रस्थान की स्थापना की तथा शब्द को 'अनादिनिधन ब्रह्म' कहते हुए समस्त संसार को इसी का विवर्त माना है –

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।

(वा० प०, १/१) ।

इसके अतिरिक्त भर्तृहरि ने शब्द को नित्य मानते हुए समस्त ज्ञान को उससे अनुविद्ध माना है –

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।

(वा० प०, १/११४) ।

शब्द क्या है इस विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि की उक्ति है –

'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द–इत्युच्यते। तद्यथा–शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः, इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः। (म० भा०, (१), १.१.१, पृ० १९) ।

नैयायिकों ने भी शब्द को ध्वनि ही कहा है किन्तु उनके मत में शब्द नश्वर ध्वनि रूप होता है। वक्ता द्वारा घट, पटादि के उच्चारण के अनन्तर वे शब्द आकाश मार्ग से विचरण करते हुए 'वीचितरङ्गन्याय' अथवा 'कदम्बमुकुलन्याय' से श्रोता की कर्णशष्कुली से उपहत आकाश–प्रदेश में व्यक्त हो जाते हैं।

प्रत्येक शब्द किसी न किसी अर्थ का बोधक होता है इस विषय में सभी विद्वान् एकमत हैं तथा नैयायिकों को छोड़कर प्रायः सभी विचारक शब्द के साथ अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता को भी स्वीकार करते हैं।

शब्द से अर्थ की प्रीतीति किसी न किसी 'व्यापार' के माध्यम से ही होती है। शब्द के व्यापार को ही 'शक्ति' तथा 'वृत्ति' के नाम से भी जाना जाता है। शब्द की यह शक्ति अथवा वृत्ति कितने प्रकार की होती है इस पर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। मुख्य रूप से अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नाम की तीन शब्द–शक्तियाँ ही मानी गई हैं। कहीं–कहीं तात्पर्य नामक चौथी शक्ति भी मानी गई है।

इन शक्तियों में अभिधा तो निर्विवाद रूप से सर्वत्र स्वीकृत है तथा लक्षणा भी प्रायः सभी विचारधाराओं में मान्य है, किन्तु व्यञ्जना शक्ति वैयाकरणों तथा काव्यशास्त्र, मुख्यतः आलङ्कारिकों को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं मानी गई हैं। शब्द की एक पृथक् वृत्ति के रूप में इसका प्रादुर्भाव सर्वप्रथम आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में ही

हुआ है। यद्यपि आनन्दवर्धन से पूर्व भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतीयमानार्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता के संङ्केत मिलते हैं तथापि व्यङ्ग्यार्थ की बोधिका शक्ति 'व्यञ्जना' की वृत्यन्तर के रूप में स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को ही है। इसके पश्चात् आचार्य अभिनवगुप्त, आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराजजगन्नाथ इत्यादि प्रबल समर्थकों के विचारों में व्यञ्जना पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हुई।

काव्यशास्त्रियों की इस 'व्यञ्जनावृत्ति' को अत्यधिक विरोध का भी सामना करना पड़ा। किन्हीं आचार्यों ने अभिधा से ही प्रतीयमानार्थ की भी प्रतीति मान ली है। इस मत को मानने वाले दीर्घदीर्घतरअभिधावादी हैं जिनमें भट्टलोल्लट प्रमुख हैं। अनुमितिवादियों (जिनमें महिमभट्ट प्रमुख हैं) ने तो अनुमान के द्वारा ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति मानी है। कतिपय अन्य आचार्य व्यङ्ग्य कहे जाने वाले अर्थ को लक्षणागम्य मानते हैं। इस मान्यता के प्रबल समर्थक रहे हैं आचार्य मुकुलभट्ट। इन्होंने अपने ग्रन्थ अभिधावृत्तिमातृका में अभिधा को दशधा विभाजित कर लक्षणा को उसी में समाहित कर लिया है। उसे पृथक् वृत्ति मानने के पक्षधर नहीं हैं मुकुलभट्ट। ध्वनि-सम्प्रदाय में मान्य वस्तु, अलङ्कार एवं रसादि ध्वनि को वे अभिधा के ही भेद लक्षणा में अन्तर्भूत मानते हैं।

'अभिधावृत्तिमातृका' की प्रतिक्रिया स्वरूप ही आचार्य मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की जो काव्यशास्त्रीय जगत् में उनकी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखने वाले उनके ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास पर ही अधिकांश रूप से आधारित है। इसकी तीन करिकाएँ तो अक्षरशः 'काव्यप्रकाश' की ही हैं। इतना होते हुए भी इस ग्रन्थ का संस्कृत काव्यशास्त्र में अलग ही महत्त्व है। 'शब्दव्यापारविचार' में अनेक ऐसे स्थल हैं जो कि 'काव्यप्रकाश' में अविचारित हैं जैसे-लक्ष्यार्थ की सापेक्षता, रूढ़ा एवं प्रयोजनवती लक्षणा के साथ-साथ अकार्या अथवा त्याज्य लक्षणा का प्रसङ्ग, अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, समुच्चयवाद तथा अखण्डार्थवाद इन चारों के अन्तर्गत अभिधा तथा लक्षणा का पौर्वापर्य आदि।

आचार्य मम्मट के दोनों ही ग्रन्थों में अनेक ऐसे प्रसङ्ग हैं जिन्हें अधिगत करने हेतु पृष्ठभूमि में 'अभिधावृत्तिमातृका' के परिशीलन की आवश्यकता पड़ती है। मुकुलभट्ट एवं मम्मट दोनों विरोधी सम्प्रदाय के आचार्य हैं अतः उनमें सैद्धान्तिक विरोध तो स्वाभाविक ही है, किन्तु इनके ग्रन्थों के तुलनात्मक परिशीलन से इनका परस्पर साम्य भी सहज ही स्पष्ट हो जाता है। गुरुजन के आशीर्वाद का आश्रय लेकर

इन्हीं दोनों आचार्यों के ग्रन्थों का सूक्ष्मता से तुलनात्मक परिशीलन करने का मैंने प्रयास किया तथा उससे मुकुलभट्ट एवं मम्मट दोनों के परस्पर साम्य एवं वैषम्य के निष्कर्ष स्वरूप 'अभिधावृत्तिमातृका एवम् शब्दव्यापारविचार: (तुलनात्मक अध्ययन)' शीर्षक ग्रन्थ विद्वत्-समुदाय के समक्ष प्रस्तुत है।

पूज्य गुरुवर्य प्रोफेसर सुरेश चन्द्र पाण्डेय जी (पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के चरणों में नतमस्तक हूँ जिनके प्रकृष्ट पाण्डित्य के प्रकाश का आश्रय लेकर ही मेरी गति एवं रुचि शास्त्रीय विषयों में बनी रही। इस ग्रन्थ की सारगर्भित भूमिका के रूप में मुझे उनका जो आशीर्वाद मिला है वह मेरे लिए अमूल्य निधिस्वरूप है।

इस ग्रन्थ के लेखन में मैं संस्कृत साहित्य एवं शास्त्र के प्रति समर्पित मूर्धन्यविद्वान् आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी (पूर्व अध्यक्ष साहित्यविभाग, प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी) कृत 'अभिधावृत्तमातृका' एवं 'शब्दव्यापारविचार' ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण हिन्दी टीका से अत्यन्त लाभान्वित हुई हूँ इसके लिए मैं आचार्य द्विवेदी जी की हृदय से कृतज्ञ हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण 'प्राक्कथन' लिखकर मुझे उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से भी अपना आशीर्वाद प्रदान किया है इसके लिए मैं उन्हें सादर नमन करती हूँ।

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी जी मुकुलभट्ट के ग्रन्थ का नाम 'अभिधावृत्तमातृका' मानने के पक्षधर है। इसका सङ्केत उन्होंने 'प्राक्कथन' में भी किया है। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इसका नाम 'अभिधावृत्तिमातृका' मिलता है। इस विषय पर मेरी मति में जो विचार आए उसे मैंने ग्रन्थ के परिशिष्ट 'ख' में सङ्कलित किया है।

कु० पूर्णिमा चतुर्वेदी (अवकाश प्राप्त प्रवक्ता, क्रास्थवेट गर्ल्स इण्टर कालेज, इलाहाबाद के प्रति भी श्रद्धावनत हूँ जिन्होंने माध्यमिक कक्षाओं से ही संस्कृत विषय के प्रति रुचि उत्पन्न की तथा जिनके प्रेरक वचनों की स्मृति आज भी सदैव मुझे सम्बल प्रदान करती है।

अग्रज तुल्य डॉ० हरिराम मिश्र जी, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ जो अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी यथावसर मेरी यथेष्ठ सहायता को सदा तत्पर रहे हैं।

अपने महाविद्यालय की प्राचार्या डॉ० आशा रानी राय जी को भी धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जो समय-समय पर अध्ययन एवं लेखन हेतु मेरा उत्साहवर्धन करती रही हैं।

मेरे इस ग्रन्थ के प्रणयन में विद्याव्यसनी पूज्य पिता (श्वसुर) पं० राम अधार तिवारी जी एवं पूज्या माता श्रीमती जानकी तिवारी जी का आशीर्वाद आद्योपान्त मेरे साथ रहा है। उनके चरणों में मेरा प्रणाम अर्पित है। इसके साथ ही परिवार के अन्य सदस्यों की अहर्निश प्रेरणा ने मुझे शक्ति प्रदान की है एतदर्थ उन सबके प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ।

मैं उन विद्वानों के प्रति भी आभारी हूँ जिनके ग्रन्थों अथवा टीकाओं का लाभ उठाते हुए मैं इस ग्रन्थ को पूर्णता तक पहुँचा सकी हूँ।

विभिन्न पुस्तकालयों विशेष रूप से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित केन्द्रीय पुस्तकालय, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठ स्थित पुस्तकालय, केन्द्रीय ग्रन्थागार, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, कानपुर विद्यामन्दिर महिला (पी०जी०) महाविद्यालय स्थित पुस्तकालय के कर्मचारियों को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने दुर्लभ ग्रन्थों एवं अपेक्षित शोध पत्रिकाओं आदि को समुपलब्ध कराकर मुझे सहयोग प्रदान किया है।

अन्त में मैं इस ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रकाशन हेतु ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नई दिल्ली के रवि जी एवं उनके सहयोगियों को भी धन्यवाद देती हूँ। इस ग्रन्थ में असावधानी के कारण हुई किसी भी प्रकार की त्रुटि हेतु, मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

गुरु पूर्णिमा, सम्वत् 2064 — निरुपमा त्रिपाठी
तदनुसार दिनाङ्क 29 जुलाई, 2007

संक्षिप्त-सङ्केत-सूची

अ० को०	–	अमरकोषः
अ० म०	–	अलङ्कारमहोदधि
अ० सर्व०	–	अलङ्कारसर्वस्वम्
अ० वृ० मा०	–	अभिधावृत्तमातृका
आ०	–	आनन
उ०	–	उद्योत/उल्लास
ऐ० ब्रा०	–	ऐतरेयब्राह्मण
का० प्र०	–	काव्यप्रकाश
का० प्र०, बा० बो०	–	काव्यप्रकाश बालबोधिनी
का० मी०	–	काव्यमीमांसा
काव्या० सा० सं०	–	काव्यालङ्कारसारसंग्रह
काव्या० ल० वृ०	–	काव्यालङ्कारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या
काव्या० सू०	–	काव्यालङ्कारसूत्र
कोवि०	–	कोविदानन्द
च०	–	चतुर्थ
जै० उ०	–	जैमिनीय उपनिषद्
जै० सू०	–	जैमिनीय सूत्र
त० भा०	–	तर्कभाषा
तं० वा०	–	तन्त्रवार्तिक
तृ०	–	तृतीय
द्वि०	–	द्वितीय
ध्व०	–	ध्वन्यालोक
ध्व० लो०	–	ध्वन्यालोक लोचन

न्या० भा०	–	न्यायभाष्य
न्या० म०	–	न्यायमञ्जरी
न्या० सि० मु०	–	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
न्या० सू०	–	न्यायसूत्र
पं०	–	पञ्चम
प० ल० म०	–	परमलघुमञ्जूषा
परि०	–	परिच्छेद
पा० सू०	–	पाणिनिसूत्र
पृ०	–	पृष्ठ
प्रता० रु०	–	प्रतापरुद्रीयम्
प्र०	–	प्रथम/प्रदीप
प्रस्ता०	–	प्रस्तावना
प्रा० भा०	–	प्राचीन भारत
भा० काव्या०	–	भामह काव्यालङ्कार
भा० द०	–	भारतीय दर्शन
भा० द० सर्वे०	–	भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण
म० भा०	–	महाभाष्य
मी० द०	–	मीमांसादर्शनम्
मी० द० विवे० इति०	–	मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास
मी० सू०	–	मीमांसा –सूत्र
व्य० वि०	–	व्यक्तिविवेक
व० जी०	–	वक्रोक्तिजीवितम्
वा० प०	–	वाक्यपदीयम्
वा० मा०	–	वाक्यार्थमातृका
वा० मा० वृ०	–	वाक्यार्थमातृका – वृत्ति
वि०	–	विमर्शः
वे० परि०	–	वेदान्तपरिभाषा
वे० सा०	–	वेदान्तसार
वै० सि० ल० म०	–	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा
वृ० वा०	–	वृत्तिवार्तिकम्

वृ० समु०	–	वृत्तिसमुच्चय
वृहदा० उ०	–	वृहदारण्यकोपनिषद्
र० गङ्गा०	–	रसगङ्गाधरः
रा० त०	–	राजतरङ्गिणी
रु० काव्या०	–	रुद्रट काव्यालङ्कार
सं० का० इति०	–	संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास
सा० द०	–	साहित्यदर्पण
सि० कौ०	–	सिद्धान्त कौमुदी
श्लो० वा०	–	श्लोकवार्तिक
श० व्या० वि०	–	शब्दव्यापारविचार
शा० भा०	–	शाबरभाष्य



विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

विषय - प्रवेश

व्याकरण, मीमांसा तथा न्याय शास्त्र से किसी न किसी रूप में प्रभावित 'साहित्यशास्त्र' 'काव्यशास्त्र' का ही दूसरा नाम है। काव्य के सौन्दर्यभूत विविध मौलिक सिद्धान्तों की विशद विवेचना करने वाला शास्त्र ही काव्यशास्त्र के नाम से जाना जाता है। प्राचीन काल में 'काव्यशास्त्र' के लिए 'काव्यालङ्कार' शब्द का प्रयोग होता था। भामह, उद्भट, वामन आदि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों के नाम भी इसी आधार पर थे। 'अलङ्कार' 'सौन्दर्य' का बोधक था जैसा कि आचार्य वामन ने लिखा है– 'सौन्दर्यमलङ्कारः'। सम्भवतः इसी कारण सौन्दर्य का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को ही 'काव्यालङ्कार' कहा जाता था।

प्रारम्भिक काल में 'साहित्य' शब्द 'काव्य' के अर्थ में प्रयुक्त होता था। जैसे 'साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः' में 'साहित्य' पद काव्य के लिए ही है। वस्तुतः 'साहित्य' शब्द 'सहित' से बना है जिसका तात्पर्य है 'सहभाव'। काव्य में शब्द एवं अर्थ का सहभाव होता ही है, इसी कारण शब्द और अर्थ के माध्यम से भावों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति 'काव्य' अथवा 'साहित्य' कहलायी। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने शब्द एवं अर्थ के सहभाव को स्वीकारते हुये काव्य की परिभाषा दी – **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'**।[1] भामह के पश्चात् आचार्य रुद्रट[2] एवं आचार्य कुन्तक[3] ने भी शब्द तथा अर्थ के साहित्य को ही काव्य कहा। इसके पश्चात् परवर्ती आचार्यों में तो शब्द तथा अर्थ को काव्य-लक्षण में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने की एक परम्परा ही बन गई।

राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में 'साहित्य' एवं 'साहित्यविद्या' शब्दों के प्रयोग मिलते हैं।[4] इसमें 'साहित्यविद्या' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है–

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।
   संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।। (भा० काव्या०, पृ० 9)।
2. ननु शब्दार्थौ काव्यं शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः। (रु० काव्या०, 2/1, पृ० 17)।
3. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
   बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।। (व० जी०, 1/7, पृ० 18)।
4. पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निस्यन्दः। (का० मी०, पृ० 8)।

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।[1]

आचार्य मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से साहित्य शब्द का प्रयोग 'साहित्यविद्या' अथवा 'काव्यशास्त्र' के अर्थ में ही किया है।

संस्कृत साहित्य अथवा काव्यशास्त्र के अपने विविध सिद्धान्त हैं जिन पर दार्शनिक प्रभाव भी मिलता है। अनेक महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय विषयों को भली-भाँति समझने के लिए दार्शनिक सिद्धान्तों का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के कई ऐसे आचार्य हुए हैं जिनकी ख्याति 'दार्शनिक काव्यशास्त्री' के रूप में है जैसे- भामह, दण्डी, धर्मकीर्ति, मुकुलभट्ट, महिमभट्ट, अप्पयदीक्षित, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, भोजराज, हेमचन्द्र, धनञ्जय, धनिक, पण्डितराजजगन्नाथ इत्यादि।

इन दार्शनिक काव्यशास्त्रियों में आचार्य मुकुलभट्ट प्रमुख माने जाते हैं। इनका एकमात्र ग्रन्थ है -'अभिधावृत्तिमातृका'। पन्द्रह कारिकाओं वाले इस संक्षिप्त ग्रन्थ की वृत्ति भी स्वयं मुकुलभट्ट ने लिखी थी। शब्दशक्ति विवेचन इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। मुकुलभट्ट ने शब्द की एक ही वृत्ति अथवा व्यापार को माना है और वह है- अभिधा। इस अभिधा के दस भेद होते हैं। लक्षणा इनके अनुसार पृथक् वृत्ति न होकर अभिधा का ही भेद है। ध्वनिवादियों को मान्य व्यञ्जना शक्ति का अन्तर्भाव इन्होंने लक्षणा में ही करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि मुकुलभट्ट की गणना ध्वनि-विरोधी आचार्यों में होती है।

मुकुलभट्ट का 'शब्दशक्ति-विवेचन' काव्यशास्त्रीय जगत् में विशेष महत्त्व रखता है। इसकी महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में इनके कतिपय सिद्धान्तों का खण्डन किया है। मम्मट द्वारा किये गये खण्डनों में मुकुलभट्ट का उपादान लक्षणा के 'गौरनुबध्य:' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' उदाहरण और शुद्धा लक्षणा के प्रसङ्ग में ताटस्थ्य - सिद्धान्त इत्यादि प्रमुख माना जाता है। आचार्य मम्मट के खण्डन की विशिष्ट शैली रही है कि इन्होंने इस प्रक्रिया में यथासम्भव किसी आचार्य का नाम नहीं लिया है। यही कारण है कि मुकुलभट्ट का खण्डन करते हुए भी इन्होंने कहीं भी इनका नाम उल्लिखित नहीं किया है। मम्मट के पूर्व तो कितने ही आचार्य ऐसे होंगे जिनका मत इनके मतों का विरोधी रहा होगा किन्तु इनके समक्ष मुकुलभट्ट ही शब्दशक्ति के ऐसे निष्णात आचार्य रहे होंगे जिनके विचारों का खण्डन किये बिना ये

1. का० मी०, पृ० 11।

अपने सिद्धान्तों की स्थापना नहीं कर सके। इस प्रकार इससे भी मुकुलभट्ट की महत्ता ही सूचित होती है।

श्रेष्ठ व्यक्तियों का उल्लेख स्तुतिपरक हो अथवा खण्डनात्मक, गौरव के लिए ही होता है जैसा कि आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनिकार के लिये लिखा भी है-

इह सम्प्रतिपत्तितोऽन्यथा वा ध्वनिकारस्य वचो विवेचनं नः।
नियतं यशसे प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय।।[1]

मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' से प्रभावित होकर ही आचार्य मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की। अन्यथा जिस शब्दशक्ति का विस्तृत विवेचन वे 'काव्यप्रकाश' में कर चुके थे उसके ही पुनः वर्णन का क्या औचित्य था? यहाँ उल्लेखनीय है कि आचार्य मम्मट ने मुकुलभट्ट का खण्डन तो किया है किन्तु केवल उन्हीं अंशों का जिनसे वे असहमत थे। जिन सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं था, उसे अपनाने में भी इन्होंने कोई संकोच नहीं किया है। 'अभिधावृत्तिमातृका' के अनेक विचारों को आधार बनाते हुए मम्मट ने उसी के अनुसार वर्णन भी किया है। इसके स्पष्ट प्रमाण 'काव्यप्रकाश' तथा 'शब्दव्यापारविचार' में देखे जा सकते हैं।

'काव्यप्रकाश' एवं 'शब्दव्यापारविचार' के अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित किये गये तर्कों को 'अभिधावृत्तिमातृका' के परिशीलन के विना भली-भाँति नहीं समझा जा सकता। इस कारण से यह कहा जा सकता है कि 'अभिधावृत्तिमातृका' आचार्य मम्मट के शब्दशक्ति सिद्धान्त की आधार भूमि है।

मुकुलभट्ट का जीवन-परिचय

मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ में अपने जीवन-वृत्तान्त की कहीं कोई स्पष्ट चर्चा नहीं की है और न इनके जीवन के विषय में किसी प्राचीन ग्रन्थ से ही कोई सूचना मिलती है। इनके विषय में जो कुछ भी कहा जा सकता है उसका आधार इनकी 'अभिधावृत्तिमातृका' तथा इनके शिष्य प्रतीहारेन्दुराज कृत इनकी प्रशंसा ही है। इस कारण इनके जीवन का परिचय संक्षिप्त ही है।

अपने ग्रन्थ की अन्तिम कारिका में मुकुलभट्ट ने अपने पिता का नाम उल्लिखित किया है[2] जिससे ज्ञात होता है कि उनका नाम भट्ट कल्लट था। मुकुलभट्ट कश्मीर के

1. व्य० वि०, 1/3, पृ० 5।
2. भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता।
सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्तिमातृका।। (अ० वृ० मा०, पृ० 73)।

निवासी थे। अन्तिम कारिका के वृत्तिभाग में इन्होंने स्वयं को शारदा देवी के चरण-कमल की धूलि से पवित्र भूमि का निवासी कहा है।[1] शारदा कश्मीर की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती हैं।[2]

कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' में कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के शासन-काल (854 ई०-883 ई०) में कल्लट नामक व्यक्ति के अवतीर्ण होने का उल्लेख है।[3] इसमें कल्लट का अवतार सिद्ध पुरुष के रूप में माना गया है। प्रो० पी० वी० काणे ने कल्लट को शैव सम्प्रदाय की स्पन्दशाखा से सम्बन्धित माना है।[4]

कश्मीर में शैव-दर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। शिवसूत्र ही इस दर्शन का आधार हैं। इन सूत्रों की रचना साक्षात् शिव द्वारा मानी जाती है। शैव-शास्त्र में भी 'स्पन्दशाखा' को विशेष महत्त्व प्राप्त है। कल्लट ने शिवसूत्र पर स्पन्द सूत्र लिखे थे। इसका प्रमाण है स्पन्द-कारिका के अन्त में इसके रचनाकार के रूप मे कल्लट का नाम उल्लिखित होना -

समाप्तं स्पन्दसर्वस्वं प्रवृत्तं भट्टकल्लटात्।
स्वप्रकाशैकचित्तस्वपरिरम्भरसोत्सुकात् ।।

डॉ० के०सी० पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त' में भट्ट कल्लट की चार कृतियों का उल्लेख किया है - स्पन्दसर्वस्व, तत्त्वार्थचिन्तामणि, स्पन्दसूत्र तथा मधुवाहिनी।[5]

कश्मीर के यही प्रसिद्ध विद्वान् भट्टकल्लट मुकुलभट्ट के पिता थे। मुकुलभट्ट के द्वारा अपने पिता का नामोल्लेख भी उनकी प्रसिद्धि का ही सूचक है। कश्मीर की परम्परा में इतने प्रसिद्ध व्यक्ति का पुत्र होना भी इनके लिए गौरव का ही विषय था। सम्भवत: यही कारण है कि इन्होंने अपने विषय में अधिक कुछ भी लिखने की

---

1. शारदाचरणरज:कणपवित्रितस्थलवास्तव्यश्रीकल्लटात्मजभट्टमुकुलविरचिता -- ।(अ० वृ० मा०, पृ० 73) ।
2. बिल्हण ने कश्मीर को शारदा-देश कहा है -
सहोदरा: कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासा:।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोह:।।
3. अनुग्रहाय लोकानां भट्टश्रीकल्लटादय:
अवन्तिवर्मण: काले सिद्धा भुवमवातरन्।। (रा० त०, 5/66) ।
4. सं० का० इति०, काणे, पृ० 272।
5. 'अभिनवगुप्त', डॉ० के० सी० पाण्डेय, पृ० 157।

आवश्यकता नहीं समझी होगी। अपने परिचय हेतु अपने पिता का नामोल्लेख मात्र कर दिया है।

मुकुलभट्ट के शिष्य थे प्रतीहारेन्दुराज। जिन्होंने उद्भट के 'काव्यालङ्कार-सारसंग्रह' पर 'लघुवृत्ति' टीका लिखी है। इस टीका के प्रारम्भ में ही प्रतीहारेन्दुराज ने स्वयं को मुकुलभट्ट का शिष्य बताया है[1] तथा उसके अन्त में अपने गुरु मुकुलभट्ट की अत्यधिक प्रशंसा भी की है।[2] इससे ज्ञात होता है कि द्विजश्रेष्ठ मुकुलभट्ट मीमांसा, व्याकरण, तर्क तथा साहित्य के पण्डित थे। इन विविध प्रकार के शास्त्रों में इनके पारङ्गत होने का सङ्केत तो 'अभिधावृत्तिमातृका' से भी मिलता है। इसमें दस प्रकार की अभिधा का विस्तार से वर्णन करने के पश्चात् इसे समस्त जागतिक व्यवहार में व्याप्त माना गया है। मुकुलभट्ट अभिधा का प्रसार पद, वाक्य, प्रमाण तथा साहित्य, इन सभी शास्त्रों में मानते हैं।[3] ये सभी शास्त्र धर्म, अर्थ आदि चारों पुरुषार्थों के लिए उपयोगी सभी विद्याओं की प्राप्ति के उपाय हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उपर्युक्त शास्त्रों को जीवन में उपयोगी मानने वाले मुकुलभट्ट को स्वयं भी इन शास्त्रों का अगाध ज्ञान था।

इन शास्त्रों में 'पदशास्त्र' व्याकरण को कहा जाता है क्योंकि उसमें पदों का ज्ञान होता है।[4] 'वाक्य' का तात्पर्य मीमांसा-शास्त्र हैं क्योंकि उसमें वाक्य के समन्वय का निश्चय होता है।[5] प्रमाण के ज्ञान का हेतु होने से तर्क अथवा 'न्याय' को ही 'प्रमाण' कहा जाता है।[6]

---

1. विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतीहारेन्दुराजेन काव्यालङ्कारसंग्रहः।। (काव्या० ल० वृ०, पृ० 248)।
2. मीमांसासारमेघात्पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात्
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधोः शौरिपादाब्जभृङ्गात्।
श्रुत्वा सौजन्यसिन्धोर्द्विजवरमुकुलात् कीर्त्तिवल्ल्यालवालात्
काव्यालङ्कारसारे लघुविवृतिमधात् कौङ्कणः श्रीन्दुराजः।। (काव्या० ल० वृ०, पृ० 432)।
3. दशविधेनानेनाभिधावृत्तेन समग्रस्य वाक्परिस्पन्दस्य व्याप्तत्वादनेन व्याकरणमीमांसातर्क-साहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात् तद्द्वारेण च सर्वासु विद्यासु सकलव्यवहारमूलभूतासु प्रसारणादस्य दशविधस्याभिधावृत्तस्य सकलव्यवहारव्यापित्वमाख्यातम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 73)।
4. पदावगतिहेतुत्वात् पदं व्याकरणम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 72)।
5. वाक्यसमन्वयावसायहेतुत्वाद् वाक्यं मीमांसा। (अ० वृ० मा०, पृ० 72)।
6. प्रमाणप्रतिपत्तिकारित्वात् प्रमाणं तर्कः। (अ० वृ० मा०, पृ० 72)।

मुकुलभट्ट : एक दार्शनिक काव्यशास्त्री

आचार्य मुकुलभट्ट की प्रसिद्धि साहित्य जगत् में एक दार्शनिक काव्यशास्त्री के रूप में है। यद्यपि ये व्याकरण, न्याय तथा साहित्य के भी विद्वान् थे, तथापि मीमांसा-दर्शन के प्रति इनका विशेष झुकाव था। प्रतीहारेन्दुराज ने भी इनकी प्रशंसा में जो पंक्तियाँ लिखी हैं उनमें इनके लिए प्रथम विशेषण ही 'मीमांसासारमेघ' प्रयुक्त हुआ है। मुकुलभट्ट ने शब्दार्थविवेचन को अपने ग्रन्थ का विषय बनाया है। 'वाक्यशास्त्र' होने के कारण मीमांसा-दर्शन में भी शब्द, अर्थ तथा इनके नित्य सम्बन्ध की विस्तृत चर्चा मिलती है। 'अभिधावृत्तिमातृका' के कतिपय उदाहरण पूर्ववर्ती मीमांसा ग्रन्थों से ही लिये गये हैं जैसे – 'गौरनुबन्ध्य:', 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि। इसके अतिरिक्त इन्होंने शबरस्वामी तथा कुमारिलभट्ट का मत भी आदर सहित उद्धृत किया है[1] साथ ही भर्तृमित्र की कारिका भी उद्धृत की है।[2] भर्तृमित्र को प्रो० पी० वी० काणे ने मीमांसा का लेखक बताया है।[3] पं० राधाकृष्णन ने भी भर्तृमित्र को शबरस्वामी के पूर्ववर्ती जैमिनि-सूत्र के भाष्यकार के रूप में स्वीकार किया है। भर्तृमित्र का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है।[4]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मुकुलभट्ट पर दार्शनिक प्रभाव, विशेषकर मीमांसा-दर्शन का, अधिक था। मीमांसा के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम विषयों का ज्ञान इन्हें था किन्तु इसके साथ ही न्याय, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्र के भी ये उच्चकोटि के पण्डित थे। अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों तथा साहित्यशास्त्रियों से भी ये प्रभावित रहे हैं।

अपने पूर्ववर्तियों से प्रभावित होते हुए भी मुकुलभट्ट के अपने स्वतन्त्र विचार भी हैं। इन्होंने अनेक स्थलों पर अपने पूर्ववर्तियों से भिन्न मत भी प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ-मीमांसक गौणी को लक्षणा से पृथक् वृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु इन्होंने इसे लक्षणा से भिन्न नहीं माना है। शब्द का अर्थ केवल जाति को मानने के सिद्धान्त का खण्डन किया है। यह भी मीमांसकों का ही मत है।

---

1. (क) यदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना - 'कथं पुन: - - -।
   (ख) तदुक्तं भट्टकुमारिलेन - निरूढा लक्षणा: - - -।
   (अ० वृ० मा०, पृ० 25)।
2. - - - आचार्यभर्तृमित्रेण प्रदर्शितम्- अभिधेयेन संबन्धात् - - - । (अ० वृ० मा०, पृ० 50)।
3. सं० का० इति०, काणे, पृ० 272 ।
4. भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 323 ।

मुकुलभट्ट का काल

संस्कृत साहित्य के प्राचीन कवियों एवं काव्यशास्त्रियों का समय-निर्धारण विद्वानों के लिए सर्वाधिक विवाद का विषय रहा है क्योंकि अधिकांश कवि तथा काव्यशास्त्री ऐसे हैं जिन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। किन्तु मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ के अन्त में अपने पिता का नाम देकर काल-निर्णय के कार्य को अपेक्षाकृत सरल कर दिया है।

मुकुलभट्ट के पिता भट्टकल्लट थे। 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार कल्लट अवन्तिवर्मा के शासन-काल में अवतीर्ण हुए थे। कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा का शासन-काल सुनिश्चित है। इनका समय 855 ई० से 883 ई० तक माना जाता है। अवन्तिवर्मा की मृत्यु 883 ई० में हुई थी।[1] इस प्रकार भट्टकल्लट का समय 855 ई० से 883 ई० के मध्य ही माना जा सकता है।

अवन्तिवर्मा के शासन-काल में ही ध्वनिकार आनन्दवर्धन भी हुए थे। जैसा कि राजतरङ्गिणी के इस पद्य से स्पष्ट है-

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।।

(5/34)

राजतरङ्गिणी में जहां कल्लट के लिए अवन्तिवर्मा के काल में 'अवतीर्ण' होने का उल्लेख है वहीं आनन्दवर्धन के प्रसिद्ध होने की बात कही गई है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कल्लट ने जिस समय जन्म लिया उस समय तक आनन्दवर्धन कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। इस दृष्टि से आनन्दवर्धन को कल्लट का वृद्धसमकालीन कहा जा सकता है। इस प्रकार मुकुलभट्ट का समय आचार्य आनन्दवर्धन के पश्चात् का सिद्ध होता है।

मुकुलभट्ट का आनन्दवर्धन से परवर्ती होने का सङ्केत 'अभिधावृत्तिमातृका' से भी मिलता है। इसमें कई स्थलों पर 'सहृदयैः' पद आया है। एक स्थल पर तो मुकुलभट्ट स्पष्ट लिखते हैं कि सहृदय ने नवीन स्थापना कहकर जिस ध्वनि का वर्णन किया था, उसका अन्तर्भाव लक्षणा में ही हो जाता है।[2] यहाँ यद्यपि मुकुलभट्ट ने

---

1. प्रा० भा०, डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० 342 ।
2. लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति--- । (अ० वृ० मा०, पृ० 66) ।

आनन्दवर्धन का नाम नहीं लिया है किन्तु यह तो निर्विवाद रूप से माना जाता है कि आनन्दवर्धन ही ध्वनि-सिद्धान्त के संस्थापक आचार्य थे। इस प्रकार मुकुलभट्ट आनन्दवर्धन से तो परवर्ती थे ही, यह सिद्ध है। अत: इनका समय निर्धारित करने से पूर्व अन्य प्रमाणों से भी आनन्दवर्धन का समय ज्ञात करना आवश्यक हो जाता है।

'ध्वन्यालोक' में अनेक स्थलों पर आदरपूर्वक उद्भट का उल्लेख है।[1] उद्भट ने भामह के ग्रन्थ पर टीका लिखी थी जो 'भामह-विवरण' अथवा 'भामह-विवृति' के नाम से प्रसिद्ध है। भामह का समय सप्तम शताब्दी या उसके कुछ बाद का ही माना गया है।[2] उद्भट को कश्मीर की परम्परा में जयापीड का सभापति माना जाता है।[3] जयापीड का समय 779 ई० से 813 ई० तक माना गया है। इस आधार पर उद्भट का समय आठवीं शताब्दी के मध्य से नवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक माना जा सकता है।[4] राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है।[5] राजशेखर का समय 900 ई० अथवा इसके कुछ पूर्व का ही माना गया है।[6] इस प्रकार आनन्दवर्धन का समय 850 ई० से 890 ई० के मध्य निश्चित रूप से माना जा सकता है।

आनन्दवर्धन का समय सुनिश्चित मान लेने के पश्चात् मुकुलभट्ट के काल-निर्धारण में कठिनाई नहीं रह जाती। आनन्दवर्धन को मुकुलभट्ट के पिता भट्टकल्लट का वृद्धसमकालीन मानने पर भी यह कहा जा सकता है कि कल्लट का जन्म 855 ई० से 865 ई० के मध्य हो चुका था। इस आधार पर मुकुलभट्ट का समय 890 ई० से 940 ई० तक माना जा सकता है। इन्होंने 'अभिधावृत्तिमातृका' जैसे गम्भीर विषय वाले ग्रन्थ का प्रणयन अल्पायु में तो किया नहीं होगा अत: इसकी रचना 920 ई० से 940 ई० के मध्य हुई होगी।

---

1. (क) नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन - - -। (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० 165)।
   (ख) अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कार: सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभि:। (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० 223)।
2. सं० का० इति०, काणे, पृ० 127; सं० का० इति०, डे०, पृ० 47।
3. विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतन:
   भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तु: सभापति:। (रा० त०, 4/495)
4. सं० का० इति०, काणे, पृ० 173।
5. 'उचितानुचितविवेको व्युत्पत्ति:' इति यायावरीय:।'प्रतिभाव्युत्पत्त्यो: प्रतिभा श्रेयसी, इत्यानन्द:।. ......' (का० मी०, पृ० 34)।
6. सं० का० इति०, काणे, पृ० 270; सं० का.० इति०, डे०, पृ० 111।

मुकुलभट्ट की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मुकुलभट्ट जिस काल में हुए उस काल तक व्याकरण एवं मीमांसा-शास्त्र अपने विकास की पराकाष्ठा पर थे, न्यायशास्त्र का भी विकास हो चुका था तथा साहित्यशास्त्र विकासमान था। उस समय तक विविध महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन भी हो चुका था।

आचार्य मुकुलभट्ट किस शास्त्र से किस सीमा तक प्रभावित थे यह ज्ञात करने के लिए उनके समय तक व्याकरण, मीमांसा, न्याय तथा काव्यशास्त्र से सम्बन्धित विकास की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है।

व्याकरण

वाक् तत्त्व का प्राचीन काल से ही सूक्ष्म विश्लेषण करने वाले भारतीय मनीषियों के मनन तथा चिन्तन के फलस्वरूप विविध प्रातिशाख्य एवं व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई। व्याकरण का प्राचीन नाम 'शब्दानुशासन' था। जिसका मुख्य उद्देश्य था शब्दों की शुद्धता एवं अशुद्धता का निर्णय करना। व्याकरण में शब्द तथा अर्थ का असाधारण दर्शन प्रतिपादित है। इसकी उपयोगिता बताते हुए आचार्य भर्तृहरि ने लिखा है-

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।।

(वा० प०, 1/13)

संस्कृत भाषा का व्याकरण अत्यन्त प्राचीन काल से ही अस्तित्व में था। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में आपिशलि (6/1/52), काश्यप (पा० सू०, 1/2/25), गार्ग्य (8/3/20), शाकटायन (8/4/50), स्फोटायन (6/1/123), इत्यादि प्राचीन आचार्यों का उल्लेख हुआ है। अत्यन्त प्राचीनकाल में व्याकरण के दो प्रमुख सम्प्रदाय थे- ऐन्द्र एवं शैव । शैव सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने वाले आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी ही सभी व्याकरणों में प्रतिष्ठित तथा श्रेष्ठ मानी जाती है। महामुनि पाणिनि का जन्म लगभग ई०पू० 300 माना जाता है।

पाणिनि से कुछ शताब्दी बाद आचार्य कात्यायन हुए जिन्होंने इनके सूत्रों पर

वार्तिक लिखा। इसके माध्यम से इन्होंने पाणिनि द्वारा विस्मृत अथवा अदृष्ट विषयों पर प्रकाश डाला ।

पाणिनीय सूत्रों एवं वार्तिकों का स्वरूप अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण इनकी व्याख्या की आवश्यकता पड़ी। इस दिशा में महर्षि पतञ्जलि का योगदान व्याकरण-शास्त्र में अनुपम माना जाता है जिन्होंने पाणिनि के व्याकरण पर महाभाष्य की रचना की। इनका समय ई०पू० 150 माना जाता है। अपनी प्रवाहपूर्ण तथा सरल शैली के कारण ही यह महाभाष्य अपूर्व है। इसे विविध दार्शनिक चिन्तनों का बीज भी माना जाता है।[1]

पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि ये तीनों ही आचार्य मुनित्रय के नाम से जाने जाते है। इनमें भी क्रमशः बाद वाले आचार्य को अधिक प्रामाणिक माना गया है।[2]

पतञ्जलि के व्याकरण में जो दार्शनिकता उपलब्ध होती है उसका प्रारम्भ इनसे पूर्व भी हो चुका था। महाभाष्य में पतञ्जलि ने स्वयं ही व्याडि नामक आचार्य का उल्लेख किया है जिन्होंने 'संग्रह' नामक कोई ग्रन्थ लिखा था जिसमें शब्द के स्वरूप का दार्शनिक विवेचन हुआ है।[3] इन्हीं दार्शनिक व्याकरणों की परम्परा में आचार्य भर्तृहरि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। ये चतुर्थ शताब्दी के आचार्य थे। इन्होंने 'वाक्यपदीयम्' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके तीन भाग हैं- ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड तथा पदकाण्ड। भर्तृहरि ने जिस दर्शन को विकसित किया उसे 'शब्दाद्वैत' या 'शब्दब्रह्मवाद' के नाम से जाना जाता है।

मीमांसा-दर्शन

यह संसार त्रिविधदुःखात्मक है। इन दुःखों से निवृत्ति के उपायों का अन्वेषण करना मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। संसार के बन्धनों से मुक्ति पाना परम सुख है। इसे ही दार्शनिक भाषा में मोक्ष के नाम से जाना जाता है। बन्धन तथा मोक्ष ही दार्शनिक चिन्तन धारा का मूल है। मोक्ष के स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति के उपायों के विषय में भिन्न-भिन्न विचार मिलते हैं। कुछ दार्शनिक विचारधाराएँ ऐसी हैं

---

1. कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
   सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।। (वा० प०, 2/477) ।
2. यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्, सि० कौ० में 'न बहुव्रीहौ।' ।(पा० सू०, 1/1/29) पर उल्लिखित।
3. संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्-नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति। (म० भा०, (1), 1.1.1, पृ० 58) ।

जिन्होंने तर्क अथवा अनुमान के आश्रय से परम सत्य तक पहुँचने का मार्ग बताया है तो कुछ दार्शनिक वेद को ही मूल तत्त्व का साधन मानते है । वेदों तथा वैदिक वाक्यों में ही आस्था रखने वाले दर्शनों को आस्तिक दर्शन की संज्ञा दी जाती है। इन आस्तिक दर्शनों में मीमांसा-दर्शन की गणना सर्वप्रथम होती है। इसके पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा इन दो भागों में से द्वितीय को 'वेदान्त' के नाम से जाना जाता है।

भारतीय मान्यता के अनुसार वेद ही समस्त विद्याओं के मूल हैं। वेद अपौरुषेय होने के कारण भ्रम तथा प्रमादादि दोषों से रहित हैं। पूर्वमीमांसा-दर्शन वेद तथा ब्राह्मण भागों पर आधारित है। यह कर्मकाण्डपरक दर्शन है। इस दर्शन का अस्तित्व महर्षि जैमिनि के सूत्रों के रूप में है। जैमिनि के द्वारा धर्म-निरूपण के उद्देश्य से इस दर्शन का सूत्रपात होने के कारण ही इसे 'धर्मदर्शन' के नाम से भी जाना जाता है। जैमिनि का प्रथम सूत्र ही है- 'अथातो धर्मजिज्ञासा'। श्लोकवार्तिक में कहा भी गया है कि धर्म की व्याख्या ही इस दर्शन का प्रयोजन है।[1] जैमिनि-ग्रन्थ के 12 अध्याय हैं जिनमें 12 पदार्थों का विचार हुआ है। इस ग्रन्थ का समय चौथी शताब्दी ई०पू० माना जाता है।[1]

जैमिनि के सूत्रों को ही मीमांसा-शास्त्र का मूल ग्रन्थ मानकर अनेक आचार्यों ने इस पर भाष्य तथा टीकाएँ लिखी हैं। इनमें शबरस्वामी का भाष्य सर्वप्राचीन है। मीमांसा से सम्बन्धित समस्त परवर्ती लेखों का आधार शाबरभाष्य ही है। शबरस्वामी का समय 200 ई० के लगभग का माना गया है।

मीमांसा-दर्शन के तीन प्रमुख आचार्य हुए हैं - कुमारिलभट्ट, प्रभाकरमिश्र तथा मुरारि। इन्होंने तीन प्रकार के मतों की स्थापना कर इस दर्शन के तीन प्रस्थानों की प्रवर्तना की। इनमें कुमारिल का समय 620 ई० से 700 ई० के मध्य माना गया है तथा प्रभाकर का 650 ई० से 720 ई०के मध्य।[2] तृतीय प्रस्थान के प्रवर्तक मुरारि का कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।[3] प्रभाकरमिश्र कुमारिलभट्ट के शिष्य कहे जाते हैं।

कुमारिलभट्ट ने महर्षि जैमिनि के मान्य प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण के

---

1. धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्। (श्लो० वा०, पृ० 5) ।
2. भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 322 ।
3. मी० द० विवे० इति०, मुसलगाँवकर, पृ० 121 ।
4. भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 325 ।

साथ-साथ उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाण को भी माना है।[1] प्रभाकर ने इनमें अनुपलब्धि प्रमाण को नहीं माना है।[2] कुमारिल लौकिक तथा वैदिक उभयविध वाक्यों को शब्द प्रमाण मानते हैं। इनके अनुसार पौरुषेय शब्द ही लोक-व्यवहार में आप्तवाक्य हैं। किन्तु प्रभाकर के अनुसार केवल वेदात्मक अपौरुषेय वाक्य ही शब्द प्रमाण के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

वाक्य से वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया में भी कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर में मतभेद पाया जाता है। कुमारिल भट्ट के मतानुसार अभिधा के द्वारा पहले पद से पदार्थ का बोध होता है तदनन्तर आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधिवशात् उन पदार्थों का परस्पर अन्वय होता है जिससे वाक्यार्थ बोध होता है। इनका यह मत 'अभिहितान्वयवाद' के नाम से जाना जाता है।[3] इस विषय में प्रभाकर और उनके अनुयायियों का मत है कि वाक्य का अर्थ ही वाक्यार्थ है। अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त पद परस्पर अन्वित होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। इनका विचार है कि अलग-अलग अर्थ जो परस्पर असम्बद्ध होते हैं, प्रकट नहीं हो सकते। प्रभाकर का यह मत 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है।[4]

लक्षणा के क्षेत्र में दोनों ही आचार्यों ने गौणी तथा लक्षणा को भिन्न-भिन्न वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकरमिश्र के नाम पर मीमांसा-दर्शन में जो दो प्रकार की चिन्तन-धाराएँ विकसित हुईं उन्हें भाट्ट सम्प्रदाय तथा प्रभाकर-सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है।

न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन भी षड् आस्तिक दर्शनों में एक है जो वेदों को प्रमाण मानते है। इस दर्शन में प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति बतायी

---

1. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
 वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता।। (श्लो० वा०, पृ० 335) ।
2. प्रभाकर के इस मत की आलोचना खण्डनखण्डखाद्य, पृ० 21, में मिलती है। (भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 339) ।
3. अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थितानामर्थानामन्वय इति वादिनां भाट्टमीमांसकानामित्यर्थ:। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 26)।
4. पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं कथयन्तीति यो वदति सोऽन्विताभिधानवादी। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 27)।

गई है।[1] इस दर्शन में चार प्रमाण माने गये हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द।[2]

तर्क की ही प्रधानता होने के कारण न्याय-दर्शन का प्राचीन नाम 'आन्वीक्षिकी' है। आध्यात्मिक समस्याओं की तार्किक अथवा आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचना करना ही इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता रही है। प्राचीन काल में हिन्दुओं के पाँच पाठ्य विषयों में काव्य (साहित्य), नाटक, अलङ्कार तथा व्याकरण के साथ तर्क विद्या को प्राप्त स्थान उस काल में इसकी प्रतिष्ठा का ही सूचक है।[3]

महर्षि गौतम इस दर्शन के संस्थापक आचार्य हैं जिन्होंने 'न्यायसूत्र' की रचना की। यह न्याय-शास्त्र की प्रथम पाठ्य पुस्तक है। इसमें पाँच अध्याय हैं। यह ई०पू० तृतीय शताब्दी की रचना है।[4]

गौतम के न्यायसूत्रों पर विविध भाष्यों की रचना हुई जिनमें सर्वप्राचीन तथा उपलब्ध भाष्य वात्स्यायन का 'न्यायभाष्य' है। वात्स्यायन लगभग 400 ई० के आसपास हुए थे। इस भाष्य पर उद्योतकर ने टीका लिखी जो 'न्यायवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध है। यह लगभग छठी शताब्दी ई० की रचना है। न्याय-शास्त्र के अन्य ग्रन्थों में धर्मकीर्ति रचित 'न्यायबिन्दु' भी प्रमुख है। इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र ने नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में 'न्यायवार्तिकतात्पर्य' नामक टीका लिखी ।

न्यायशास्त्रीय अन्य ग्रन्थों में जयन्तभट्ट कृत 'न्यायमञ्जरी' का विशेष महत्त्व है। जयन्तभट्ट दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे। इसके अतिरिक्त गङ्गेशउपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि', विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्य कृत 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली', अन्नमभट्टकृत 'तर्क-संग्रह' आदि अन्य प्रमुख न्यायशास्त्रीय ग्रन्थ हैं।

साहित्यशास्त्र

साहित्यशास्त्रीय आचार्यों में भरतमुनि सर्वप्राचीन हैं। साहित्य जगत् में इनका स्मरण नाट्य-शास्त्र के प्रवर्तक के रूप में किया जाता है। इनका एकमात्र ग्रन्थ

---

1. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्ताऽवयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः। (न्या० भा०, पृ० 4)।
2. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। (न्या० भा०, पृ० 17)।
3. भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 21।
4. भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 25।

'नाट्यशास्त्र' है जो समस्त कलाओं का विश्वकोश है। भरतमुनि का समय अत्यधिक विवादास्पद है। इनका काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी माना जा सकता है।

आचार्य भरत के पश्चात् साहित्यशास्त्र के आचार्यों में आचार्य भामह की गणना होती है। इनका समय भी अत्यधिक विवाद का विषय रहा है। इन्हें सातवीं शताब्दी के लगभग का माना गया है। भामह अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहलाते हैं। इनका एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' है। इसमें इन्होंने काव्य के प्रयोजन, स्वरूप, उसके भेद, गुण, दोष तथा अलङ्कारों का वर्णन किया है। अपनी काव्य की परिभाषा – '**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**' में सर्वप्रथम भामह ने ही काव्य में शब्द एवं अर्थ का महत्त्व तथा उसका सहभाव स्वीकारा है। इन्होंने वक्रोक्ति को अलङ्कारों का बीज कहा है।[1]

भामह के व्यक्तिगत जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनके धर्म को लेकर प्रचुर विवाद मिलता है। 'काव्यालङ्कार' की अन्तिम कारिका में इन्होंने स्वयं को 'रक्रिलगोमिन्' का पुत्र बताया है[2] तथा प्रथम कारिका में 'सार्वसर्वज्ञ' को नमस्कार किया है।[3] इसके आधार पर कुछ विद्वानों ने इन्हें बौद्ध सिद्ध करने का प्रयास किया है।

भामह के पश्चात् हुए प्रमुख काव्यशास्त्रीय आचार्यों में दण्डी का नाम लिया जाता है। इनका समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध है। राजशेखर के '**त्रयो दण्डीप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः**' के अनुसार दण्डी के नाम से तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं – काव्यादर्श, दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरीकथा। इनका 'काव्यादर्श' काव्यशास्त्रीय विषयों पर लिखा गया ग्रन्थ है जिसमें काव्य का लक्षण, भेद तथा अलङ्कारादि का वर्णन है। शब्द तथा अर्थ की महत्ता को समान रूप से स्वीकार करते हुए इन्होंने भी मनोरम अर्थ से युक्त पदावली को काव्य कहा है।[4]

दण्डी के पश्चात् आचार्य उद्भट का नाम प्रमुख है। इनका समय आठवीं शताब्दी है। राजतरङ्गिणी के अनुसार ये जयापीड (779 ई० – 813 ई०) के सभापति थे। उद्भट का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' है। इसका नाम

---

1. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।। (भा० काव्या०, 2/85, पृ० 62)।
2. सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्।। (भा० काव्या०, 6/64, पृ० 173)।
3. प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः। (भा० काव्या० 1/1, पृ० 1)।
4. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।। (काव्यादर्श, 1/10, पृ० 9)।

'काव्यालङ्कारसंग्रह' तथा 'अलङ्कारसारसंग्रह' भी मिलता है।[1] इसके अतिरिक्त इनके दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है- 'भामह-विवरण' तथा 'कुमारसम्भव'।[2]

'भामह-विवरण' या 'भामह-विवृत्ति' 'भामह' के ग्रन्थ पर इनकी टीका है। यह अनुपलब्ध है। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में भामह के '**शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः**' की टीका के रूप में उद्भट की पंक्ति उद्धृत की है- '**शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्योगुणवृत्तिश्च**' यह पंक्ति इनके 'भामह-विवरण' में रही होगी। इसमें अभिधा के दो प्रकारों का उल्लेख है मुख्य तथा गुणवृत्ति।'

पर्यायोक्त अलङ्कार के प्रसंग में उद्भट ने वाच्यवाचक वृत्ति से भिन्न अवगमात्मक व्यापार का उल्लेख किया है।[3] यह अवगमात्मना कथन ही परवर्ती आलङ्कारिकों को मान्य व्यञ्जना है। इस प्रकार उद्भट ने व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता को तो स्वीकृति दी किन्तु न तो उसे इतना महत्त्व दिया जितना ध्वनिवादियों ने और न ही इसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना-व्यापार को माना।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों में उद्भट के पश्चात् आचार्य वामन की गणना होती है। साहित्य जगत् में ये रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहे जाते हैं। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा कहा है।[4] इस प्रकार काव्य में 'आत्मतत्त्व' का विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य वामन ही हैं। इनके अनुसार विशिष्ट पदरचना ही रीति कहलाती है।[5] 'राजतरङ्गिणी' में वामन को जयापीड का मन्त्री बताया गया है।[6] इस प्रकार वामन उद्भट के समकालीन सिद्ध होते है।। 'राजतरङ्गिणी' के ही अनुसार उद्भट जयापीड के सभापति थे।

आचार्य वामन का एकमात्र प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' है। यह ग्रन्थ सूत्र

---

1 सं० का० इति०, डे, पृ० 68; सं० का० इति०, काणे, पृ० 167।

2 (क) विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेश शब्द एवं व्याख्यातो यथेहास्माभिर्निरूपितः। (काव्या० ल० वृ०, पृ० 275)।

(ख) अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसंभवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेनोपन्यस्तः। (काव्या० ल० वृ०, पृ० 279)।

3 पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। (काव्या० सा० सं०, पृ० 35)।

4 रीतिरात्मा काव्यस्य। (काव्या० सू०, 1/2/6, पृ० 14)।

5. विशिष्टा पदरचना रीतिः। (काव्या० सू०, 1/2/7, पृ० 15)।

6 मनोरथः शङ्खदन्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः।। (रा० त०, 4/497, पृ० 110)।

शैली में लिखा गया है। इसमें काव्य का प्रयोजन, काव्य की आत्मा, दोष, गुण तथा अलङ्कारों का वर्णन है। आचार्य वामन ने ही सर्वप्रथम गुण तथा अलङ्कारों का भेद-विवेचन किया था। काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म गुण कहलाते है। तथा वामन के अनुसार उसकी शोभा के वृद्धिकारक धर्म को अलङ्कार कहा जाता है।[1] आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में वामन के गुण एवं अलङ्कार की परिभाषा का खण्डन किया है।

वामन ने सादृश्यमूलक लक्षणा के स्थल में वक्रोक्ति अलङ्कार माना है। इसके साथ ही इन्होंने लक्षणा की प्रवृत्ति के अनेक निमित्तों की चर्चा की है।[2]

'काव्यालङ्कारसूत्र' के टीकाकार सहदेव के अनुसार वामन का यह ग्रन्थ लुप्त हो गया था। मुकुलभट्ट ने कहीं से इसकी एक प्रति को प्राप्त कर इसका पुनः प्रसार किया।[3]

आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती प्रमुख काव्यशास्त्रियों में आचार्य रुद्रट अलङ्कार-सम्प्रदाय के अन्तिम आचार्य थे। इनका समय 825 ई० से 850 ई० मध्य माना जा सकता है। प्रो० पी० वी० काणे ने इन्हें ध्वनिकार का समकालीन अथवा निकट पूर्ववर्ती कहा है।[4] इन्होंने अलङ्कारशास्त्र पर 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ लिखा । अलङ्कार-सम्प्रदाय के पोषक होते हुए भी इन्होंने रस की महत्ता को भी स्वीकार किया –

तस्मात्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात्।।[5]

रुद्रट ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य में रस की चर्चा की। आचार्य भरत की रसविषयक विवेचना नाट्य के क्षेत्र में थी ।

---

1. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।। (काव्या० सू०, 3/1/1,2, पृ० 87, 88) ।
2. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। (काव्या० सू०, 4/3/8, पृ० 172) ।
3. वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोभून्मुकुलाभिधः
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्।
काव्यालङ्कारशास्त्रं यत्तेनैतद्वामनोदितम्
असूया तत्र कर्त्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्।। (सं० का० इति०, काणे, पृ० 181-182)।
4. सं० का० इति०, काणे, पृ० 196 ।
5. रु० काव्या०, 12/2, पृ० 372 ।

आचार्य रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष को अलङ्कार-विभाजन का आधार बनाया है।[1] अलङ्कारों का यह वैज्ञानिक विभाजन साहित्यशास्त्र को रुद्रट की देन माना जाता है। रस के प्रसंङ्ग में इन्होंने 'प्रेयस्' नामक दशम रस को मान्यता दी है। इनके 'भाव' नामक अलङ्कार-प्रतिपादन में व्यञ्जना-सिद्धान्त का बीज निहित है।[2] इन्होंने दो प्रकार के भाव अलङ्कार के उदाहरण दिये हैं -

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ।।[3]

तथा-

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ।।[4]

इनमें प्रथम उदाहरण को आचार्य मम्मट ने 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है[5] तथा द्वितीय को अभिनवगुप्त ने लोचन में स्थान दिया है।[6]

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसम्प्रदाय की प्रवर्तना की। इनका समय नवम शताब्दी है। आनन्दवर्धन की पाँच रचनाएँ मानी जाती हैं- 'विषमबाणलीला', 'अर्जुनचरित', 'देवीशतक', 'तत्त्वालोक' तथा 'ध्वन्यालोक'। इनमें सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक है। इस ग्रन्थ में ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन, इसके भेद-प्रभेदों का प्रतिपादन तथा ध्वनि-विरोधी मतों का खण्डन किया गया है। इसके अतिरिक्त ध्वनि का महत्त्व दर्शाते हुए ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रयोग से कवि तथा काव्य की चमत्कारोत्पादकता का भी वर्णन है।

ध्वन्यालोक में 'वृत्ति', 'कारिका' तथा 'उदाहरण' ये तीन भाग हैं। इनमें कारिका तथा वृत्ति के रचनाकार के विषय में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है।

---

1. अर्थस्यालङ्कारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
   एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः।। (रु० काव्या०, 7/9, पृ० 190)।
2. यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
   गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ।। (रु० काव्या०, 7/38, पृ० 206) ।
3. रु० काव्या०, पृ० 207 ।
4. रु० काव्या०, पृ० 208 ।
5. का० प्र०, पृ० 28 ।
6. ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 236 ।

कतिपय विद्वान् वृत्तिकार तथा कारिकाकार को भिन्न-भिन्न मानते हैं। इस मत को मानने वालों के अनुसार आनन्दवर्धन ने वृत्तिभाग की रचना की तथा कारिकाओं का निर्माता 'सहृदय' नामक विद्वान् था।

आनन्दवर्धन से पूर्व काव्य में गुण एवं अलङ्कार का ही प्राधान्य था जो कि वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित थे। इस वाच्य-वाचक भाव में काव्य का वास्तविक चमत्कार न होने के कारण ही आनन्दवर्धन ने ध्वनि की महत्ता का प्रतिपादन किया तथा उसे ही काव्य की आत्मा कहा। व्यङ्ग्य-प्रधान काव्य ही ध्वनि कहलाता है। इसकी परिभाषा 'ध्वन्यालोक' में इस प्रकार दी गई है -

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

(ध्व०, 1/13, पृ० 171) ।

इतिहासकारों ने राजशेखर की जो तिथि निर्धारित की है उसके अनुसार ये मुकुलभट्ट के निकट पूर्ववर्ती या समकालीन ही सिद्ध होते हैं।[1]

राजशेखर यायावर वंश में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने अनेकशः अपना मत 'यायावरीय' नाम से प्रकट किया है। इन्होंने कितने ग्रन्थों की रचना की थी यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हैं । इनकी कृति 'बालरामायण' के अनुसार इन्होंने छः ग्रन्थों की रचना की थी। इनके 'कर्पूरमञ्जरी' नामक नाटक का उल्लेख मिलता है जिसकी रचना इन्होंने अपनी पत्नी की इच्छा से की थी। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी एक विदुषी स्त्री थी। 'काव्यमीमांसा' में इनके विचारों का उल्लेख है।

'काव्यमीमांसा' अपने में अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें 18 अध्याय हैं जिनमें शिव द्वारा ब्रह्मा को काव्यमीमांसा का ज्ञान, काव्यपुरुष की उत्पत्ति के साथ-साथ कवि के लिए आवश्यक गुणों का भी वर्णन है। इसी प्रसङ्ग में प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त वैदर्भी, गौणी, पाञ्चाली रीतियों, भारत के विभिन्न प्रान्तों के व्यक्तियों की भाषाओं, ऋतु, वायु, पुष्प आदि की भी चर्चा की गई है।

उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन आदि के साथ ही अन्य अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख होने से यह ग्रन्थ काल-निर्धारण की दृष्टि से भी उपयोगी माना जाता है।

---

1. सं० का० इति०, काणे, 270; सं० का० इति०, डे, पृ० 111 ।

पूर्ववर्ती विचारधाराओं एवं आचार्यों का मुकुलभट्ट पर प्रभाव

मुकुलभट्ट के ग्रन्थ में व्याकरण, मीमांसा तथा न्यायशास्त्र के साथ ही पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रीय विचारों का भी स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इन्होंने तत्तत् शास्त्रों से सम्बन्धित विविध आचार्यों के नाम भी अपने ग्रन्थ में उल्लिखित किये हैं। 'शब्दव्यापार' को ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय बनाने के कारण इनका इन विविध शास्त्रों से प्रभावित होना स्वाभाविक भी है क्योंकि शब्द, अर्थ और उसके सम्बन्धों की चर्चा व्याकरण, मीमांसा, न्याय के लिए तो आवश्यक है ही साथ ही शब्दार्थ रूप शरीर वाले काव्य का शास्त्रीय विवेचन होने के कारण साहित्य-शास्त्र के लिए भी इसकी उपयोगिता कम नहीं है।

शब्द से अर्थ की उपस्थिति के प्रसङ्ग में शब्द से सर्वप्रथम जाति (सामान्य) रूप अर्थ की प्रतीति होती है अथवा व्यक्ति (विशिष्ट) की, इस पर विभिन्न मत मिलते हैं। मुकुलभट्ट ने इसके लिए उपाधिचतुष्टयवाद को माना है। इनके अनुसार अपने-अपने अर्थों का ज्ञान कराने के लिए प्रवृत्त शब्दों के विषयों में उपाधि रूप धर्मों के कारण भिन्नता होती है। उपाधि के आधार पर ही शब्दों का प्रयोग होता है।[1] यह उपाधि चार प्रकार की होती है इसी कारण मुख्य अर्थ के चार भेद होते हैं - जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा। मुकुलभट्ट की इस मान्यता का आधार महाभाष्यकार के शब्दचतुष्टयवाद का सिद्धान्त है। इसके लिए इन्होंने आदरसहित महाभाष्यकार का उल्लेख भी किया है।[2]

मुकुलभट्ट के पूर्व काव्यशास्त्रियों में भी शब्दों के इन प्रकारों को मान्यता मिली थी। आचार्य भामह ने भी द्रव्य, जाति, गुण एवं क्रिया रूप चार प्रकार के शब्दों को माना है[3] तथा आचार्य दण्डी ने स्वभावोक्ति अलङ्कार के निरूपण में जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्य नामक चार पदार्थों का वर्णन किया है।[4]

वैयाकरणों में आचार्य भर्तृहरि ने भी मुकुलभट्ट को प्रभावित किया है। मुकुलभट्ट ने **'यदुक्तं वाक्यपदीये गौरिति न हि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः**

---

1. सर्वेषां शब्दानां स्वार्थाभिधानाय प्रवर्त्तमानानामुपाध्युपरञ्जितविषयविवेकत्वादुपाधिनिबन्धना प्रवृत्तिः। (अ० वृ० मा०, पृ० 5)।
2. चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिर्भगवता महाभाष्यकारेणोपवर्णिता 'जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चे'ति। (अ० वृ० मा०, पृ० 4-5)।
3. द्रव्यक्रियाजातिगुणभेदात्ते च चतुर्विधाः।
यदृच्छाशब्दमित्यन्ये डित्थादिं प्रतिजानते।। (भा० काव्या०, 6/21, पृ० 153)।
4. जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।। (काव्यादर्श, 2/13, पृ० 79)।

गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः'[1] पङ्क्ति को 'वाक्यपदीय' का कहते हुए उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त अभिधा के दस भेदों का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् मुकुलभट्ट अन्ततः अद्वैतवादी हो गये हैं। पारमार्थिक स्तर पर इन्होंने शब्द की ही एकमात्र सत्ता मानी है। अभिधा के दसों भेद इस 'शब्द-तत्त्व' के ही विवर्त हैं।[2] यहाँ इन पर भर्तृहरि के 'शब्दाद्वैतवाद' का प्रभाव है। भर्तृहरि ने भी शब्द को ब्रह्म का स्वरूप मानते हुए अर्थ को उसका विवर्त कहा है।[3]

मुकुलभट्ट ने अनेक स्थलों पर मीमांसा सम्मत मतों को भी अपनाया है। उपादान लक्षणा के जो उदाहरण इन्होंने दिये हैं– '**गौरनुबन्ध्यः**' तथा '**पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते**' ये दोनों ही मीमांसा-ग्रन्थों से लिये गये हैं।[4] इन्होंने शब्द का प्रथम अर्थ जाति को मानते हुए मीमांसकों का सुप्रसिद्ध न्याय प्रस्तुत किया है – '**विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे**' तथा व्यक्तिरूप अर्थ का ग्रहण उपादान लक्षणा से माना है। मीमांसकों में मण्डनमिश्र भी व्यक्तिरूप अर्थ का ग्रहण उपादान लक्षणा से मानते हैं।[5] इसके अतिरिक्त मुकुलभट्ट ने शबरस्वामी तथा कुमारिलभट्ट जैसे मूर्धन्य मीमांसकों के विचार भी अपने समर्थन में सादर उल्लिखित किया है।[6] भर्तृमित्र, जिसे मीमांसा का लेखक माना जाता है, के नाम से एक कारिका अभिधावृत्तिमातृका में उद्धृत है–

---

1. यद्यपि मुकुलभट्ट के अनुसार यह पंक्ति 'वाक्यपदीय' की है किन्तु भर्तृहरिकृत 'वाक्यपदीय' में यह वाक्य नहीं मिलता है। सम्पूर्ण 'वाक्यपदीय' पद्यमय ग्रन्थ है जबकि मुकुलभट्ट द्वारा उद्धृत वाक्य गद्य का अंश प्रतीत होता है।
2. विवर्त्तमानं वाक्यतत्त्वं दशधैवं विलोक्यते।
   संहतक्रमभेदे तु तस्मिंस्तेषां कुतो गतिः।। (अ० वृ० मा०, पृ० 69)।
3. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
   विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। (वा० प०, 1/1, पृ० 1)।
4. (क) पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रुतौ।
   रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते।। (श्लो० वा०, पृ० 329)।
   (ख) आचार्य मम्मट ने 'गौरनुबन्ध्यः' उदाहरण को उपादान लक्षणा का उदाहरण मानने का जो खण्डन किया है उसे 'काव्यप्रकाश' के 'विस्तारिका', 'विवरण' एवं 'बालबोधिनी' आदि टीकाकारों ने मण्डनमिश्र का खण्डन माना है। इससे प्रतीत होता है कि मण्डनमिश्र ने भी अपने ग्रन्थ में इसे उपादान लक्षणा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।
5. ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, भोलाशङ्करव्यास, पृ० 82, 83।
6. (क) यदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना– 'कथं पुनः परशब्दः परत्र वर्त्तते, स्वार्थाभिधानेनेति ब्रूमः।' (अ० वृ० मा०, पृ० 25)।

यच्च तत् मुख्यार्थासन्नत्वम्, तत् पञ्चप्रकारतयाचार्यभर्तृमित्रेण प्रदर्शितम् -

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता।।

भर्तृमित्र का कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण यह कारिका किस ग्रन्थ की है ज्ञात नहीं है।

मुकुलभट्ट ने प्रसङ्गतः लक्षित-लक्षणा का भी उल्लेख किया है, किन्तु इसे लक्षणा से भिन्न नहीं माना है। आचार्य कुमारिलभट्ट की 'टुप्टीका' में भी लक्षित-लक्षणा का उल्लेख है।[1]

'अभिधावृत्तिमातृका' में उत्प्रेक्षा का लक्षण दिया गया है -

तदुक्तमुत्प्रेक्षा लक्षणे -

साम्यरूपविवक्षायां वाच्ये वाच्यात्मभिः पदैः।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता।।

(अ० वृ० मा०, पृ० 34)

कतिपय पाठभेद के साथ उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में भी उत्प्रेक्षा का यही लक्षण दिया गया है-

'साम्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षाऽतिशयान्विता ।।

(काव्या० सा० सं, पृ० 30)।

इस प्रकार आचार्य मुकुलभट्ट ने यद्यपि उद्भट का नाम नहीं लिया है तथापि उनके ग्रन्थ से उद्धरणस्वरूप उत्प्रेक्षा-लक्षण दिया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि डॉ०

(ख) तदुक्तं भट्टकुमारिलेन-
निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।। (अ० वृ० मा०, पृ० 25) ।

1. (क) तत्र लक्षितलक्षणायां गृह्यमाणायां फलकल्पना न भवति ।(मी० सू०, 9/1/2 के शा० भा० पर टुप्टीका, मी० द० (6), पृ० 67)।
(ख) तदा लक्षितलक्षणया धर्माणां सम्बन्धः।
तस्माल्लक्षणां श्रुतिर्ब्रवीति लक्षितलक्षणापेक्षया।(मी० सू०, 9/1/3 के शा० भा० पर टुप्टीका, मी० द० (6), पृ० 69)।

रेवाप्रसाद द्विवेदी ने मुकुलभट्ट द्वारा प्रस्तुत उत्प्रेक्षा-लक्षण के विषय में लिखा है कि यह अलङ्कार-शास्त्र के किसी ऐसे ग्रन्थ का है जो सम्प्रति लुप्त हो गया है।[1] डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी लिखते हैं कि मुकुलभट्ट ने किसी अलङ्कार-ग्रन्थ की रचना की होगी जिसमें यह लक्षण रहा होगा क्योंकि यह लक्षण भामह, दण्डी, उद्भट आदि के ग्रन्थों में नहीं मिलता। इसके साथ ही यदि यह किसी प्राचीन आचार्य के ग्रन्थ से सम्बन्धित होता तो उसका नाम मुकुलभट्ट अवश्य उद्धृत करते जैसा कि उन्होंने शबरस्वामी, कुमारिलभट्ट तथा सहृदय आदि का किया है।[2] अस्तु मुकुलभट्ट द्वारा उद्धृत लक्षण एवं उद्भट के उत्प्रेक्षा लक्षण को देखते हुए उपर्युक्त विद्वानों के मत निराधार ही हैं। इसके अतिरिक्त अभिधा नामक एक ही शब्द व्यापार को मानते हुए भी इन्होंने इसके मुख्य तथा लाक्षणिक जो दो भेद किये हैं[3] उस पर भी उद्भट की ही इस मान्यता का प्रभाव है -

'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।

मुकुलभट्ट को ध्वनि-विरोधी आचार्य कहा जाता है। इनके समय तक यद्यपि आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था, किन्तु सर्वथा नवीन होने के कारण यह ध्वनि-सिद्धान्त तत्कालीन विद्वत्समाज में कटु आलोचना का विषय बना हुआ था। इसे न तो कोई सहजता से अपना सका था और न तब तक इसका कोई समर्थक ही हुआ था। यही कारण है कि मुकुलभट्ट पर ध्वनि-विरोधियों का ही प्रभाव अधिक था, फलत: इन्होंने ध्वनि को सहृदय की नूतन स्थापना कहते हुए उसे लक्षणा में ही अन्तर्भावित मान लिया। किन्तु ध्वनि-विरोधी होते हुए भी 'अभिधावृत्तिमातृका' 'ध्वन्यालोक' के प्रभाव से मुक्त नहीं है। 'अभिधावृत्तिमातृका' में अनेक स्थलों पर 'सहृदय' नामक विद्वान् के मतों का उल्लेख है। 'सहृदय' नाम 'काव्यशास्त्रीय' इतिहासकारों के लिए विवाद का विषय बना हुआ है। कतिपय इसे 'आनन्दवर्धन' का ही नाम मानते हैं तो कुछ विद्वानों ने 'सहृदय' को ध्वन्यालोक का 'कारिकाकार' माना है। यहाँ 'सहृदय' को आनन्दवर्धन से भिन्न मानें अथवा अभिन्न यह तो कहा ही जा सकता है कि इनका सम्बन्ध ध्वन्यालोक से निर्विवाद रूप से है। अत: यह स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट पर 'ध्वन्यालोक' का प्रभाव था।

---

1. अ० वृ० मा०, पृ० 37 ।
2. वृ० समु०, पृ० 31, 32 ।
3. शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति मुख्यलाक्षणिकयोरभिधाव्यापारयोरत्र विवेक: क्रियते। (अ० वृ० मा.०, पृ० 1) ।

सादृश्यादि पञ्चविध सम्बन्धों से होने वाली लक्षणा के प्रसङ्ग में मुकुलभट्ट ने वाच्य अर्थ की स्थिति का विस्तृत वर्णन किया है। इनमें कहीं वाच्य की विवक्षा रहती है तो कहीं अविवक्षा तथा कहीं उसका अत्यन्त तिरस्कार रहता है। अपनी इस विवेचना का आधार मुकुलभट्ट सहृदय की मान्यता को बताते हैं।[1] यद्यपि मुकुलभट्ट के वाच्यार्थ के विवक्षा-अविक्षा सम्बन्धी विचार पूर्णतः 'ध्वन्यालोक' के विचारों से समानता नहीं रखते, कहीं-कहीं इनमें परस्पर विरोध भी है किन्तु यह विवेचना 'अभिधावृत्तिमातृका' में ध्वन्यालोक के आधार पर ही की गई है, इसमें सन्देह नहीं है।

व्यञ्जना-विरोधी आचार्य होते हुए भी मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से 'व्यङ्ग्य' शब्द का प्रयोग किया है। 'अभिधावृत्तिमातृका' में एक उदाहरण आया है-

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः सीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भवे'ति।।

(अ० वृ० मा०, पृ० 27)।

इसमें मुकुलभट्ट ने राज्यभ्रंश, वनवासादि असाधारण दुःखप्रद धर्मों को व्यङ्ग्यधर्मान्तर कहा है।[2] यहाँ इन पर ध्वन्यालोक का ही प्रभाव है। आनन्दवर्धन ने भी इस उदाहरण की व्याख्या में 'व्यङ्ग्यधर्मान्तर' पद का प्रयोग किया था।[3]

मुकुलभट्ट को अलङ्कारशास्त्र का भी ज्ञान था। यह आलङ्कारिकों से भी प्रभावित रहे हैं, इसका भी प्रमाण है। वामन के ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' के टीकाकार सहदेव के कथनानुसार मुकुलभट्ट ने इस ग्रन्थ का पुनः प्रसार किया था। मुकुलभट्ट के निकटस्थ पूर्ववर्तियों में अलङ्कार का ही प्राधान्य था। आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त तो नवीन ही था। यद्यपि मुकुलभट्ट ने अलङ्कारशास्त्र से सम्बन्धित किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी तथापि इनका अलङ्कार-शास्त्र के प्रति स्वाभाविक झुकाव तो था ही।

---

1. इदानीं पञ्चविधसम्बन्धनिबन्धनायामासत्तौ पूर्वोपवर्णितायां क्वचिद् वाच्यस्याततिरस्कारः, क्वचिद् विवक्षितत्वं क्वचिच्चाविवक्षितत्वमित्येवंविधं त्रयं यत् सहृदयैरुपदर्शितं तस्य विषयविभागमुपदर्शयितुमाह - -- ।(अ० वृ० मा० पृ०, 58)।
2. अत्र हि रामशब्दवाच्यं दाशरथिरूपं व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतत्वात् स्वपरत्वेनानुपात्तम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 63) ।
3. अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम्।(ध्व०, द्वि० उ०, पृ० 10)

न्याय-वैशेषिक दर्शन में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इत्यादि 24 गुण बताए गये हैं इनमें 'परिमाण' भी एक गुण है। परिमाण नामक गुण के चार प्रकारों में अणु जिसमें रहता है वही 'परमाणुत्व' परिमाण है। जिस प्रकार न्याय-दर्शन में 'परमाणु' को 'गुण' कहा गया है उसी प्रकार मुकुलभट्ट ने भी नैयायिकों का अनुसरण करते हुए उसे जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा रूप उपाधियों में गुण के अन्तर्गत माना है। इनके अनुसार गुण जिस प्रकार वस्तुओं में व्यक्तिगत विशिष्टता उत्पन्न कर देते हैं उसी प्रकार 'परमाणुत्वादि' भी गुण हैं जो किसी परिमेय वस्तु में रहते हैं और जिस वस्तु में रहते हैं उसे अन्य परिमाण वाली वस्तु से पृथक् करते हैं।

अन्ततः मुकुलभट्ट के विषय में यह कहा जा सकता है कि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों को अपनाते हुए अपने स्वतन्त्र मत की स्थापना भी की है किन्तु इतना होते हुए भी अधिकांश रूप से इन्होंने परम्परा का ही अनुसरण किया है। शब्दों की चार उपाधियाँ, नैयायिकों का 'परमाणुवाद' इसके उदाहरण हैं इसके साथ ही जाति से व्यक्ति के आक्षेप में भी ये मीमांसा-परम्परा के ही अधिक निकट हैं।

आचार्य मम्मट का जीवन-परिचय

काव्यशास्त्रीय जगत् में आचार्य मम्मट की ख्याति आनन्दवर्धन द्वारा स्थापित ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक के रूप में है। मम्मट के मतों तथा तर्कों में आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त पूर्ण प्रतिष्ठित हुआ।

मम्मट ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी अपने जीवन और समय के विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है, फलस्वरूप अधिकांश आचार्यों की ही भाँति इनका भी जीवन-परिचय तथा काल अनुमान पर ही आधारित है। मम्मट को कश्मीरी कहा जाता है। इसके कई कारण हैं। इनके नाम के साथ 'राजानक' उपाधि मिलती है।[1] 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार यह उपाधि कश्मीरी ब्राह्मणों को दी जाती थी।[2] इसके अतिरिक्त जैयट, कैयट, वज्रट, उवट, उद्भट आदि कश्मीरी विद्वानों के नाम के साथ सादृश्य के कारण भी (टकारान्त होने से) इन्हें कश्मीरी कहा जाता है।[3] 'काव्यप्रकाश'

1. काव्यप्रकाश 'सङ्केत' टीका में प्रथम तथा दशम उल्लास के अन्त में उपसंहारात्मक वाक्य में मम्मट के लिए 'राजानक' उपाधि का प्रयोग हुआ है -इति श्रीमद्राजानका-मल्लमम्मटरुचकविरचिते- - - -।' (सं० का० इति, काणे, पृ० 339)।
2. राज्ञी कृतज्ञभावेन साऽपि मन्त्रिसभान्तरे ।
तमाजुहाव निर्द्रोहं स्वयं राजानकाख्यया ।। (रा० त०, 6/261) ।
3. मम्मटः कं जनपदं जन्मनालञ्चकारेति निर्णयप्रवृत्ता वयं 'काश्मीरंजनपदम्' इति निश्चिनुमः,

के पञ्चम उल्लास में इन्होंने 'कुरु रुचिम्' प्रयोग में पदों के विपर्यय में दोष दिखाया है। इस पर 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक अपनी टीका में आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि -चिङ्कुपदं काश्मीरादिभाषायामश्लीलार्थबोधकम्।[1] इन तर्कों के आधार पर मम्मट को कश्मीरी माना जा सकता है।

आचार्य भीमसेनदीक्षितकृत काव्यप्रकाश की 'सुधासागर' टीका में मम्मट का जीवन-परिचय दिया गया है जिसके अनुसार मम्मट कश्मीर देश में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम जैयट था तथा उवट (या औवट) एवं कैयट इनके कनिष्ठ भ्राता थे।[2]

'काव्यप्रकाश' की 'बालबोधिनी' टीका के रचयिता झलकीकरवामन एवं प्रो० पी० वा० काणे इत्यादि विद्वानों के अनुसार उपर्युक्त मत की निश्चितता संदिग्ध है।[3] चारों वेदों के भाष्यकार के रूप में उवट का उल्लेख मिलता है । कैयट ने पतञ्जलि के 'महाभाष्य' पर टीका लिखी थी। औवटकृत वाजसनेयी संहिता के भाष्य के अन्त में एक पद्य आया है-

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति।।

इस पद्य के अनुसार उवट के पिता वज्रट थे और उवट भोज के समकालीन थे, किन्तु भीमसेनदीक्षित जी ने मम्मट के पिता का नाम 'जैयट' बताया है। यदि उवट मम्मट के भ्राता थे तो दोनों के पिता के नामों में भिन्नता कैसे मानी जा सकती है? इसके अतिरिक्त मम्मट को भोज का उत्तरवर्ती या उनके शासन काल के अन्तिम चरण में विद्यमान माना जाता है।[4] ऐसी दशा में उनके कनिष्ठ भ्राता उवट को भोज का समकालीन नहीं माना जा सकता है।

यदस्य मम्मटेति नाम देशान्तरासुलभानां जैयटकैयटवज्रटउवटऔवटउद्भटरुद्रटधम्मट कल्लट-भल्लटलोल्लटअल्लटइत्यादिनाम्ना सादृश्यमनुभवति। (का० प्र०, बा० बो०, प्रस्ता०, पृ० 6) ।

1. का० प्र०, बा० बो०, प्रस्ता०, पृ० 6 ।
2. सुधासागराख्यकाव्यप्रकाशटीकायां भीमसेनेन तु 'अयं मम्मटः कश्मीरदेशीयः, जैयटपुत्रः, वाराणसीमागत्याधीतशास्त्रः, अस्य च मम्मटस्य पतञ्जलिप्रणीतव्याकरणमहाभाष्यटीकाकर्ता कैयटः वेदचतुष्टयभाष्यकर्ता, उवटापरनामा, औवटश्चेति द्वावपि कनिष्ठौ भ्रातरौ' इति वर्णितम्। (का० प्र०, बा० बो०, प्रस्ता० (पृ० 6)।
3. का० प्र०, बा० बो०, प्रस्ता०, पृ० 7; सं० का० इति०, काणे, पृ० 341 ।
4. मम्मट ने उदात्त अलङ्कार के प्रसङ्ग में भोज का उल्लेख किया है - 'यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्। (का० प्र०, पृ० 553) ।

एक किंवदन्ती के अनुसार आचार्य मम्मट 'नैषधीयचरितम्' के लेखक महाकवि श्री हर्ष के मामा थे। कोई प्रामाणिक आधार न होने से इस किंवदन्ती को सत्य नहीं माना जा सकता। मम्मट तथा श्री हर्ष के समय में भी लगभग 100 वर्षों का अन्तराल है। श्री हर्ष का समय द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध है[1] जबकि मम्मट का समय एकादश शताब्दी के उत्तरार्ध में माना जाता है।

मम्मट का समय

'काव्यप्रकाश' में आचार्य मम्मट ने कतिपय विद्वानों का उल्लेख किया है तथा इनके उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इनका उल्लेख पाया जाता है जिसके आधार पर इनका समय निर्धारित किया जा सकता है।

'काव्यप्रकाश' में आचार्य अभिनवगुप्त का नाम सहित उल्लेख है[2] तथा पद्मगुप्तरचित 'नवसहसाङ्कचरित' के श्लोक भी उद्धृत किये गये है।[3] इसके अतिरिक्त उदात्त अलङ्कार के प्रसङ्ग में भोज की उदारता का भी वर्णन है।[4]

इनमें आचार्य अभिनवगुप्त का समय दसवीं शताब्दी का अन्त तथा ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण के मध्य माना गया है।[5] 'नवसहसाङ्कचरित' की रचना 1005 ई० के लगभग की है।[6] 'मम्मट ने जिस भोज की उदारता का वर्णन किया है वे 'शृङ्गारप्रकाश' तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक प्रसिद्ध आलङ्कारिक ग्रन्थों के रचयिता धारा नरेश भोजराज हैं। इनके राज्यकाल की अधिकतम सीमा विद्वानों ने 1055 ई० निर्धारित की है।[7] मम्मट ने भोज का जो वर्णन किया है उससे यही प्रतीत होता है कि इस श्लोक की रचना के समय राजा भोज की कीर्ति का पूर्ण प्रसार हो

---

1. 'संस्कृत-सुकविसमीक्षा', आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० 373, 'संस्कृत-कवि-दर्शन', डा० भोलाशङ्कर व्यास, पृ० 156.।
2. श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः। (का० प्र०, पृ० 136) ।
3. (क) शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना।
   अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः। (का० प्र०, पृ० 580) ।
   (ख) पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः
   रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य। (का० प्र०, पृ० 587) ।
4. का० प्र०, पृ० 553 ।
5. सं० का० इति०, काणे, 303(सं० का० इति०, डे, पृ० 104 ।
6. सं० का० इति, काणे, 341।
7. सं० का० इति०, काणे, पृ० 326, सं० का० इति०, डे, पृ० 125.।

चुका था, अर्थात् यह भोज के राज्यकाल के अन्तिम समय में अथवा उसके कुछ काल बाद ही रचा गया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 1055 ई० या उसके कुछ वर्षों के पश्चात् तक काव्यप्रकाश की रचना हो चुकी थी।

'काव्यानुशासन' के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में मम्मट का उल्लेख किया है।[1] काव्यानुशासन का समय 1143 ई०है। इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश की अनेक टीकाओं में माणिक्यचन्द्र की 'सङ्केत' टीका ही सर्वप्राचीन मानी जाती है। इस टीका की एक हस्तलिखित प्रति पर 1215 संवत् अर्थात् 1158 ई० अङ्कित है।[2] इन तथ्यों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बारहवीं शताब्दी के मध्य तक 'काव्यप्रकाश' को पूर्ण प्रसिद्धि मिल चुकी थी। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' की रचना का काल 1055 ई० से 1090 ई० तक मान लें तब मम्मट का जन्म समय 1025 या 1030 ई० माना जा सकता है।

मम्मट के ग्रन्थ

आचार्य मम्मट ने दो ग्रन्थों की रचना की- 'काव्यप्रकाश' एवं 'शब्दव्यापार-विचार'। साहित्यशास्त्र में इनके ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' को अतुलनीय स्थान प्राप्त है। इसमें दस उल्लास हैं। इसके कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण ये तीन भाग हैं। इसमें, काव्यलक्षण, प्रयोजन, हेतु, भेद, दोष, गुण एवं ध्वनि-भेदों के साथ-साथ अलङ्कारों का विशद विवेचन हुआ है। मम्मट के इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। महेश्वरकृत 'भावार्थचिन्तामणि' नामक एक टीका में 'काव्यप्रकाश' के विषय में कहा गया है -

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे-गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः ।
सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते धीरः स एतां निपुणं विलोकताम्।'[3]

कतिपय विद्वानों का यह मत है कि 'काव्यप्रकाश' की कारिकाएँ आचार्य भरत द्वारा लिखी गईं तथा मम्मट ने वृत्तियों की रचना की। इस मत को मानने वालों में 'काव्यप्रकाश' के परवर्ती टीकाकार विद्याभूषण तथा महेश्वर हैं। विद्याभूषण की 'साहित्यकौमुदी' में यह उल्लिखित है -

---

1. यथाह मम्मटः-अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्- - -।(काव्यानुशासनम्, पृ० 130)।
2. सं० का० इति०, काणे, पृ० 342 ।
3. सं० का० इति०, काणे, पृ० 343 ।

मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात्।।[1]

'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं का रचयिता भरत मुनि या मम्मट से भिन्न किसी भी अन्य व्यक्ति को मानना युक्तियुक्त नहीं है। इस मत के विरुद्ध अनेक तर्क दिये जा सकते हैं। आचार्य मम्मट ने इसका उल्लेख कहीं भी नहीं किया है कि वे किसी दूसरे की कारिकाओं पर वृत्ति लिख रहे हैं और न ही वृत्ति के लिए कोई पृथक् मङ्गलाचरण है। केवल कारिकाओं के प्रारम्भ में ही मङ्गलाचरण मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त चतुर्थ उल्लास में रस की परिभाषा वाली कारिकायें-

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।।

मिलती हैं। इसकी वृत्ति में लिखा गया है - **'उक्तं हि भरतेन विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'**।[3] यदि काव्यप्रकाश की कारिकाएँ भरत की रचना होती तो मम्मट वृत्ति में अन्यत्र (नाट्यशास्त्र में) उन्हीं की कही गई उक्ति को प्रमाण रूप में उद्धृत नहीं करते।[4] परवर्ती आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट का उल्लेख कारिका के साथ ही किया है।[5]

मम्मट के दूसरे ग्रन्थ 'शब्दव्यापारविचार' की तीन कारिकाएँ अक्षरशः

---

1. सं० का० इति०, काणे, पृ० 335 ।
2. प्रो० पी० वी० काणे तथा सुशील कुमार डे इत्यादि विद्वानों ने भी विभिन्न तर्कों द्वारा मम्मट को ही कारिका तथा वृत्ति दोनों का रचयिता माना है। सं० का० इति, काणे, 338, सं० का० इति, डे, पृ० 141.
3. का० प्र०, पृ० 119.
4. यदि कारिकाकृत् भरतमुनिः स्यात्तदा चतुर्थोल्लासे कारिकया, उक्तस्यार्थस्य प्रमाणतया 'उक्तं हि भरतेन' इत्यादिना भरतोक्तिरुद्धृता न स्यात्। कः खल्वनुन्मत्तस्तदुक्तावेव तदुक्तिं प्रमाणतया, उपन्यस्यति। (का० प्र०, बा० बो०, प्रस्ता०, पृ० 11 - 12)।
5. यथाह मम्मटः - अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः। (काव्यानुशासनम्, पृ० 130) ।
हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत उपर्युक्त कारिकाएँ काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास की है। (का० प्र०, पृ० 219) ।

'काव्यप्रकाश' की ही हैं।[1] यदि 'काव्यप्रकाश' की कारिकाएँ मम्मट की न होती तो दूसरे ग्रन्थ में अन्य के द्वारा रचित कारिकाओं को देने की क्या आवश्यकता थी? अतः आचार्य मम्मट ही वृत्ति सहित काव्यप्रकाश की कारिकाओं के भी रचयिता थे इसमें सन्देह नहीं है।

'काव्यप्रकाश' के पूरक रचनाकार के रूप में अलक या अल्लटसूरि का नाम भी लिया जाता है। इसके दशम उल्लास के अन्त में एक श्लोक मिलता है-

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः।।'[2]

विविध टीकाकारों ने इसकी व्याख्या करते हुए इसके दो अर्थ निकाले हैं और इसी आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'काव्यप्रकाश' के दो रचनाकार थे। आनन्दकवि ने अपनी 'निदर्शना' नामक टीका में लिखा है कि मम्मट ने परिकर अलङ्कारपर्यन्त ही ग्रन्थ की रचना की थी। शेष भाग अल्लट सूरि (कहीं कहीं अलक पाठ भी मिलता है) ने रचा। माणिक्यचन्द्र, सरस्वतीतीर्थ इत्यादि अन्य टीकाकारों ने भी दो लेखकों वाले मत की ही पुष्टि की है।[3]

उपर्युक्त मत को मानने में एक विसङ्गति है। आचार्य मम्मट की दूसरी कृति है 'शब्दव्यापारविचार'। इसमें 'शब्द-शक्ति' का विवेचन है जो कि 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास में मिलता है इसके साथ ही 'शब्दव्यापारविचार' में ध्वनि-विरोधी मत तथा उनका खण्डन भी संक्षिप्त रूप में दिया गया है जो कि 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास में विस्तृत रूप से वर्णित है। 'शब्दव्यापारविचार' की रचना मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पश्चात् की इसका स्पष्ट कथन उन्होंने इस ग्रन्थ के अन्त में किया है-

---

1. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।।
सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।।
भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ, लक्षणा तेन षड्विधा।।
'शब्दव्यापारविचार' की तीनों कारिकाएँ 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास की कारिका संख्या 10, 11 तथा 12 हैं।
2. का० प्र०, पृ० 631 ।
3. सं० का० इति०, काणे, पृ० 338 ।

'एतच्चान्यत्र विस्तरेण विचारितमिति संक्षेपेणेहोक्तमिति।'[1]

यदि 'काव्यप्रकाश' के दो लेखकों वाले मत को सत्य मान लिया जाये तब यह मानना पड़ेगा कि 'काव्यप्रकाश' को पञ्चम उल्लास तक लिख लेने के बाद उसे अपूर्ण छोड़कर मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' की रचना की। किन्तु मम्मट को 'काव्यप्रकाश' जैसे बृहत् विषय वाले ग्रन्थ को प्रारम्भ करके और उसे मध्य में ही छोड़कर दूसरे ग्रन्थ की रचना करने की क्यों आवश्यकता पड़ी, यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। यदि कोई अपने एक ग्रन्थ को अपूर्ण छोड़कर दूसरे ग्रन्थ का प्रणयन करता है तब उसका कोई न कोई कारण भी अवश्य होता है। जैसा कि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' नामक आख्यायिका में हर्ष का चरित अधूरा ही छोड़ दिया है। इसका कारण यह हो सकता है कि पुलकेशिन् द्वितीय द्वारा हर्ष के पराजित होने से कदाचित् बाणभट्ट ने अपने कथा-नायक की पराजय का वर्णन न करने की इच्छा से उसका चरित अपूर्ण ही छोड़ दिया हो। इसी प्रकार 'कादम्बरी' की रचना भी पूरी नहीं हो सकी थी, किन्तु उसका कारण था बाणभट्ट की असमय में मृत्यु। इस दृष्टि से आचार्य मम्मट को ही सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' का लेखक मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

'शब्दव्यापारविचार' एवं उसका महत्त्व

मम्मट का दूसरा ग्रन्थ 'शब्दव्यापारविचार' एक संक्षिप्त प्रकरण-ग्रन्थ है। इसका नाम 'शब्दव्यापारपरिचय' भी मिलता है।[2] इसमें शब्द-शक्तियों की विवेचना है। शब्दों की चार प्रकार की उपाधियों, लक्षणा, उसके भेद, व्यञ्जनाशक्ति के वर्णन के साथ ही संक्षेप में व्यञ्जना-विरोधी मतों की उपस्थापना तथा उनका खण्डन किया गया है।

काव्यशास्त्र के समीक्षकों, इतिहासकारों तथा अन्य आधुनिक काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने 'शब्दव्यापारविचार' को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना 'काव्यप्रकाश' को। 'आचार्य मम्मट' नामक ग्रन्थ के लेखक प्रो० धुण्डिराजगोपालसप्रे ने तो अपने इस ग्रन्थ में यहाँ तक लिखा है कि काव्यप्रकाश के समक्ष इस पुस्तिका का कोई महत्त्व नहीं है। 'शब्दव्यापारविचार' मम्मट की रचना है इस पर भी प्रो० सप्रे ने सन्देह व्यक्त किया है।[3]

---

1. श० व्या० वि०, पृ० 38.।
2. सं० का० इति०, डे, पृ० 143.।
3. 'आचार्य मम्मट', प्रो० धुण्डिराजगोपालसप्रे, पृ० 19.।

यह सत्य है कि 'काव्यप्रकाश' जैसे विशाल ग्रन्थ के एक विषय को आधार बनाकर ही 'शब्दव्यापारविचार' लिखा गया तथा इसकी तीन कारिकाएँ 'काव्यप्रकाश' की ही हैं, किन्तु केवल इसी कारण से इस ग्रन्थ की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'काव्यप्रकाश' में काव्यशास्त्र के सम्पूर्ण विषय का विशद वर्णन है और उसमें प्रसङ्गवश ही विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। 'शब्दव्यापारविचार' मुख्य रूप से 'अभिधावृत्तिमातृका' की आलोचना में लिखा गया है। वस्तुतः आचार्य मम्मट प्रबल ध्वनि-समर्थक आचार्य थे और मुकुलभट्ट व्यञ्जना अथवा ध्वनि-विरोधी आचार्य। इनके ग्रन्थ में वस्तु, अलङ्कार तथा रस इन तीनों प्रकार की ध्वनियों का अन्तर्भाव लक्षणा में ही दर्शाया गया है। मम्मट के मस्तिष्क में मुकुलभट्ट का ग्रन्थ अत्यधिक प्रभावी था जिसके कारण इन्हें पृथक् रूप से ग्रन्थ की रचना करके इसकी आलोचना करनी पड़ी। 'शब्दव्यापारविचार' में विषयों के वर्णन का क्रम 'अभिधावृत्तिमातृका' के अनुरूप ही हुआ है। इस कारण इसमें कई ऐसे विषय भी विचारित हैं जिनका निरूपण 'काव्यप्रकाश' में नहीं मिलता।

'शब्दव्यापारविचार' में लक्षणा की परिभाषा 'काव्यप्रकाश' में प्रदत्त परिभाषा से भिन्न शब्दों में दी गई है, किन्तु उसके भेदों का वर्णन 'काव्यप्रकाश' के अनुसार ही है। 'शब्दव्यापारविचार' में वक्ता, वाक्य तथा वाच्य की सापेक्षता के कारण होने वाली लक्षणा की अनेकता पर विचार हुआ है जिसकी चर्चा 'काव्यप्रकाश' में नहीं मिलती। तृतीय उल्लास में आर्थी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में ही वक्ता, बोधव्यादि की सापेक्षता का उल्लेख है। मुकुलभट्ट ने वक्ता, वाक्य तथा वाच्य की सापेक्षता से होने वाली लक्षणा के जो उदाहरण दिये हैं वे ध्वनिवादियों को मान्य वस्तु, अलङ्कार तथा रस के उदाहरण हैं। यही कारण है कि मम्मट ने उन उदाहरणों में मुख्यार्थबाधादि के अभाव में लक्षणा का निषेध किया है तथा अपने उदाहरण दिये हैं जो वक्ता आदि की सापेक्षता से होने वाली लक्षणा के हो सकते हैं।

व्यञ्जनाशक्ति की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए 'विशिष्टलक्षणावाद' के खण्डन के अवसर पर इसमें मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' से नवीन तर्क भी दिये हैं। इसके अतिरिक्त 'शब्दव्यापारविचार' में निरूढा, प्रयोजनवती तथा त्याज्य लक्षणाओं का पृथक् कारिका में वर्णन किया है।[1] 'काव्यप्रकाश' में त्याज्य लक्षणा की चर्चा सप्तम उल्लास में नेयार्थ दोष के प्रसङ्ग में की गई है। वहाँ केवल निषिद्ध लक्षणा का

1. निरूढा काचनान्या तु कार्या सा काचिदन्यथा। (श० व्या० वि०, पृ० 23)।

उदाहरण है और साथ ही कुमारिलभट्ट की कारिका भी उद्धृत है।[1] रूढि तथा प्रयोजन से रहित लक्षणा ही निषिद्ध लक्षणा होती है।[2]

लक्षणा अभिधा के पूर्व होती है अथवा पश्चात् इस विषय पर 'काव्यप्रकाश' में विचार नहीं किया गया है, किन्तु मुकुलभट्ट से प्रभावित होकर मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' में अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद तथा अखण्डार्थवाद में अभिधा तथा लक्षणा के पौर्वापर्य का विवेचन किया है। अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद की व्याख्या 'काव्यप्रकाश' की अपेक्षा इस ग्रन्थ में अधिक स्पष्ट है।

लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं में मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध भी एक कारण माना गया है। मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' में सादृश्य, कार्य-कारण, स्वस्वामिभाव, अवयवअवयविभाव इत्यादि से होने वाले सम्बन्धों का उल्लेख लक्षणा भेद के अवसर पर 'काव्यप्रकाश' की ही भाँति किया है किन्तु अन्त में पृथक् रूप से भर्तृमित्र की '**अभिधेयेन सम्बन्धात्**- - - ।' इत्यादि कारिका उद्धृत करते हुए पाँच प्रकार के सम्बन्धों की सोदाहरण व्याख्या भी की है जैसा कि मकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ में किया है।

'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने व्यञ्जना-शक्ति अथवा व्यङ्ग्यार्थ की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी है किन्तु 'शब्दव्यापारविचार' की अन्तिम कारिका में व्यङ्ग्यार्थ को अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है, जिसमें प्रतिभा की निर्मलता तथा विदग्धता पर बल दिया गया है।[3] अभिधा के लिए जो महत्त्व 'सङ्केत' का है, मुख्यार्थबाधादि के बिना जैसे लक्षणा नहीं हो सकती वैसे ही प्रतिभानैर्मल्य, वैदग्ध्य तथा प्रस्तावादि के वैशिष्ट्य के बिना व्यङ्ग्यार्थ-बोध सम्भव नहीं है। इस ग्रन्थ में व्यङ्ग्यार्थ का सामान्य परिचय दिया गया है। 'काव्यप्रकाश' में अभिधामूला, लक्षणामूला

---

1. नेयार्थम्-'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।
   क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।।
   इति यन्निषिद्धं लाक्षणिकम्। यथा-
   शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम्, करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम्। (का० प्र०, पृ० 290) ।
2. निषिद्धमिति। रूढिप्रयोजनान्यतरशून्यमिति पर्यवसितोऽर्थः। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 283) ।
3. प्रज्ञानैर्मल्य-वैदग्ध्यप्रस्तावादिविधायुजः।
   अभिधालक्षणायोगी व्यङ्ग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः।। (श० व्या० वि०, पृ० 33) ।

के साथ ही आर्थी व्यञ्जना का सविस्तार विवेचन है किन्तु 'शब्दव्यापारविचार' में मम्मट ने पद तथा वाक्य से प्रकाशित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ के पृथक्-पृथक् उदाहरण देकर उन्हें अभिधामूला व्यञ्जना कहा है।

कभी-कभी काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति तो होती है किन्तु वह गौण या अप्रधान होता है। 'शब्दव्यापारविचार' में इसके भी दो उदाहरण दिये गये है। 'काव्यप्रकाश' में काव्य के एक प्रकार के रूप में गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा उसके आठ भेदों की सोदाहरण व्याख्या है।

'शब्दव्यापारविचार' में मम्मट ने कहीं भी 'उत्तम' काव्य के रूप में ध्वनि काव्य का कोई वर्णन नहीं किया है। 'ध्वनि' शब्द दो बार आया अवश्य है किन्तु वह शब्द के पर्याय के रूप में ही है।[1] व्यञ्जना-व्यापार को यहाँ भी ध्वनन कहा गया है।[2]

इस प्रकार 'शब्दव्यापारविचार' को 'काव्यप्रकाश' के मात्र द्वितीय उल्लास का प्रतिरूप समझ कर उसको महत्त्वहीन मानना उचित नहीं है। एक आलोचनात्मक ग्रन्थ के रूप में साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसका महत्त्व कम नहीं है।

आचार्य मम्मट की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मुकुलभट्ट के पश्चात् काव्यशास्त्रीय जगत् में मम्मट के पूर्व जो महत्त्वपूर्ण आचार्य हुए उनमें कालक्रम की दृष्टि से आचार्य कुन्तक का नाम सर्वप्रथम है जिन्होंने काव्यशास्त्रीय विषय पर 'वक्रोक्तिजीवितम्' ग्रन्थ लिखा। कुन्तक ने अपने ग्रन्थ में राजशेखर को उद्धृत किया है तथा महिमभट्ट ने कुन्तक के ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस आधार पर आचार्य कुन्तक का समय दसवीं शताब्दी के अन्त से ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।[3] प्रो० काणे ने इनके ग्रन्थ को दसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के बाद की ही रचना माना है।[4] इस ग्रन्थ में काव्य के लक्षण, प्रयोजन के साथ साथ छः प्रकार की वक्रता का वर्णन है। कुन्तक अभिधावादी आचार्य थे। इन्होंने वक्रोक्ति की परिभाषा दी है-

---

1. उपर्युक्त कारिका में 'ध्वनि' शब्द का ही पर्याय है। इसके साथ ही 'जातिःक्रिया गुणः संज्ञा वाच्योऽर्थः समितध्वनिः।' इस प्रथम कारिका में भी 'ध्वनि' शब्द के लिए आया है।
2. न चैवमभिधाया लक्षणाया वा कश्चिदवसर इति भिन्नमेव ध्वननम्। (श० व्या० वि०, पृ० 36) ।
3. सं० का० इति०, डे०, पृ० 118.।
4. सं० का० इति०, काणे, पृ० 294.।

विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते' (व० जी०, 1/10, पृ० 51) ।

इन्होंने लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य अर्थ को स्वीकार करते हुए भी उसका अन्तर्भाव वाच्य मे ही कर लिया है। षड्विध वक्रता के भेदोपभेदों के वर्णन के माध्यम से ही कुन्तक ने परोक्षरूपेण ध्वनि-भेदों को उसमें समाविष्ट मान लिया है। इस दृष्टि से इन्हें ध्वनि-विरोधी आचार्य माना जाता है यद्यपि इन्होंने साक्षात् रूप से ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध नहीं किया है।

कुन्तक के पश्चात् आचार्य अभिनवगुप्त का नाम आता है जिनका समय 950 ई० से 1020 ई० के मध्य माना गया है।[1] अभिनवगुप्त कश्मीरी विद्वान् थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। साहित्य के क्षेत्र में 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' टीका तथा 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' नामक टीका इनकी अनुपम रचनाएँ मानी जाती हैं। कश्मीरी शैव-दर्शन के प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र पर भी इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी 'लोचन' एवं 'अभिनवभारती' टीकाएँ काव्यशास्त्र के दो प्रमुख सम्प्रदाय ध्वनि तथा रस में प्रमाणस्वरूप समझी जाती हैं। आचार्य मम्मट पर लोचन का बहुत प्रभाव पड़ा है। रस-सिद्धान्त की व्याख्या के अवसर पर उन्होंने अत्यन्त आदर सहित अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है।

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों में व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ध्वनि-विरोधी आचार्य थे। इन्होंने 'ध्वन्यालोक' के ध्वनि-सिद्धान्त की आलोचना के लिए ही अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया।[2] महिमभट्ट को 'राजानक' उपाधि मिली थी जिससे इनका कश्मीरी होना सिद्ध होता है। महिमभट्ट का समय 1020 ई० से 1050 ई० के मध्य माना जाता है।[3]

आचार्य महिमभट्ट नैयायिक थे। व्यञ्जना-विरोधी आचार्यों में इनका नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इन्होंने अभिधा नाम की एक ही शब्द-शक्ति मानी है।[4] व्यञ्जनावृत्ति का विरोध करते हुए व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर्भाव इन्होंने अनुमान में ही माना

---

1. सं० का० इति०, काणे, पृ० 303(सं० का० इति०, डे, पृ० 104.।
2. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
   व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।। (व्य० वि०, 1.1) ।
3. सं० का० इति०, काणे, 319.।
4. (क) नापि शब्दस्याभिधाव्यतिरेकेण व्यञ्जकत्वं व्यापारान्तरमुपपद्यते - - - । (व्य० वि०, पृ० 127) ।
   (ख) शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता। (व्या० वि०, पृ० 105) ।

है। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति को अनुमान मानने का खण्डन किया है। टीकाकार इसे महिमभट्ट की ही आलोचना मानते हैं।

महिमभट्ट के पश्चात् धारा नरेश भोज का नाम लिया जाता है जिनकी दो कृतियाँ सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं – 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गारप्रकाश'। इनकी इन दो रचनाओं का समय 1005 ई० से 1054 ई० के बीच सम्भावित है।[1] इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में पूर्ववर्ती कवियों के अनेक ग्रन्थों से उदाहरण लिये गये हैं, जिनमें अधिकांश 'काव्यादर्श' के हैं। इसमें काव्य के प्रयोजन, लक्षण, जाति, रीति, अलङ्कार, रस, नायक, नायिका, नाट्यसन्धियों आदि का वर्णन किया गया है।

भोज की दूसरी रचना 'शृङ्गारप्रकाश' में कुल 36 प्रकाश हैं। यह ग्रन्थ पूर्ण रूप में प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें 'नाट्यशास्त्र' तथा 'काव्यशास्त्र' दोनों का विवेचन है।[2] इसमें काव्य की परिभाषा भामह के अनुसार ही दी गई है। भोज ने शृङ्गार को ही एकमात्र रस माना है। एकावली में भी इनके इस मत की चर्चा है।

भोज के पश्चात् मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों में क्षेमेन्द्र कश्मीरी आचार्य थे। इन्होंने अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं। इनका जन्म एवं रचनाकाल 990 ई० से 1066 ई० के मध्य माना गया है।[3] अपने ग्रन्थ 'वृहत्कथामञ्जरी' में इन्होंने अभिनवगुप्त को अपना साहित्यिक गुरु कहा है –

श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।'[4]

इनके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविकण्ठाभरण' तथा 'औचित्यविचारचर्चा' है। 'औचित्यविचारचर्चा' में 'औचित्य' को ही रस-सार मानते हुए इसका सविस्तार वर्णन है। –

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।।[5]

इन्होंने औचित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है–

1. सं० का० इति०, काणे, पृ० 326.।
2. सं० का० इति०, काणे, पृ० 324.।
3. सं० का० इति०, काणे, पृ० 331. ।
4. सं० का० इति०, काणे पृ० 331.।
5. सं० का० इति०, काणे, पृ० 329.।

'उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते'[1]

इस ग्रन्थ में आचार्य ने ध्वन्यालोक के सिद्धान्तों का विवेचन किया है।

'कविकण्ठाभरण' पाँच सन्धियों में विभक्त है जिसमें 55 कारिकाएँ हैं। इसमें तर्क, व्याकरण के अध्ययन तथा काव्य के गुण–दोषों के विषय में चर्चा की गई है।

मम्मट पर पूर्ववर्तियों का प्रभाव

आचार्य मम्मट के ग्रन्थों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे जहाँ व्याकरण, मीमांसा, न्याय जैसे शास्त्रों की प्रभावी भूमिका रही है वहीं आचार्य भरत से लेकर क्षेमेन्द्र तक उत्कृष्ट काव्यशास्त्रियों की कृतियाँ भी रही हैं। मम्मट न केवल साहित्यिक विषयों के सूक्ष्मतम रहस्यों के ज्ञाता थे अपितु व्याकरण, मीमांसा तथा न्याय के सिद्धान्तों मे भी पारङ्गत थे। व्याकरणसम्बन्धी इनके ज्ञान को देखते हुए तो व्याख्याकारों, टीकाकारों ने इन्हें मूलत: वैयाकरण सिद्ध करने का प्रयास किया है।

वस्तुत: किसी भी सहित्यशास्त्रीय पण्डित के लिए पद, वाक्य एवं प्रमाणज्ञ होना आवश्यक ही होता है, क्योंकि साहित्यशास्त्र मुख्य रूप से इन्हीं तीनों पर आधारित होता है। आचार्य मुकुलभट्ट ने इस विषय में सत्य ही लिखा है–

पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत् प्रतिबिम्बितम्
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति।।[2]

उपर्युक्त तीनों शास्त्रों में व्याकरण ने काव्यशास्त्र के लगभग सभी पक्षों को प्रभावित किया है। इसके प्रत्येक विषय का मूल व्याकरण में विद्यमान है। मुख्यत: शब्दों का तत्त्वज्ञान तो व्याकरण के विना सम्भव ही नहीं है। व्याकरण की उपयोगिता को आचार्य भामह ने जिन शब्दों में दर्शाया है वे प्रस्तुत प्रसङ्ग में उल्लेखनीय हैं –

सूत्राम्भसं पदावर्त्तं परायणरसातलम्।
धातूणादिगणग्राहं ध्यानग्रहबृहत्प्लवम्।।
धीरैरालोकितप्रान्तममेधोभिरसूयितम् ।
सदोपभुक्तं सर्व्वाभिरन्यविद्याकरेणुभि:।।
नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम्।
शब्दरत्नं स्वयंगम्यमलं कर्त्तुमयं जन:।।[3]

---

1. सं० का० इति०, काणे, पृ० 329.।
2. अ० वृ० मा०, पृ० 72 ।
3. भा० काव्या०, 6/1,2,3, पृ० 143 ।

आचार्य मम्मट भी अन्य शास्त्रों की अपेक्षा व्याकरण से अधिक प्रभावित रहे हैं। आलङ्कारिकों को इन्होंने स्पष्टरूप से व्याकरणमतानुसारी कहा है। उत्तम काव्य को 'ध्वनि' संज्ञा देते हुए इन्होंने इसका आधार माना है व्याकरण के स्फोट-सिद्धान्त को।[1]

वैयाकरणों ने स्फोट रूप व्यङ्ग्य के व्यञ्जक शब्दों को ध्वनि कहा है। इस प्रसङ्ग में मम्मट ने वैयाकरणों के लिए 'बुधैः' जैसी सम्मानजनक संज्ञा व्यवहृत की है। इसके अतिरिक्त इनका उपाधि-चतुष्टय-सिद्धान्त महाभाष्य के शब्दचतुष्टयवाद पर आधारित है।[2]

मम्मट से पूर्व आनन्दवर्धन ने भी वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त को ध्वनि का आधार माना है तथा मुकुलभट्ट ने पतञ्जलि के सिद्धान्त पर उपाधिचतुष्टयवाद की स्थापना की। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मम्मट ने आनन्दवर्धन एवं मुकुलभट्ट के अनुसरण पर ही इस सिद्धान्त को मान्यता दी। किन्तु काव्यप्रकाश में अन्य अनेक ऐसे स्थल भी हैं जिनपर व्यकारण-शास्त्र का प्रभाव है। जैसे विभावना अलङ्कार का लक्षण इन्होंने दिया है –

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' ।

यहाँ क्रिया का अर्थ हेतु है। इसकी व्याख्या में 'प्रदीप' टीकाकार ने लिखा है–

'वैयाकरणानां मते क्रियैव हेतुः ।

इसके अतिरिक्त मम्मट ने क्यङ्, क्यच्, क्विप्, वाक्य तथा समास आदि के आधार पर उपमा के विविध भेद किये हैं।[3] इस प्रकार का यह भेद वर्णन न केवल इनके व्यकारण सम्बन्धी ज्ञान का परिचायक है अपितु इन पर व्यकारण का प्रभाव भी दर्शाता है।

---

1. – – – बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः, ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य। (का० प्र०, पृ० 24) ।
2. का० प्र०, बा० बो०, पृ० 656.।
3. (क) वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्य क्यङि।
   कर्मकर्त्रोर्णमुलि एतद्विलोपे क्विप्समापगा।।
   (ख) धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते।
   क्यचि वाद्युपमेयासे त्रिलोपे च समासगा।। (का० प्र०, द० उ०, पृ० 477, 480, 481) ।

व्याकरण के साथ-साथ मम्मट को मीमांसा तथा न्याय का भी उच्च कोटि का ज्ञान था, इसमें सन्देह नहीं है। इन्होंने मीमांसा से सम्बन्धित विविध मान्यताओं का प्रसङ्गानुकूल वर्णन किया है। शब्द-शक्तिप्रकरण में तो खण्डन के रूप में ही सही, मीमांसा-दर्शन ही छाया हुआ है। सङ्केतितार्थ के स्वाभिमत चार प्रकारों को देते हुए 'जातिरेव वा ' कहकर इन्होंने मीमांसकों का भी पक्ष रखा है तथा इसका खण्डन भी किया है। नैयायिकों के व्यक्तिशक्तिवाद की संक्षिप्त आलोचना की किन्तु बौद्धों के अपोहवाद का ग्रन्थ गौरव के कारण उल्लेख मात्र किया तथा 'शब्दव्यापारविचार' में उसका उल्लेख भी अनावश्यक समझा।[1]

इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश में वाच्य लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों के साथ-साथ तात्पयार्थ को भी मानने वाले मीमांसकों का पक्ष दर्शाते हुए अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद की व्याख्या की गई है।[2] इस प्रसङ्ग मे टीकाकारों में यह मतभेद है कि मम्मट को अभिहितान्वयवाद अभिप्रेत था या अन्विताभिधानवाद। वस्तुतः मम्मट ने तीन अर्थ ही माने हैं वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य। अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद की व्याख्या तो भूमिका के रूप में की गई है क्योंकि व्यञ्जना की स्थापना में मम्मट को इन दोनो में ही व्यञ्जना की अनिवार्यता को दर्शाना था। 'शब्दव्यापारविचार' में इनका विवेचन पूर्णतया मुकुलभट्ट के अनुसरण पर ही हुआ है।

मीमांसकों का खण्डन करते हुए भी मम्मट ने मीमांसा-दर्शन को यथावसर प्रमाण स्वरूप उपस्थित किया है। जैसे काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में तथा 'शब्दव्यापारविचार' में कुमारिलभट्ट विरचित 'तन्त्रवार्तिक' की करिका प्रमाण स्वरूप उद्धृत की है।[3] इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में नेयार्थ दोष को स्पष्ट करते हुए पुनः 'तन्त्रवार्तिक' की एक अन्य कारिका उद्धृत है।[4]

लक्षणा में प्रयोजन की व्यङ्गता सिद्ध करते हुए प्रयोजनविशिष्ट लक्षणा मानने के विरोध में मम्मट ने मीमांसा तथा न्याय का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया

---

1. सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा। (का० प्र०, पृ० 43) ।
2. तात्पर्याऽर्थोऽपि केषुचित्। (का० प्र०, पृ० 34) ।
3. उक्तं चान्यत्र -
'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।।' (श० व्या० वि०, पृ० 12) ।
4. नेयार्थम्- निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।। (का० प्र०, पृ० 290) ।

है कि ज्ञान का विषय एवं फल ज्ञान से भिन्न होता है। जैसे प्रत्यक्षादि ज्ञान का विषय नीलादि है और फल ज्ञातता अथवा संवित्ति।[1] यहाँ 'काव्यप्रकाश' के अधिकांश टीकाकारों के अनुसार मीमांसकों के अनुसार ज्ञान का फल ज्ञातता है तथा नैयायिकों के अनुसार संवित्ति, किन्तु माणिक्यचन्द्र की 'सङ्केत' टीका के अनुसार 'प्रकटता' कुमारिल का मत है तथा संवित्ति प्रभाकर का।[2]

काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में व्यङ्ग्यार्थ का अनुमान में अन्तर्भाव मानने वाले सिद्धान्त का सामान्यरूपेण खण्डन करते हुए मम्मट ने अपने न्याय-दर्शन के ज्ञान का भी परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त अनुमान अलङ्कार का लक्षण एवं वृत्ति तथा असङ्गति अलङ्कार का वृत्ति-भाग स्पष्ट रूप से इन पर न्याय-दर्शन का प्रभाव ही दर्शाता है।[3]

व्याकरण, मीमांसा आदि शास्त्रों की ही भाँति मम्मट को पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियों ने भी प्रभावित किया है। किन्तु प्रत्येक विषय में मम्मट का अपना स्वतन्त्र मत भी है। किसी के विचारों से असहमत होने पर इन्होंने प्रबल तर्कों से उसका खण्डन भी किया है, कहीं नामोल्लेख पूर्वक तो कहीं नाम उल्लिखित किये विना ही।

रस-निरूपण के समय मम्मट ने प्रारम्भ में ही आचार्य भरत की कारिका उद्‌धृत की है।[4] रस से सम्बन्धित 'काव्यप्रकाश' की कतिपय कारिकाओं तथा नाट्य-शास्त्र की कारिकाओं में साम्य को देखते हुए कुछ विद्वानों ने 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं को भरतकृत मानने की सम्भावना व्यक्त की है।

रस की संख्या को मम्मट ने पहले तो भरतोक्त आठ ही माना है किन्तु '**शान्तोऽपि नवमो रसः**' कहकर शान्त रस को भी स्वीकृति दी है। 'नाट्यशास्त्र' का छठाँ अध्याय जिसमें रस का वर्णन है, के दो पाठ-भेद मिलते हैं। प्रथम पाठ में '**अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः**' के द्वारा आठ रसों का वर्णन है तथा द्वितीय पाठ में शान्त के रूप में नवें रस का भी उल्लेख है।

भामह से प्रभावित होकर मम्मट ने इनका उल्लेख किया है, किन्तु भामह का

---

1. नीलविषयस्य प्रमाणस्य यथा नीलनिष्ठैव प्रकटता संविद् वा फलं- - - । (श० व्या० वि०, पृ० 22) ।
2. प्रकटत्वं भट्टमते। संवित्तिः प्राभाकरे। (का० प्र०, 16 टीकाएँ, सङ्केत, पृ० 361) ।
3. (क) अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः।।
पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्। (का० प्र०, पृ० 562) ।
(ख) इह यद्‌देशं कारणं तद्‌देशमेव कार्यमुत्पद्यमानं दृष्टं यथा धूमादि। (का० प्र०, पृ० 575)।
4. उक्तं हि भरतेन-विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः। (का० प्र०, पृ० 119) ।

नाम नहीं लिया। शब्दचित्र तथा अर्थचित्र के प्रसङ्ग में भामह के काव्यालङ्कार की कारिकाएँ उद्धृत हैं –

तथा चोक्तम् –

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।।
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः।। इति।[1]

(क० प्र०, पृ० 275) ।

शब्द तथा अर्थ दोनों प्रकार के वैचित्र्य चमत्कारोत्पादक होते हैं, इसी की प्रामाणिकता हेतु मम्मट ने भामह की कारिकाएँ उद्धृत की है। इसके अतिरिक्त विशेष अलङ्कार के प्रसङ्ग में भी भामह की कारिका उद्धृत की है –

अत एवोक्तम् – सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।।

गुण एवं अलङ्कार के भेदक धर्म के विषय में मम्मट ने उद्भट तथा वामन की आलोचना की है तथा वामनोक्त गुणों की संख्या का भी विरोध किया है[2], किन्तु इतना होते हुए भी सप्तम उल्लास की निम्नलिखित कारिका पर आचार्य वामन का प्रभाव है–

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः।
सन्निधानादिबोधार्थम्– – – – – – – ।[3]

(का० प्र०, पृ० 365) ।

नवम उल्लास में श्लेष का वर्णन करते समय रुद्रट का भी उल्लेख किया है।[4]

1. उपर्युक्त कारिकाएँ भा० काव्या० की हैं – 1/13, 14, 15, पृ० 7, 8 ।
2. का० प्र०, पृ० 413, 414, 420 ।
3. कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरः शेखरेषु कर्णादिनिर्देशः सन्निधेः। (काव्या० सू०, 2/2/14, पृ० 75) ।
4. तथा ह्युक्तं रुद्रटेन–
स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः।। (का० प्र०, पृ० 453 – 454) ।

मम्मट के ध्वनि-सिद्धान्त एवं व्यङ्ग्यार्थ-निरूपण पर पूर्णतया आनन्दवर्धन का ही प्रभाव है। आनन्दवर्धन के प्रभाव से ध्वनि-विरोधी मुकुलभट्ट मुक्त नहीं रह पाये हैं तो मम्मट जैसे प्रबल ध्वनि-समर्थक पर आनन्दवर्धन का प्रभाव स्वाभविक ही है। कहीं अल्प परिवर्तन के साथ तो कहीं सम्पूर्ण रूप से मम्मट ने आनन्दवर्धन के ध्वनि-सम्बन्धी अधिकांश विचारों को अपना लिया है तथा इनके मतों को 'ध्वनिकार', 'ध्वनिकृत' इत्यादि शब्दों के द्वारा उद्धृत किया है।

आनन्दवर्धन के समान ही इन्होंने भी 'ध्वनि' का आधार वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त को माना है। 'काव्यप्रकाश' में मुख्यरूप से ध्वनि के वस्तु, अलङ्कार एवं रस ध्वनि रूप से जो तीन भेद मिलते हैं उस पर भी आनन्दवर्धन का ही प्रभाव है।[1] इसके अतिरिक्त इन्होंने गुणीभूतव्यङ्ग्य[2] तथा रस दोष के प्रसङ्ग में ध्वनिकार के विचार प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया है।

ध्वनि-विरोधियों के खण्डन के अवसर पर भी मम्मट आनन्दवर्धन से प्रभावित रहे हैं। वाच्य तथा व्यङ्ग्य के परस्पर भेदक कारणों के प्रतिपादन में भी आनन्दवर्धन का प्रभाव देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं मम्मट 'ध्वन्यालोक' के शब्द भी अपनाते गये हैं। उदाहरणस्वरूप 'काव्यप्रकाश' के 'न च शब्दः स्खलद्गतिः'।[3] शब्द 'ध्वन्यालोक' के 'शब्दो नैवस्खलद्गतिः'[4] से साम्य रखते हैं।

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण मम्मट के ग्रन्थ में मिलेंगे जिन पर आनन्दवर्धन का प्रभाव है।

'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास पर आचार्य मुकुलभट्ट का सर्वाधिक प्रभाव है इसके अतिरिक्त 'शब्दव्यापारविचार' की रचना तो मम्मट पर 'अभिधावृत्तिमातृका' के प्रभाव का ही प्रतिफल है। 'शब्दव्यापारविचार' का प्रणयन यद्यपि मुकुलभट्ट के खण्डन के उद्देश्य से ही हुआ किन्तु इसके अनेक विचारों को मम्मट अपने इस ग्रन्थ

---

1. (क) सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। (का० प्र०, पृ० 237)।
(ख) स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 73)।
2. इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्। (का० प्र०, पृ० 235)।
3. का० प्र०, पृ० 83।
4. ध्व०, प्र० उ०, पृ० 276।

में अनायास ही अपनाते भी गये हैं। मम्मट का उपाधि-चतुष्टय-निरूपण तो सर्वथा मुकुलभट्ट की ही देन है। इस प्रसङ्ग में मम्मट ने अपने दोनों ही ग्रन्थों में एक पंक्ति उद्धृत की है- **'उक्तं हि वाक्यपदीये 'गौर्हि स्वरूपेण न गौः, नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः'।'**[1] यह मुकुलभट्ट के ग्रन्थ में भी उद्धृत की गई है, किन्तु 'वाक्यपदीय' में नहीं मिलती। सम्भवतः मुकुलभट्ट को ही प्रामाणिक मानते हुए मम्मट ने इसका उल्लेख कर दिया है।

'शब्दव्यापारविचार' में जो निरूढा, प्रयोजनवती तथा अन्यथा (अप्रयोज्या) लक्षणाओं का निरूपण मिलता है[2] वह 'अभिधावृत्तिमातृका' के अनुसरण पर ही हुआ है। जिस प्रकार मुकुलभट्ट ने 'द्विरेफ' के सादृश्य पर होने वाली 'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह' लक्षणा को त्याज्य कहा है उसी प्रकार मम्मट ने भी 'द्विरेफ' से अनुगत 'कोकिल' के लिए 'द्विक' आदि को अप्रयोज्या माना है।

इसके अतिरिक्त अभिधा तथा लक्षणा के पौर्वापर्य का 'अभिहितान्वयवाद' आदि चार वादों के अन्तर्गत 'शब्दव्यापारविचार' में मम्मट ने निरूपण किया है वह भी 'अभिधावृत्तिमातृका' के ही आधार पर हुआ है।

आचार्य मम्मट ध्वनि-प्रकरण में आनन्दवर्धन के ही समान अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका से भी प्रभावित रहे हैं। इनके जिन विचारों पर 'लोचन' का प्रभाव है उनमें से कतिपय उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

लोचन के साम्य पर ही मम्मट ने अपने दोनों ग्रन्थें में व्यञ्जना के लिए 'ध्वनन' शब्द का प्रयोग किया है।[3] आर्थी व्यञ्जना में अर्थ की व्यञ्जकता के साथ शब्द की सहकारिता जो मम्मट ने मानी है उससे सम्बन्धित वाक्य भी 'लोचन' में मिलता है। अभिनवगुप्त के समान ही मम्मट ने लक्षणा को 'अभिधापुच्छभूता' कहा है।[4] इसके अतिरिक्त रस के सन्दर्भ में - 'इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः' कहते हुए इन्होंने आदर सहित अभिनवगुप्त का उल्लेख किया ही है।

---

1. श० व्या० वि०, पृ० 4 ।
2. श० व्या० वि०, पृ० 24 ।
3. (क) अभिधातात्पर्यलक्षणाव्यापारातिरिक्तं ध्वननम्। (श० व्या० वि०, पृ० 38) ।
   (ख) व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादि- - -। (ध्व०, लो०, प्र० उ०, पृ० 88)।
4. अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः। (का० प्र०, पृ० 265) ।
   तत्रास्तीत्यभिधापुच्छभूतैव - - - । (ध्व०, लो०, प्र० उ०, पृ० 280) ।

द्वितीय अध्याय
अभिधावृत्ति-विवेचन

शब्द, अर्थ तथा उसके सम्बन्धों की विशद चर्चा काव्यशास्त्र में तो की ही गई है, इसके पूर्व व्याकरण तथा दर्शन ग्रन्थों में भी इस विषय पर विस्तार से विचार हुआ है।

अर्थ-बोध कराना ही शब्द की उपयोगिता है। शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है इस विषय में सभी विद्वानों में मतैक्य है। नैयायिकों को छोड़कर वैयाकरणों, मीमांसकों एवं साहित्यशास्त्रीय विचारकों ने शब्द के साथ अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना है। आचार्य भर्तृहरि ने शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को स्वभावसिद्ध तथा अनादि कहा है। कैयट के अनुसार भी शब्द में एक स्वाभाविक योग्यता रहती है जो उच्चारण के पश्चात् अर्थोपस्थिति कराती है। मीमांसा में भी शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को 'औत्पत्तिक' अर्थात् नित्य माना गया है।[1] नैयायिक शब्द को ही अनित्य मानते हैं[2], इस कारण उनके अनुसार शब्द एवं अर्थ मे भी नित्य सम्बन्ध नहीं होता[3]

यह सर्वविदित तथ्य है कि कोई विशेष शब्द किसी विशेष अर्थ की ही प्रतीति कराता है। 'घट' शब्द का उच्चारण करने से कम्बुग्रीवादिमान् घट पदार्थ की ही प्रतीति होती है 'पट' की नहीं। इससे सिद्ध है कि शब्द तथा अर्थ में कोई सम्बन्ध अवश्य होता है। ऐसा न होने पर प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ की प्रतीति होती । इस प्रकार शब्द से अर्थ प्रतीति के लिए कोई नियामक शक्ति अवश्य होती है जिसके विना अर्थ-ज्ञान नहीं हो सकता।[4] यह नियामक शक्ति ही शब्द-शक्ति के नाम से जानी जाती है। 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में 'शक्ति' की परिभाषा दी गई है-

---

1. (क) औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः - - - - - । (शा० भा०, मी० द० (1), पृ० 28) ।

   (ख) औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। (शा० भा०, मी० द० (1), पृ० 28) ।
2. न्यायसूत्र में शब्द की अनित्यता का कारण दिया गया है -
   आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च। (न्या० सू०, 2/2/13) ।
3. पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः। (न्या० सू०, 2/1/53) ।
4. वृत्तिश्चशक्तिलक्षणान्यतरः सम्बन्धः। अत्रैव शक्तिज्ञानस्योपयोगः। पूर्वं शक्तिग्रहाभावे पदज्ञानेपि तत्संबन्धेन स्मरणानुपपत्तेः। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रमाणनिरूपणम्, पृ० 5) ।

शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः।
सा चाऽस्मच्छब्दादयमर्थो बोधव्य इतीश्चरेच्छारूपा।[1]

दर्शन-शास्त्र में शक्ति के लिए 'वृत्ति' शब्द का ही अधिकता से प्रयोग हुआ है। 'वृत्तिदीपिका' में शाब्दबोध के हेतुभूत शब्दार्थ की उपस्थिति के अनुकूल सम्बन्ध को 'वृत्ति' कहा गया है।[2] दर्शन-ग्रन्थों में 'शक्ति' मुख्य रूप से 'अभिधा' का पर्याय बनकर ही आई है। काव्यशास्त्र में 'शक्ति' के लिए 'वृत्ति' के साथ-साथ 'व्यापार' शब्द भी व्यवहृत हुआ है।[3]

शब्द-शक्ति की संख्या के विषय में विद्वानों में मतभेद रहा है। मुख्य रूप से अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना, तीन प्रकार की शक्तियाँ मानी गई हैं। कहीं-कहीं 'तात्पर्य' नामक चौथी शक्ति भी मानी गई है। मीमांसक गौणी को लक्षणा से भिन्न मानते हैं। इस प्रकार गौणी भी एक पृथक् वृत्ति हुई।

शब्द की उपर्युक्त वृत्तियों में अभिधा सभी शास्त्रों में निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। शब्द से सर्वप्रथम जिस अर्थ का बोध होता है उसकी प्रतीति कराने वाली शब्द की शक्ति ही 'अभिधा' कहलाती है। उदाहरण स्वरूप 'गौः' शब्द के उच्चारण के पश्चात् सास्नादिमान् पशुविशेष का बोध होता है। यह अर्थबोध अभिधावृत्ति अथवा व्यापार के कारण ही होता है। अभिधा से बोधित होने वाले अर्थ को 'वाच्यार्थ' अथवा 'मुख्यार्थ' भी कहा जाता है। आचार्य भर्तृहरि ने भी अभिधा से प्रतीत होने वाले अर्थ को मुख्यार्थ कहा है। उनके अनुसार मुख्य अर्थ का बोध शब्द-श्रवण मात्र से हो जाता है। जिन अर्थों की प्रतीति शब्द-श्रवण के तत्काल बाद नहीं होती अपितु निमित्त की अपेक्षा से होती है उन्हें 'गौण' कहा जाता है।[4] इसका उदाहरण भी उन्होंने

---

1. न्या० सि० मु०, शब्दप्रमाणनिरूपणम्, पृ० 5.।
2. शब्दबोधहेतुशब्दार्थोपस्थित्यनुकूलशब्दतदर्थसम्बन्धो वृत्तिः। (वृत्तिदीपिका)।
3. (क) वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० 361)।
   (ख) शब्दस्य चार्थप्रतिपत्तिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्त्या कारकत्वात् कल्प्यमानो व्यापारोऽभिधा-दिशब्दप्रतिपाद्यो नानाप्रकार ---। (श० व्या० वि०, पृ० 1)।
   (ग) वृत्तयः काव्यसरणावलङ्कारप्रबन्धृभिः।
   अभिधालक्षणाव्यक्तिरिति तिस्रो निरूपिताः।। (वृ० वा०, पृ० 29)।
4. श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
   मुख्यं तमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्।। (वा० प०, 2/278)।

प्रस्तुत किया है।[1] मीमांसा-दर्शन में भी सर्वप्रथम अभिव्यक्त होने वाले अर्थ को 'मुख्य' कहा गया है तथा मुख्य अर्थ के माध्यम से प्रकट होने वाला अर्थ 'गौण' कहलाता है।[2]

अभिधावृत्ति का आधार सङ्केत-ग्रह है। सङ्केत का ग्रहण होने पर ही शब्द से अर्थ-प्रतीति होती है। आचार्य मम्मट ने लिखा भी है कि-

अगृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति।[3]

पद एवं पदार्थ का इतरेतराध्यास रूप तादात्म्य ही सङ्केत कहलाता है।[4] नैयायिकों ने -'इस शब्द से इस अर्थ का बोध हो' इस प्रकार की ईश्वरेच्छा को सङ्केत कहा है जबकि नव्य नैयायिक इच्छामात्र को सङ्केत मानते हैं।[5] नैयायिकों के अनुसार शक्तिग्रह व्याकरण आदि आठ उपायों से होता है।[6] आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में 'सङ्केत' के लिए 'समय' शब्द का प्रयोग किया है। इनके मतानुसार 'समय' की अपेक्षा से अर्थ बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है।[7] मम्मट ने भी 'सङ्केत' के लिए 'समय' शब्द का प्रयोग किया है-

'नाभिधा समयाभावात्' (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 82) ।

काव्यशस्त्रियों में शब्द-शक्ति विवेचन स्पष्ट रूप से आनन्दवर्धन के ग्रन्थ से

---

1. यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते।
तथा स एव गोशब्दो वाहीकेऽपि व्यवस्थितः।। (वा० प०, 2/252) ।
2. कः पुनर्मुख्यः को वा गौण इति। उच्यये। यः शब्दादेवावगम्यते, स प्रथमोऽर्थो मुख्यः। मुखमिव भवतीति मुख्य इत्युच्यते। यस्तु खलु प्रतीतादर्थात् केनचित्सम्बन्धेन गम्यते, स पश्चाद्भावाज्जघनमिव भवतीति जघन्यः। गुणसम्बन्धाच्च गौण इति। (मी० सू०, 3/2/1. पर शा० भा०, मी० द० (4), पृ० 123) ।
3. श० व्या० वि०, पृ० 1. ।
4. तदुक्तं पातञ्जलभाष्ये- सङ्केतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्दः। (वै० सि० ल० म०, पृ० 25) ।
5. नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्तु इच्छैव, तेनाधुनिकसङ्केतितेऽपि शक्तिरस्त्येवेत्याहुः। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रामाण्यनिरूपणम्, पृ० 8) ।
6. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।' (न्या० सि० मु०, पृ० 8) ।
7. तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः। (ध्व० लो०, प्र० उ० पृ० 90) ।

प्रारम्भ होता है तथा इसकी सुस्पष्ट व्याख्या उनके भी परवर्ती ग्रन्थों में ही देखने को मिलती है। आनन्दवर्धन से पूर्व भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों के प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः गुण एवं अलङ्कारादि ही थे। अतः शब्दशक्तियों की विवेचना नहीं की गई है किन्तु गुणालङ्कारों के शब्द एवं अर्थ पर आश्रित होने के कारण प्रसङ्गतः इन आचार्यों ने भी अभिधा तथा अभिधेयार्थादि का नाम अवश्य लिया है।[1] आचार्य भामह ने '**शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः**' तथा '**शब्दाभिधेये विज्ञाय**' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। '**अभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः**'[2] कहते हुए आचार्य वामन ने भी अभिधेयार्थ का स्पर्श अवश्य किया है। लोचन में यह उल्लेख आया है कि उद्भट ने भामह के '**शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः**' की व्याख्या में 'अभिधान' शब्द का अर्थ 'अभिधाव्यापार' बताया है जिसके मुख्य तथा गुणवृत्ति ये दो भेद होते हैं।[3] आचार्य रुद्रट ने तो स्पष्ट रूप से 'अभिधा' एवं 'वाचक' शब्द का प्रयोग किया है तथा अर्थ के चार भेद माने हैं -

अर्थः पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः।।[4]

आचार्य आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ को ही अन्य सभी अर्थों के ज्ञान का आधार बताया है।[5] जिस वृत्ति अथवा व्यापार से वाच्यार्थ प्रतीति होती है उसे इन्होंने 'मुख्यावृत्ति' भी कहा है।[6] लोचनकार ने इसी मुख्यावृत्ति को अभिधाव्यापार कहा है।[7]

मुकुलभट्ट के अनुसार अभिधा का स्वरूप

आचार्य मुकुलभट्ट ने अभिधा नाम की एक ही शब्द-वृत्ति मानी है। शब्द मुख्य एवं लाक्षणिक दो प्रकार के अभिधा व्यापार से अर्थ की प्रतीति कराता

---

1. भा० काव्या०, पृ० 5।
2. काव्या० सू०, पृ० 30।
3. भट्टोद्भटो बभाषे - शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 52)।
4. रु० काव्या०, 7/1, पृ० 183.
5. (क) आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः
   तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ।। (ध्व०, 1/9, पृ० 164)।
   (ख) यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
   वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः।। (ध्व०, 1/10, पृ० 166)।
6. मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य- - - । (ध्व०, 1/17, पृ० 276)।
7. मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य- - - - । (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 277)।

है।[1] मुख्य एवं लाक्षणिक अभिधाव्यापार से प्रतीत होने वाले अर्थों को भी मुख्य तथा लाक्षणिक कहा जाता है। इनमें मुख्य अभिधा के चार प्रकार होते हैं तथा लाक्षणिक के छः। इस प्रकार मुकुलभट्ट को मान्य अभिधा के दस भेद होते हैं।[2]

जिस अर्थ का ज्ञान शब्दव्यापार से ही होता है उसे मुख्य कहा जाता है। लक्षणीय अर्थ का ज्ञान मुख्य अर्थ की पर्यालोचना द्वारा होता है।[3] प्रथम अर्थ को 'मुख्य' कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मुख अन्य सभी शारीरिक अङ्गों, हाथ, पैर इत्यादि, से पहले दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार वह अर्थ भी सभी प्रतीत होने वाले अर्थों में सर्वप्रथम जाना जाता है।[4] उदाहरण स्वरूप 'गौरनुबन्ध्यः' अर्थात् (यज्ञ के लिए) गो का अनुबन्धन किया जाये', इस वाक्य में अभिधा से प्रथमतः 'गो' शब्द से 'गोत्व' जाति का बोध होता है। यहाँ सर्वप्रथम प्रतीत होने के कारण 'गो' शब्द का जाति रूप अर्थ मुख्य अर्थ हुआ। यह अर्थ साक्षात् 'गो' शब्द के व्यापार से विदित हुआ है।[5]

प्रस्तुत उदाहरण में 'गोत्व जाति' बिना व्यक्ति के यज्ञ का साधन नहीं बन सकती।[6] व्यक्ति में ही प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति की योग्यता रहती है। अतः व्यक्ति रूप अर्थ का बोध होना आवश्यक है। मुकुलभट्ट के अनुसार यहाँ जाति रूप अर्थ का बोध कराकर ही अभिधा की शक्ति समाप्त हो जाती है। उससे 'व्यक्ति' का बोध नहीं हो सकता। इस प्रसङ्ग में मुकुलभट्ट मीमांसा-सम्मत न्याय भी प्रस्तुत करते हैं कि विशेषण के ज्ञापन में क्षीण शक्ति वाली अभिधा विशेष्य का ज्ञान नहीं करा सकती।[7]

1. शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति----। (अ० वृ० मा०, पृ० 1)।
2. इत्येतदभिधावृत्तं दशधाऽत्र विवेचितम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 72)।
3. शब्द-व्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
   अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते।। (अ० वृ० मा०, पृ० 2)।
4. (क) स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते। तस्मान्मुखमिव मुख्य इति शाखादियान्तेन मुख्यशब्देनाभिधीयते। (अ० वृ० मा०, पृ० 2)।
   (ख) यहाँ 'मुख के समान जो हो वह मुख्य है' इस अर्थ में पाणिनि सूत्र 'शाखादिभ्यो यः' (5/3/103) के आधार पर मुख शब्द से 'य' प्रत्यय करके 'मुख्य' शब्द बना है।
5. तस्योदाहरणं 'गौरनुबन्ध्य' इति। अत्र हि गोशब्दव्यापाराद् यागसाधनभूता गोत्वलक्षणा जातिरवगम्यते। अतस्तस्या मुख्यता। तदेवं शब्दव्यापारगम्यो मुख्योऽर्थः। (अ० वृ० मा०, पृ० 2)।
6. जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधनभावं न प्रतिपद्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 2)।
7. यथा [गौरनुबन्ध्य इति] पूर्वस्मिन्नेवोदाहरणे व्यक्तेः। सा हि न शब्दव्यापारादवसीयते, 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायात् शब्दस्य जातिमात्रपर्यवसितत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 2)

इस कारण शब्द से बोधित जाति रूप अर्थ के द्वारा उसके आश्रयभूत व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है।[1] यहाँ 'गो' शब्द का प्रथम अर्थ जाति है तथा उस अर्थ की सहायता से पुनः व्यक्ति रूप अर्थ का आक्षेप होता है, अतः जाति रूप अर्थ मुख्य हुआ तथा व्यक्ति रूप अर्थ लाक्षणिक।[2]

इस प्रकार मुकुलट्ट ने अभिधा नामक एक ही शब्दव्यापार माना, किन्तु मुख्य अर्थ के ज्ञापन में उसका विराम मानते हुए उसी अभिधा के लाक्षणिक नामक भेद से अन्य अर्थ का बोध माना है। मुख्य अर्थ की अभिधा प्रथम अर्थ तक स्वयं शब्दव्यापार से पहुँचती है, किन्तु लाक्षणिक अर्थ का बोध कराने के लिए उसे मुख्यार्थ की सहायता अपेक्षित रहती है। इस प्रकार प्रथम अर्थ के बोधन में अभिधा का सहायक है केवल शब्द, किन्तु द्वितीय अर्थ के बोध हेतु शब्द के साथ अर्थ भी सहायक है। इस कारण से अभिधाव्यापार दो प्रकार का हो जाता है 'निरन्तरार्थविषय' तथा 'सन्तरार्थनिष्ठ'।[3]

आचार्य मुकुलभट्ट के 'निरन्तरार्थविषय' का तात्पर्य है कि जिस अर्थ का ज्ञान होते समय किसी अन्य अर्थ का व्यवधान नहीं होता, ऐसा अर्थ जिस व्यापार का विषय बनता है वह 'निरन्तरार्थविषय' कहलाता है। व्यवधान युक्त अर्थ का ज्ञान जिस व्यापार से होता है उसे 'सान्तरार्थनिष्ठ' कहा जाता है। इस प्रकार अभिधा व्यापार एक ही है किन्तु उसके भेद दो हैं। ये भेद भी, अव्यवहित तथा व्यवधानयुक्त अर्थबोधन के कारण हैं।

मुख्य अर्थ के भेद

मुकुलभट्ट के अनुसार मुख्य अर्थ के चार प्रकार होते हैं[4] – जाति,गुण, क्रिया तथा यदृच्छा-शब्द। इस प्रकार इस मुख्य अर्थ का ज्ञापन करनेवाले अभिधाव्यापार के भी चार भेद हो जाते हैं[5] – जातिबोधक, गुणबोधक, क्रियाबोधक तथा यदृच्छा शब्द अर्थात् संज्ञाबोधक।

---

1. शब्दप्रत्यायितजातिसामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 3) ।
2. तेनासौ लाक्षणिकी। (अ० वृ० मा०, पृ० 3) ।
3. एवमयं मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधाव्यापारो द्विविधः प्रतिपादितो निरन्तरार्थविषयः सान्तरार्थनिष्ठश्च। (अ० वृ० मा०, पृ० 3) ।
4. तयोर्मुख्यलाक्षणिकयोर्मध्यान्मुख्यस्यार्थस्य चत्वारो भेदाः, जात्यादिभेदात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 4) ।
5. सम्प्रति मुख्याभिधाव्यापारस्य चातुर्विध्यमभिधीयते। (अ० वृ० मा०, पृ० 4) ।

अभिधा शक्ति के विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं विवाद का विषय यह ज्ञात करना है कि सर्वप्रथम उससे किस अर्थ का बोध होता है ? इस समस्या के विषय में भारतीय दार्शनिकों में कई मत प्रचलित हैं। अभिधा से सङ्केतित अर्थ का ही बोध होता है। मीमांसक अभिधा का सङ्केत जाति में मानते हैं। इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार अभिधा से सर्वप्रथम शब्द का जातिरूप अर्थ प्रकट होता है। महर्षि जैमिनि ने 'जाति 'के लिए 'आकृति' शब्द का प्रयोग किया है।[1] आचार्य शबर स्वामी ने 'आकृति' की परिभाषा दी है-

'द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः'[2]

इन्होंने 'आकृति' को ही शब्दार्थ कहा है।[3] जाति में ही शक्ति मानने के कारण मीमांसक जातिशक्तिवादी कहलाते हैं।

सङ्केतग्रह के विषय में 'व्यक्तिशक्तिवादियों' का मत है कि शब्द का अर्थ 'व्यक्ति' ही होता। इस मत का उल्लेख खण्डन के अवसर पर वैयाकरणों, मीमांसको, नैयायिकों सभी ने किया है, किन्तु इस प्रसङ्ग में किसी भी आचार्य का नाम नहीं लिया है। महाभाष्य में व्याडि के मत का उल्लेख है जिन्होंने व्यक्ति को शब्दार्थ माना है।

नैयायिकों ने जातिविशिष्ट व्यक्ति में सङ्केतग्रह माना है। महर्षि गौतम के अनुसार किसी पद का अर्थ किसी वस्तु की 'व्यक्ति' 'आकृति' तथा 'जाति' सभी में है।[4]

बौद्धमत में शब्द का अर्थ 'अपोह' है।[5] बौद्धदर्शन में 'अपोह' पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व'। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक घट घटभिन्न सभी पदार्थों से भिन्न है इसलिए उनमें 'घटः घटः' इस

---

1. आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्। (मी० सू०, 1/3/33) ।
2. मी० सू०, 1/3/30. पर शा० भा०, मी० द० (2), पृ० 235. ।
3. आकृति शब्दार्थः कुतः। क्रियार्थत्वात्। (मी० सू०, 1/3/33. पर शा० भा०, मी० द० (2), पृ० 245) ।
4. व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। (न्या० सू०, 2/2/67, पृ० 213) ।
5. गोशब्दश्रवणात्सर्वासां गोव्यक्तीनामुपस्थितेरतस्मादश्वादितो व्यावृत्तिदर्शनाच्च, अतद्व्यावृत्ति-रूपोऽपोहो वाच्य इति बौद्धमतम् । (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 38) ।

प्रकार की एकाकार प्रतीति होती है। आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ में 'अपोहवाद' को स्पष्ट किया है।

अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते।
अन्यापोहश्च नामान्यपदार्थापाकृतिः किल।।[1]

मुकुलभट्ट ने अभिधा से बोधित अर्थ के लिए 'सङ्केत' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया है। इन्होंने मुख्य अर्थ के चार भेद माने हैं। इसका आधार महर्षि पतञ्जलि की 'चतुष्टयी शब्द-प्रवृत्ति' की मान्यता है। महाभाष्यकार ने शब्दों को जाति शब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द और यदृच्छाशब्द इस प्रकार से चार दिशाओं में बढ़ने वाला बताया है।[2]

मुकुलभट्ट के अनुसार अपने अर्थ के ज्ञान के लिए प्रवृत्त जितने भी शब्द होते हैं उनके विषयों में भिन्नता होती है। यह भिन्नता शब्दों में रहने वाली उपाधियों के कारण ही होती है। इस प्रकार सभी शब्दों की प्रवृत्ति उपाधियुक्त विषयों का बोध कराने के कारण उपाधिमूलक होती है ।[3] शब्दों की ये उपाधियाँ चार प्रकार की होती हैं। प्रथमतः इसके दो प्रकार होते हैं – 'वक्तृसन्निवेशित' तथा 'वस्तुधर्म'।[4] इनमें प्रथम उपाधि विषय में स्वतः नहीं रहती अपितु वक्ता द्वारा सन्निवेशित होती है। अर्थात् वक्ता अपनी इच्छा से विना किसी तर्क के किसी का कोई नाम रख लेता है। जैसे-यदि किसी गो विशेष का नाम डित्थ रख दिया जाता है तो यह नाम गो शब्द का 'वक्तृसन्निवेशित' धर्म हुआ। इस 'डित्थ' संज्ञा को गो रूप संज्ञी में इस प्रकार सन्निविष्ट किया जाता है कि उस सन्निवेश के द्वारा उस संज्ञी रूपी विषय की शक्ति अर्थात् अभिधा शक्ति जागृत हो सके।[5] इसका तात्पर्य यह है कि 'डित्थ' संज्ञा के

1. भा० काव्या०, 6/16, पृ० 150.।
2. चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिर्भगवता महाभाष्यकारेणोपवर्णिता 'जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चे'-ति। (अ० वृ० मा०, पृ० 4-5) ।
3. सर्वेषां शब्दानां स्वार्थाभिधानाय प्रवर्त्तमानानामुपाध्युपरञ्जितविषयविवेकत्वादुपाधिनिबन्धना प्रवृत्तिः। (अ० वृ० मा०, पृ० 5) ।
4. उपाधिश्च द्विविधः वक्तृसन्निवेशितो वस्तुधर्मश्च। (अ० वृ० मा०, पृ० 5) ।
5. कश्चित् खलु वक्त्रा तस्मिंस्तस्मिन् वस्तुन्युपाधितया सन्निवेश्यते, कश्चित्तु वस्तुधर्म एव । तत्र यो वक्त्रा यदृच्छया तत्तत्संज्ञिविषयशक्त्यभिव्यक्तिद्वारेण तस्मिंस्तस्मिन् संज्ञिनि सन्निवेश्यते स वक्तृसन्निवेशितः, यथा डित्थादीनां शब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपम्। तत् खलु तां तामभिधाशक्तिमभिव्यञ्जयता वक्त्रा यदृच्छया तस्मिन्स्तस्मिन् संज्ञिनि उपाधितया सन्निवेश्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 5) ।

उच्चारण से अभिधा द्वारा किसी गो विशेष का बोध हो सके । डित्थादि शब्दों का कोई यौगिक अर्थ नहीं होता। इनसे गुण, क्रिया तथा जाति में से किसी का बोध नहीं होता है ये नाम विना किसी तर्क के वक्ता की इच्छा से संज्ञी में उपाधिरूप से सन्निविष्ट किये जाते हैं। इसी कारण डित्थादि शब्दों को 'यदृच्छा शब्द' कहा जाता है।

मुकुलभट्ट ने यदृच्छा शब्द का जो स्वरूप माना है वह डित्थादि शब्दों का वर्ण-क्रम रहित स्वरूप है जिसका बोध अन्तिम वर्ण के अनुभव से होता है। जिनके मत में डित्थादि शब्दों का डकारादि वर्णों से भिन्न कोई स्वरूप नहीं होता, अतः डित्थादि शब्दों का क्रमरहित स्वरूप संज्ञी में सन्निवेशित नहीं किया जा सकता, उनके अनुसार भी 'यदृच्छा शब्द' उपपन्न हो ही जाते हैं। क्योंकि उनके मत में भी अभिधा शक्ति के द्वारा किसी संज्ञा के अभिधान के लिए वक्ता की इच्छा से काल्पनिक समुदाय रूप डित्थादि शब्दों की प्रवृत्ति होती ही है।[1]

आचार्य मुकुलभट्ट को मान्य दूसरी उपाधि 'वस्तुधर्म' वस्तु का स्वयं अपना ही धर्म होती है।[2] अर्थात् वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहती है।[3] यह उपाधि भी साध्य एवं सिद्ध रूप से दो प्रकार की होती है।[4] इनमें साध्यरूप उपाधि के आधार पर किसी शब्द को 'क्रिया शब्द' कहा जाता है। जैसे – 'पचति' शब्द क्रिया शब्द कहलाता है।[5] इसका कारण यहाँ शब्द की साध्य रूप उपाधि का होना है।

---

1. येषामपि च डकारादिवर्णव्यतिरिक्तसंहृतक्रमस्वरूपाभावान्न डित्थादिशब्दस्वरूपं संहृतक्रमं संज्ञिष्वध्यवस्यते- इति दर्शनं तेषामपि वक्तृयदृच्छाभिव्यज्यमानशक्तिभेदानुसारेण काल्पनिकसमुदायरूपस्य डित्थादेः शब्दस्य तत्तत्संज्ञाभिधानाय प्रवर्त्तमानत्वाद् यदृच्छाशब्दत्वं डित्थादीनामुपपद्यत एव। (अ० वृ० मा०, पृ० 5) ।
2. ------कश्चित्तु वस्तुधर्म एव। (अ० वृ० मा०, पृ० 5) ।
3. दो अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है। जिन दो पदार्थों में एक अविनश्यदवस्था में दूसरे के आश्रित ही रहता है वे दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं। गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति अयुतसिद्ध हैं क्योंकि इनमें गुण, क्रिया तथा जाति अविनश्यदवस्था में गुणी, क्रियावान् तथा व्यक्ति में आश्रित होकर ही रहते हैं।
   तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः।...... कौ पुनरयुतसिद्धौ? ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ । (त० भा०, पृ० 26-27) ।
4. यस्य तु वस्तुधर्मत्वेनोपाधेरवस्थानं तस्यापि द्वैविध्यम्, साध्यसिद्धताभेदात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 5) ।
5. तत्र साध्योपाधिनिबन्धनाः क्रियाशब्दाः, यथा पचतीति। (अ० वृ० मा०, पृ० 5) ।

जाति एवं गुण के भेद से 'सिद्ध' नामक उपाधि भी दो प्रकार की होती है। जो उपाधि पदार्थ के लिए प्राणप्रद होती है उसे ही 'जाति' कहा जाता है। जाति से सम्बन्ध के विना किसी भी वस्तु को अपना मूल स्वरूप नहीं मिल सकता।[1] जैसा कि 'वाक्यपदीय' में कहा गया है कि 'गो' नामक प्राणी स्वरूप से न तो 'गो' होता है न उससे भिन्न होता है अपितु 'गोत्व' के अभिसम्बन्ध से ही 'गो' होता है।[2]

कोई उपाधि जाति के द्वारा लब्धस्वरूप वाले वस्तु में विशेषता का आधान करती है उसे गुण कहते हैं । जैसे शुक्लादि गुण होते हैं। ये गुण वस्तुओं के अपने स्वरूप निष्पादन में कोई सहयोग नहीं देते। वस्तुओं को स्वरूप तो जाति के द्वारा ही प्राप्त हो जाता है। गुणों का कार्य मात्र इतना है कि ये वस्तुओं में व्यक्तिगत विशिष्टता उत्पन्न कर देते हैं।[3]

इस प्रसङ्ग में मुकुलभट्ट ने परमाणुत्वादि का उल्लेख किया है। वैशेषिक दर्शन में रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि गुणों के मध्य 'परिमाण' को भी एक गुण माना गया है। 'परिमाण' नामक गुण अणु, महत्, दीर्घ एवं ह्रस्व भेद से चार प्रकार का होता है। इनमें अणु परिमाण 'परमाणु' एवं द्वयणुक, इन्हीं दो में पाया जाता है। परमाणुगत अणु नित्य होता है। इसे 'परिमाण्डल्य' भी कहा जाता है। नित्य होने के साथ ही ये परमाणु अपरिवर्तनशील एवं अविभाज्य भी होते हैं। परमाणु विभाजन की अन्तिम सीमा हैं। गोलाकार होने के कारण ही इन्हें परिमाण्डल्य कहा जाता है।[4]

परमाणुत्वादि के विषय में मुकुलभट्ट का यह विचार है कि यद्यपि ये परमाणुत्व जाति के समान नित्य होते हैं, किन्तु इन्हें जाति नहीं कहा जा सकता। परमाणु किसी परिमेय वस्तु में ही रहते हैं और जिनमें रहते हैं उनमें अन्य गुणों के समान ही

---

1. सिद्धस्य तूपाधिद्वैविध्यम्, जातिगुणभेदात् ।कस्यचित् खलु सिद्धस्योपाधिः पदार्थस्य प्राणप्रदता, यथा जातेः,-----। (अ० वृ० मा०, पृ० 5) ।
2. -----न हि कश्चित् पदार्थो जातिसम्बन्धमन्तरेण स्वरूपं प्रतिलभते, यदुक्तं वाक्यपदीये- 'गौरिति न हि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः'-इति। यह पंक्ति वाक्यपदीय में नहीं मिलती। (अ० वृ० मा०, पृ० 5) ।
3. कश्चित् पुनरुपाधिर्लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो विशेषाधानहेतुः, यथा शुक्लादिर्गुणः । (अ० वृ० मा०, पृ० 5) ।
4. भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० 168-169; भा० द० सर्वे०, संगमलालपाण्डेय, पृ० 243. ।

व्यक्तिगत विशिष्टता उत्पन्न कर उन्हें अन्य वस्तुओं से पृथक् करते हैं। विशेषाधान हेतु होने के कारण इन्हें गुण ही मानना चाहिए।[1]

इस प्रकार मुकुलभट्ट के अनुसार चार प्रकार की उपाधियों के कारण शब्दों के चार प्रकार होते हैं- जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द एवं यदृच्छाशब्द इनसे बोधित अर्थ भी चार प्रकार के होते हैं ।

मुकुलभट्ट के अनुसार जाति शक्तिवाद का खण्डन

मीमांसा-दर्शन में शब्द का सर्वप्रथम अर्थ जाति को माना गया है। मुकुलभट्ट ने व्याकरणाभिमत चार शब्दों को मानते हुए प्रथम बोध्य मुख्य अर्थ के चार प्रकार माने हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में किसी भी परम्परा अथवा आचार्य का नाम न लेते हुए जातिशक्तिवादियों की तरफ से यह शङ्का उठाते हुए उसका समाधान भी किया है कि गुणशब्द, क्रियाशब्द, संज्ञाशब्द, इन सब को भी जातिशब्द ही क्यों न मान लिया जाय ? इस शङ्का का स्वरूप इस प्रकार है -दूध, शङ्ख, सारस आदि में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले जो शुक्ल गुण हैं वे भिन्न-भिन्न होते हैं। इन भिन्न-भिन्न स्थलों में पाये जाने वाले जो शुक्ल गुण हैं उनमें सवमाय सम्बन्ध से रहने वाली शुक्लत्व जाति रहती है। इसी कारण भिन्न होते हुए भी उन्हें एक ही 'शुक्ल गुण' के नाम से जाना जाता है। इस कारण शुक्लादि शब्दों को भी जातिवाचक मानना चाहिए।[2] इसी प्रकार गुड, तण्डुल, तिल आदि भिन्न- भिन्न द्रव्यों में रहने वाली पाक क्रिया भिन्न-भिन्न ही होती है। उनमें भी समवाय सम्बन्ध से रहने वाली 'पाकत्व' जाति माननी पड़ती है इस कारण वे भी जाति वाचक ही हैं।[3] डित्थादि यदृच्छा शब्दों मे भी डित्थत्वादि जाति रहती है क्योंकि शुक, सारिका, मनुष्य आदि भिन्न-भिन्न आश्रयों द्वारा उच्चरित होने के कारण डित्थादि शब्दों में भिन्नता रहती ही है।[4] अथवा इसे इस प्रकार भी

---

1. येऽपि च नित्या परमाणुत्वादयो गुणास्तेषामपि सर्वेषां गुणजातीयत्वादेवंप्रकारत्वमेव। (अ० वृ० मा०, पृ० 5-6) ।
2. ननु सर्वेषामपि गुणक्रियायदृच्छाशब्दाभिमतानां जातिनिबन्धनत्वम्। तथाहि गुणशब्दानां तावच्छुक्लादीनां पयः शङ्खबलाकाद्याश्रयसमवेता ये शुक्लादिलक्षणा गुणा विभिन्नास्तत्स-मवेतसामान्यवाचिनः। (अ० वृ० मा०, पृ० 8) ।
3. एवं क्रियाशब्दानामपि गुडतिलतण्डुलादिद्रव्याश्रिता ये पाकादयोऽन्योन्यमन्यत्वेनावस्थिताः क्रियाविशेषाः, तत्समवेतं तासां सामान्यमेव वाच्यम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 8) ।
4. यदृच्छाशब्दानां तु डित्थादीनां शुकसारिकामनुष्याद्युदीरितेषु भिन्नेषु डित्थादिशब्देषु समवेतं डित्थशब्दत्वादिकं सामान्यमेव यथायोगं संज्ञिष्वध्यस्तमवसेयम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 9) ।

कहा जा सकता है कि प्रतिक्षण होने वाले वृद्धि एवं क्षय के कारण पूर्व क्षण में विद्यमान डित्थादि उत्तर क्षण में विद्यमान से भिन्न होते हैं इस कारण एक नहीं कहे जा सकते। उनमें 'डित्थ' 'डित्थ' इस प्रकार की बाधरहित जो अभेदप्रतीति होती है उसका कारण डित्थत्व सामान्य अथवा जाति ही है। वह जाति डित्थादि शब्दों से अभिहित होती है।[1] इस प्रकार गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्द भी जाति शब्द ही होते हैं इस कारण शब्दों की चतुष्टयीप्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती।[2]

इस प्रकार की शङ्का को उठाते हुए मुकुलभट्ट उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए तर्क देते हैं कि गुण शब्द एवं क्रिया शब्दों में एकाकारता की प्रतीति में संज्ञी ही कारण होते हैं, जाति नहीं। महाभाष्यकार को भी यही अभिमत है।[3] व्यक्तियों में प्रतीत होने वाले भेद का कारण उपाधि ही है। जैसे एक ही मुख तैल, खड्ग, जल एवं दर्पण में प्रतिबिम्बित होने के कारण भिन्न-भिन्न दृष्टिगत होता है। उसकी भिन्नता का कारण भिन्न-भिन्न आश्रय ही होते हैं वस्तुतः मुख में भिन्नता नहीं होती। उसी प्रकार एक ही शुक्लादि व्यक्ति देश, काल से अवच्छिन्न हो शङ्खादि भिन्न आश्रय विशेष के कारण वस्तुतः एक होते हुये भी भिन्न प्रतीत होता है। अतः शुक्लादि व्यक्तियों को जाति नहीं माना जा सकता क्योकि सभी शुक्ल व्यक्ति मूलतः एक ही होते हैं। जाति तो अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहती है।[4] इसी प्रकार 'पचति' आदि क्रिया के स्थलों में भी उसे जाति नहीं कहा जा सकता। गुड, तण्डुलादि में रहने वाली पाकक्रिया आश्रय भेद से ही भिन्न प्रतीत होती है, वस्तुतः भिन्न नहीं होती। यदृच्छा शब्दों में भी डित्थादि शब्द के शुक, सारिका आदि भिन्न-भिन्न ध्वनियों से उच्चरित होने के कारण

1. यदि चोपचयापचययोगितया डित्थादौ संज्ञिनि प्रतिकालं भिद्यमानेष्वभिद्यमानो यन्महिम्ना डित्थो डित्थ इत्येवमादिरूपत्वेनाभिन्नाकारः प्रत्ययो बाधशून्यः संजायते तैः तथाभूतं डित्थादिशब्दावसेयवस्तुसमवेतमेव डित्थत्वादिसामान्यमेष्टव्यम्, तच्च डित्थादिशब्दैरभिधीयते। (अ० वृ० मा०, पृ० 9)।

2. अतश्च गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 9)।

3. गुणक्रियाशब्दसंज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजुषामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्वम्, न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्यात्राभिमतम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 10)।

4. यथा हि एकमेव मुखं तैलखड्गोदकादर्शादीनां प्रतिबिम्बावगतिनिबन्धनानां भेदान्नानाकारत्वेन प्रत्यवभासते तथैकैव शुक्लादिव्यक्तिर्देशकालावच्छिन्ना तत्तत्कारणसामग्र्युपजनित-शङ्खाद्याश्रयविशेषवशेन नानारूपतयाभिव्यक्तिमासादयन्ती विचित्रेव स्यादिति। अतश्च तस्याः शुक्लादिव्यक्तेरेकत्वाज्जातेश्च भिन्नाश्रयसमवेतत्वात् शुक्लत्वादिजात्यभावान्न शुक्लादिशब्दानां जातिशब्दत्वम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 10)।

उन्हें भिन्न नहीं माना जा सकता अथवा न ही कौमारादि अवस्थाओं के कारण भिन्न प्रतिभाषित डित्थादि व्यक्ति को भिन्न माना जा सकता है। वस्तुतः भिन्न न होने के कारण इनमें जाति का प्रसङ्ग ही नहीं उपस्थित होगा।

इस प्रकार शब्दों की प्रवृत्ति के निमित्त चार होने से शब्दार्थ भी चार प्रकार के सिद्ध होते हैं।[1]

मम्मट के अनुसार अभिधा का स्वरूप तथा सङ्केत-ग्रह-विभाग

आचार्य मम्मट ने शब्द की तीन वृत्तियों को स्वीकार किया है – अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना। 'शब्दव्यापारविचार' में इन्होंने अभिधा व्यापार की कोई परिभाषा नहीं दी है। 'काव्यप्रकाश' में उसका जो स्वरूप स्पष्ट किया है उसके अनुसार साक्षात् संकेतित अर्थ को बोधित करने वाला शब्द वाचक कहलाता है[2] तथा साक्षात् संकेतितार्थ को ही 'मुख्य' कहा जाता है। उस मुख्य अर्थ के बोधन में वाचक शब्द का जो व्यापार है वही अभिधा है।[3]

मुकुलभट्ट की ही भाँति मम्मट ने भी वाच्य अर्थात् अभिधेय अर्थ को 'मुख्य' कहा है। वह शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है। उसे 'मुख्य' कहने का अभिप्राय मात्र इतना ही है कि यह आरम्भ में प्रतीत होता है। मुख्य शब्द का 'परमप्रतिपाद्य' अर्थ भी होता है, किन्तु मम्मट को वह अर्थ अभिप्रेत नहीं है।[4]

आचार्य मम्मट ने भी चार प्रकार के वाच्य अर्थ माने हैं जिनमें शब्द का सङ्केत रहता है। ये अर्थ हैं – जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा ।[5] वाच्यार्थ बोधन की प्रक्रिया में सङ्केतग्रह अत्यावश्यक है। जिस शब्द में सङ्केतग्रहण नही रहता उससे अर्थ की

---

1. एवं पचतीत्यादौ डित्थशब्दादौ डित्थादौ च संज्ञिनि वाच्यम्। अत्राप्येकस्या एव पाकादि-क्रियाव्यक्तेः डित्थादिशब्दव्यक्तेः डित्थादेश्च संज्ञिनो यथाक्रममभिव्यञ्जकानां पाकादीनां तथा ध्वनीनां वयोऽवस्थाविशेषाणां कौमारादीनां च यो भेदस्तद्वशेन नानाविधेन रूपेणावभासमानत्वात् स्थितमेतच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तानां चतुष्ट्वान्मुख्यः शब्दार्थश्चतुर्विधः। (अ० वृ० मा०, पृ० 10)।
2. साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 41) ।
3. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 53) ।
4. ----पूर्वमुपलभ्यमानत्वात्, न तु विश्रान्तिधामत्वात् मुख्य इति प्रसिद्धो वाच्योऽभिधेयोऽर्थः। (श० व्या० वि०, पृ० 1) ।
5. (क) जातिः क्रिया गुणः संज्ञा वाच्योऽर्थः समितध्वनिः। (श० व्या० वि०, पृ० 1)।
(ख) सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 43) ।

प्रतीति नहीं होती।[1] शब्द-सङ्केत की सहायता से ही अर्थ प्रतिपादन कराता है इस कारण मम्मट ने अर्थ को 'समितध्वनि' भी कहा है।[2]

मम्मट का सङ्केतग्रह–विभाग पूर्णतया व्याकरणाभिमत है। जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा रूप चार प्रकार के अर्थों में शब्द का सङ्केत होने से सङ्केतग्रह चार प्रकार का होता है। ये जात्यादि चार प्रकार की उपाधियाँ हैं जिनमें शब्दों का सङ्केत रहता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है अतः व्यक्ति में ही सङ्केत मानना चाहिए, यह व्यक्तिशक्तिवादियों का तर्क हो सकता है। इस प्रकार की सम्भावना को उठाकर मम्मट इसका उत्तर देते हैं कि यद्यपि आनयन, अपनयन आदि रूप अर्थक्रिया का निर्वाहक होने से प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार के योग्य व्यक्ति ही होता है तथापि आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष के कारण व्यक्ति में सङ्केत मानना उचित नहीं होता ।[3] यदि व्यक्ति में सङ्केत माना जायेगा तब व्यक्तियों के अनन्त होने के कारण सङ्केत भी अनन्त मानने पडेंगे क्योंकि जिस व्यक्तिविशेष में सङ्केतग्रह होगा उससे उसी व्यक्तिविशेष का बोध होगा, उससे भिन्न व्यक्ति के बोध हेतु भिन्न सङ्केत मानना पड़ेगा। इस प्रकार आनन्त्य दोष हो जाएगा। यदि इस आनन्त्य दोष से निवृत्ति हेतु यह मान लिया जाए कि किसी एक व्यक्ति में ही सङ्केत मानकर उसी से व्यवहार चला लिया जाता है तब यह नियम व्यभिचरित हो जाता है कि सङ्केतग्रह के पश्चात् ही अर्थोपस्थिति होती है। इस प्रकार व्यक्ति में सङ्केत मानने से व्यभिचार दोष भी उपस्थित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यदि एक ही व्यक्ति में सङ्केतग्रह मान लिया जाये तब महाभाष्यकार को अभिमत चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति भी नहीं उपपन्न हो सकती।[4] 'गौः शुक्लः चलो डित्थः' इत्यादि में 'गौः' जातिवाचक है, 'शुक्लः' गुणवाचक, 'चलः' क्रिया वाचक तथा 'डित्थः' संज्ञावाचक । केवल व्यक्ति में सङ्केत मानने पर इन

1. अगृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति। (श० व्या० वि०, पृ० 1) ।
2. समितध्वनि का अर्थ है – समय अर्थात् सङ्केत से युक्त है ध्वनि अर्थात् शब्द जिसमें। तेन समितः सङ्केतितो ध्वनिः शब्दो यत्र------। (श० व्या० वि०, पृ० 1) ।
3. इह यद्यपि प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयो व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं न पार्यते इति। (श० व्या० वि०, पृ०1)।
4. गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनामेकार्थत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति च शब्दानामुपाधावेव सङ्केतः। (श० व्या० वि०, पृ० 1) ।

सबका अर्थ व्यक्ति ही होगा, ऐसी दशा में चारो शब्द घटः, कलशः की भाँति पर्याय होने से साथ प्रयुक्त नहीं हो सकेंगे। किन्तु व्यवहार में इनका (चारों का) साथ प्रयोग देखा ही जाता है। इन्हीं कारणों से शब्दों की जात्यादिरूप चार प्रकार की उपाधियों में ही सङ्केत मानना उचित है । इससे उपर्युक्त दोष नहीं होंगे।

शब्दों का सङ्केत उसकी उपाधियों में दर्शाते हुए जिस प्रकार मुकुलभट्ट ने उपाधियों का वर्गीकरण करके उसके चार प्रकार माने हैं, मम्मट ने भी उसी प्रकार से उपाधियों के चार भेद माने हैं। वस्तुधर्म नामक उपाधि के सिद्ध एवं साध्य भेदों में सिद्ध उपाधि के जाति एवं गुण रूप जो दो प्रकार होते हैं, उनमें जाति पदार्थों का प्राणप्रद धर्म है तथा गुण विशेषाधानहेतु। गुण व्यक्तियों का सजातीय व्यावर्तक धर्म है।[1]

साध्य नाम की उपाधि क्रिया रूप होती है। यह वस्तु के साध्यावस्था का धर्म है। मम्मट ने इसे 'पूर्वापरीभूतावयवरूप' कहा है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि इसमें एक के बाद दूसरा अंश निरन्तर घटित होता रहता है। जैसे 'पचति' क्रिया में ओदन पकाने के लिए अग्नि पर पात्र का रखना, तण्डुल के अवयवों का शिथिलीकरण, पात्र

---

1. (क) उपाधिश्च वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। आद्यः सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः, पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। आद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये - 'गौर्हि स्वरूपेण न गौः, नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः'- इति। द्वितीयो गुणः। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशेष्यते। (श० व्या० वि०, पृ० 4) ।
(ख) मुकुलभट्ट के समान ही मम्मट ने भी 'वाक्यपदीय' का कहते हुए 'गौर्हि स्वरूपेण - - - - - ' इत्यादि जो पंक्ति उद्धृत की है वह भर्तृहरि कृत 'वाक्यपदीय' में नहीं प्राप्त होती। इस सम्बन्ध में पं० श्रीजगदीशशास्त्री ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति निर्मित की थी जो कि वर्तमान समय में अनुपलब्ध है, सम्भवतः उसमें यह वाक्य रहा हो। अथवा यह भी सम्भव है कि पूर्ववर्ती आचार्य मुकुलभट्ट के उद्धरण को ही विश्वसनीय मानकर मम्मट ने भी अपने ग्रन्थों में इस वाक्य को उद्धृत कर दिया। श्रीजगदीशशास्त्री का यह विचार युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। (आधार - ध्वनि प्रस्थान में आचार्य मम्मट का अवदान, पृ० 91) ।
(ग) मम्मट के परवर्ती ग्रन्थों में भी 'गौर्हि स्वरूपेण - - - ' इत्यादि वाक्य उद्धृत किया गया है तथा उसे 'वाक्यपदीय' का बताया गया है ।जैसे -न हि कश्चित्पदार्थो जातिसम्बन्धमन्तरेण स्वरूपं प्रतिलभते। यदुक्तं वाक्यपदीये - 'गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौर्गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः' इति। (काव्यानुशासनम्, पृ० 27) । नरेन्द्रप्रभसूरि ने अपने ग्रन्थ में लिखा है -
नहि जातिं विना पदार्थः सत्तामात्रमप्यासादयति। यदुक्तं वाक्यपदीये - 'गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौर्गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः' । (अ० म०, पृ० 15) ।
2. साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः। (श० व्या० वि०, पृ० 4) ।

को उतारना इत्यादि कार्य होता रहता है। इसी प्रकार 'गच्छति' क्रिया में एक पैर का उठना, भूमि पर पड़ना तदनन्तर दूसरे पैर का उठते हुए आगे बढ़ना इत्यादि अंश घटित होते हैं। इसी कारण क्रिया को क्रमिक रूप से घटित होने वाले अवयवों से युक्त कहा गया है। आचार्य भर्तृहरि ने भी क्रिया की परिभाषा इसी प्रकार की है –

यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते।।[1]

वस्तु की चतुर्थ उपाधि वक्तृयदृच्छासन्निवेशित है जो संज्ञा रूप होती है। यह वस्तु के धर्म जाति, गुण, क्रिया से इसलिए भिन्न है क्योंकि यह वक्ता द्वारा अपने व्यवहार हेतु किसी व्यक्तिविशेष के लिए कल्पित संज्ञा मात्र है। जैसे डित्थादि शब्द। ये डित्थादि शब्द वर्णों के क्रम से रहित स्वरूप वाले होते हैं। इनमें अन्तिम वर्ण के श्रवण के पश्चात् पूर्व-पूर्व वर्ण के संस्कार से उत्पन्न शब्द का स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है। इसे ही वक्ता अपनी इच्छा से उसके अर्थों मे उपाधि रूप से सन्निविष्ट कर देता है। इस प्रकार से 'डित्थ' संज्ञा शब्द का अर्थ होता है – 'डित्थ नामधारी गो विशेष'।[2]

शब्दों की इन चार उपाधियों से 'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इत्यादि चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है।[3] उपाधियों के प्रसङ्ग में आचार्य मम्मट ने 'परमाणुत्व' आदि को जाति माना है। उनके अनुसार परमाणुत्व आदि की न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'परिमाण' नामक गुणों के मध्य गणना की गई है वह पारिभाषिक ही है।[4] जिस प्रकार लोक में गुण, वृद्धि आदि का जो अर्थ प्रचलित है उससे भिन्न कुछ विशेष अर्थ में ही व्याकरण-शास्त्र में उनका प्रयोग होता है। उसी प्रकार जाति होते हुए भी परमाणुत्वादि की गुणों में गणना हुई है। जिस प्रकार 'गोत्व' रूप धर्म के कारण किसी पशुविशेष को गो कहा जाता है उसी प्रकार परम अणु परिमाण जिसमें है उसे परमाणु कहा जाता है, यह उसका जातिगत धर्म है।[5]

---

1. वा० प०, (3), क्रिया समुद्देश्य, 1।
2. डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधितया सन्निवेश्यते इति च संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। (श० व्या० वि०, पृ० 4)।
3. गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्भाष्ये कथिता। (श० व्या० वि०, पृ० 4)।
4. परमाणुत्वादीनां तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्। (श० व्या० वि०, पृ० 4)।
5. न खलु स्वयं परमाणुः, नाप्यपरमाणुः परमाणुत्वयोगात्तु परमाणुरिति। (का० प्र०, का० प्र० और 16. टीकाएँ, सङ्केत, पृ० 209)।

मम्मट के अनुसार जातिशक्तिवाद का खण्डन

'काव्यप्रकाश' में आचार्य मम्मट ने - 'सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा'[1] कहते हुए जातिशक्तिवादियों का भी पक्ष दर्शाया है। 'शब्दव्यापारविचार' में पूर्वपक्षीय सम्भावना के रूप में जातिवाद का पक्ष रखते हुए उसका खण्डन किया है, जिस प्रकार मुकुलभट्ट ने किया है।

जातिवादियों का यह तर्क हो सकता है कि गुण, क्रिया तथा संज्ञा शब्दों में भी जाति माननी पड़ती है अतः सभी शब्दों की प्रवृत्ति जातिरूप अर्थ के प्रति होने से चतुष्टयी शब्द-प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती। दुग्ध, शङ्ख आदि आश्रयों के अनेक होने से उनमें रहने वाले शुक्ल गुण भी अनेक हैं। उनमें एकत्व की प्रतीति 'शुक्लत्व जाति' के कारण होती है। गुड, तण्डुलादि के भेद से पाकादि क्रिया भी अनेक होती है, उनमें भी पाकत्व जाति माननी चाहिए, उसी प्रकार शुक, सारिका आदि वक्ताओं के भेद से डित्थादि संज्ञा शब्द भी अनेक होते हैं अतः उनमें डित्थत्वादि शब्द जाति अथवा प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले डित्थादि अर्थों में एकाकारता की प्रतीति हेतु डित्थत्वादि अर्थजाति माननी चाहिए ।[2]

मम्मट ने इसका खण्डन करते हुए तर्क दिया है कि व्यक्तिगत शरीर में संस्थान (अवयवों की स्थिति), अवस्थान (आकृति), प्रमाण (ऊँचाई, नीचाई), वर्ण (रंग) के कारण भिन्नता रहती है। उदाहरण स्वरूप चितकबरापन एवं धवलता आदि वर्णों के भेद से गो व्यक्तियों में भिन्नता होती है, किन्तु उनमें गोत्व जाति एक ही होती है जिससे व्यक्तिगत भेद होते हुए भी सभी को एक ही 'गो' शब्द से अभिहित किया जाता है।[3] इसी प्रकार गुण, क्रिया और संज्ञा शब्द भी भिन्न-भिन्न स्थानों में एकरूप होते हुए भी भिन्न प्रतीत होते हैं। इनकी भिन्नता का कारण आश्रय भेद है। जिस प्रकार एक ही मुख्य खड्ग, दर्पण तथा तेल आदि में प्रतिबिम्बित होने पर एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है[4], इसका कारण आश्रय भेद ही है। हंस एवं मुक्ताहार

1. का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 43।
2. ननु पयःशङ्खाद्याश्रयिभूतेषु शुक्लादिगुणेषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययौ स्तः, तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुलादिपाकेष्वेवमेव पाकत्वादिकम्। शुकसारिकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च डित्थादिशब्दत्वम्, प्रतिक्षणं भिद्यमाने वा डित्थाद्यर्थे डित्थादित्वमस्तीति कथं चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। (श० व्या० वि०, पृ० 4) ।
3. संस्थानावस्थानप्रमाणवर्णैर्भेदेऽपि व्यक्तीनां शाबलेयो गौः, धावलेयो गौरित्याद्येकप्रत्ययहेतुत्वं जातेरेव। (श० व्या० वि०, पृ० 5) ।
4. गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्। (का० प्र० उ०, पृ० 50) ।

दोनों में वस्तुतः शुक्लगुण एक ही रहता है। घृत, गुड आदि की पाकक्रिया भी एक ही है शुक सारिका आदि द्वारा उच्चरित डित्थ शब्द अथवा अनेक स्थिति में परिवर्तित होते डित्थादि अर्थों में एकता रहती ही है। स्पष्ट है कि गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों के एक होने के कारण इनमें एकाकारक प्रतीति कराने वाली जाति को मानने की आवश्यकता ही नहीं है। ये तीनों जाति रूप ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस स्थिति में शब्दों की प्रवृत्ति के निमित्त चार ही हैं।[1]

आचार्य मुकुलभट्ट एवं मम्मट ने संङ्केतितार्थ के विषय में पतञ्जलि की चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति को ही स्पष्ट स्वीकृति प्रदान की है। महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि ने दो प्रमुख वैयाकरणों का मत भी उल्लिखित किया है- वाजप्यायन एवं व्याडि। इनमें वाजप्यायन जाति शक्तिवाद को मानने वाले हैं तो व्याडि द्रव्यशक्तिवादी (व्यक्तिशक्तिवादी) हैं। महाभाष्य में तर्क-वितर्क पूर्वक इन दोनों आचार्यों का मत तथा इनका समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया हैं।

वाजप्यायन का मत

महाभाष्य से ज्ञात होता है कि वाजप्यायन के मत में जाति को शब्द की वाचक शक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।[2] उदाहरण स्वरूप जब 'गौः' इस शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उसका अर्थ 'गोत्व' सामान्य होता है न कि कोई काली अथवा लाल रंग वाली विशिष्ट गाय।[3] रूप, अवस्था, स्थान विशेष से सम्बद्ध, भिन्न-भिन्न गायों के लिए एक ही गो शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि एक वर्ग के सभी व्यक्तियों का एक सामान्य रूप होता है जिसे 'जाति' अथवा 'सामान्य' कहा जाता है। महाभाष्य के अनुसार व्यक्तिवादियों का यह तर्क हो सकता है कि कारक

---

1. हंसहारादीनां घृतगुडादीनां शुकसारिकाद्युदीरितडित्थादिशब्दानां नानावस्थडित्थाद्यर्थानां च भेदेऽपि 'हंसः शुक्लः', 'हारः शुक्लः', 'घृतं पच्यते', 'गुडं पच्यते', 'डित्थशब्दो डित्थशब्दः', 'डित्थो डित्थ' इत्येकाकारावगतिनिबन्धनत्वादेकरूपत्वमेव गुणक्रियायदृच्छानामिति नैतासां भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुः जातिर्घटत इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि। (श० व्या० वि०, पृ० 5) ।
2. आकृत्यभिधानाद्वा एकं शब्दं विभक्तौ वाजप्यायन आचार्यो न्याय्यं मन्यते। एका आकृतिः, साचाभिधीयते इति। (म० भा०, (2), 1. 2. 3, पृ० 90) ।
3. (क) न हि गौरित्युक्ते विशेषः प्रख्यायते-शुक्ला नीला कपिला कपोतिकेति। (म० भा० (2), 1.2. 3, पृ० 90) ।

   (ख) गौरित्येतेन शब्देनोक्ते प्रत्यायिते सामान्यलक्षणेर्थे विशेषानवधारणादैक्यं सामान्यस्यावसीयत इत्यर्थः। (म० भा० (2), प्र०, 1.2.3, पृ० 90-91) ।

सम्बन्ध का अन्वय व्यक्ति के साथ होता है जाति में इसकी योग्यता नहीं होती। इसका उत्तर जातिवादी यह दे सकते हैं कि व्यक्ति को किसी भी दशा में शब्द का वाच्यार्थ नहीं माना जा सकता। व्यक्तियों की संख्या असीम होने से शब्द द्वारा उन सभी का अभिधान सम्भव नहीं है।[1] इसके अतिरिक्त यदि एक शब्द किसी व्यक्तिविशेष का अभिधान करे तो इसके अनुसार असंख्य व्यक्तियों के लिए असंख्य शब्द की कल्पना करनी होगी।[2]

व्यवहार में यह देखा जाता है कि किसी बालक को गो शब्द का अर्थ समक्ष उपस्थित पशुविशेष बताया जाता है तत्पश्चात् वह बालक अन्य स्थान पर पूर्व दृष्ट गाय से भिन्न गाय को देखकर उसकी व्यक्तिगत भिन्नता को न देखते हुए उसे गो शब्द से ही संज्ञित कर देता है।[3] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि कोई विशेष गाय ही गो शब्द का वाच्यार्थ होती तो बालक दूसरी गाय के लिए यह शब्द नहीं प्रयुक्त करता।

एक ही जाति एक समय में अनेक स्थानों पर उपलब्ध हो सकती है। जैसे एक सूर्य अनेक स्थानों पर एक साथ उपलब्ध होता है उसी प्रकार जाति भी विभिन्न व्यक्तियों में उपलब्ध होती है।[4] इसी तथ्य को एक अन्य उदाहरण से भी स्पष्ट किया गया है कि जैसे इन्द्र एक होते हुए भी एक समय में विभिन्न यज्ञों में आहूत होने पर उन सबमें उपस्थित रहते हैं उसी प्रकार जाति भी अनेक व्यक्तियों से सम्बद्ध रहती है।[5]

यदि अनेक व्यक्ति एक ही सत्ता से सम्बद्ध न होते तो एक ही शब्द भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का अभिधान न कर पाता। धर्मशास्त्र आदि के वचनों से भी जाति रूप पदार्थ की सिद्धि होती है । 'ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिए' इस विधि वाक्य में

---

1. व्यक्तीनां त्वानन्त्यात्तासु न शक्तिग्रहो, नापि शुद्धानां तासां बोधः, तासां विशेषरूपत्वेन विशेषावगतिप्रसङ्गात्। (म० भा० (2), उ०, 1. 2. 3, पृ० 91)।
2. जात्युपलक्षितस्य द्रव्यस्य शब्देनाभिधाने सत्यभिधेयानेकत्वेनाऽनेकशब्दत्वप्रसङ्गात्। (म० भा० (2), प्र०, 1. 2. 3. पृ० 93)।
3. गौरस्य कदाचिदुपदिष्टो भवति। स तमन्यस्मिन्देशेऽन्यस्मिन्कालेऽन्यस्यां च वयोऽवस्थायां दृष्ट्वा जानाति अयं गौरिति। (म० भा० (2), 1. 2. 3, पृ० 91)।
4. तद्यथा एक आदित्योऽनेकाधिकरणस्थो युगपदुपलभ्यते (म० भा० (2), 1. 2. . 3, पृ० 92)
5. तद्यथा एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत्सर्वत्र भवति। एवमाकृतिर्युगपत्सर्वत्र भविष्यति। (म० भा० (2), 1. 2. 3, पृ० 92)।

यदि 'ब्राह्मण' पद का अर्थ 'ब्राह्मणविशेष' होगा तो इसका यही अर्थ निकलेगा कि एक ब्राह्मणविशेष को छोड़कर अन्य किसी भी ब्राह्मण को मारने में कोई हानि नहीं है।[1]

जाति को शब्दार्थ मानने के विपक्ष में व्यक्तिवादा का एक यह भी तर्क हो सकता है कि यदि एक वर्ग के सभी व्यक्तियों का समावेश करने वाली जाति ही शब्द का अर्थ है तो इससे समस्या यह उत्पन्न हो जाएगी कि जाति के विषय में कही हुई कोई बात तब तक नहीं समझी जा सकेगी जब तक उस वर्ग के सभी व्यक्तियों को दृष्टिगत न किया जाए। इसका खण्डन जातिवादी मतानुसार इस प्रकार है कि वस्तुतः जाति व्यक्तियों का समुच्चय नहीं है और न ही उनमें सामूहिक रूप में समवेत है। जाति का एक व्यक्ति विशेष से भी वही सम्बन्ध है जो अन्य व्यक्तियों से है। जाति प्रत्येक व्यक्ति में स्वतन्त्र तथा स्वतः पूर्ण रूप से रहती है। इससे स्पष्ट है कि जाति को शब्दार्थ मानने पर किसी एक गाय को लाने की बात कहने पर समस्त गायों को नहीं लाना पड़ेगा। किसी भी एक गो व्यक्ति को लाने पर 'गामानय' आदेश पूर्ण हो जाएगा।[2] इस प्रकार जाति को ही शब्दार्थ मानना चाहिए।

व्याडि का मत

आचार्य व्याडि शब्द का वाच्यार्थ द्रव्य (व्यक्ति) को मानते हैं। इन्होंने जातिवाद का खण्डन किया है। व्याडि ने 'संग्रह' नामक एक लाख श्लोक वाला ग्रन्थ लिखा जो कि वर्तमान समय में अनुपलब्ध है। 'संग्रह' के उद्धरण कात्यायन के वार्तिक में मिलते हैं। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इसकी चर्चा की है।[3]

व्याडि के अनुसार लिङ्ग एवं संख्या का अन्वय केवल द्रव्य (व्यक्ति) के साथ

---

1. एवं च कृत्वा धर्मशास्त्रं प्रवृत्तम् 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'सुरा न पेये'ति, ब्राह्मणमात्रं च न हन्यते, सुरामात्रं च न पीयते। यदि द्रव्यं पदार्थः स्यात्, एकं ब्राह्मणमहत्वा एकां च सुरामपीत्वाऽन्यत्र कामाचारः स्यात्।' (म० भा०, (2), 1. .2. . 3, पृ० 92) ।
2. सर्वाभिर्व्यक्तिभिः सम्बन्धस्य तुल्यत्वात् सर्वत्रैवाभिन्नबुद्ध्युत्पादनात् प्रत्येकं परिसमाप्तत्वादेकस्मिन्नपि द्रव्ये तत्कर्म क्रियमाणं जातौ कृतमेव भवतीत्यर्थः। (म० भा० (2), प्र०, 1. .2. .3, पृ० 93) ।
3. (क) द्रव्याभिधानं व्याडिराचार्यो न्याय्यं मन्यते द्रव्यमभिधीयते इति। (म० भा० (2), 1. . 2. .3, पृ० 94) ।
(ख) संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम् - नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति। - - - - । इस महाभाष्य पर उद्योत टीका-संग्रहः - व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः । (म० भा० (1), 1. .1. .1, पृ० 58) ।

होने से व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानना चाहिये। व्यक्ति को शब्दार्थ मानने से पुल्लिङ्ग मे 'ब्राह्मण:' स्त्रीलिङ्ग में 'ब्राह्मणी' द्विवचन में 'ब्राह्मणौ' बहुवचन में 'ब्राह्मणा:' आदि प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं।[1]

क्रियाओं का सहज एवं स्वाभाविक सम्बन्ध केवल द्रव्य के साथ ही होता है अत: द्रव्य को ही शब्दार्थ मानना चाहिए।

जातिवादियों को मान्य एक ही सत्ता की अनेक अधिकरणों में एक ही समय में उपलब्धि भी सम्भव नहीं हो सकती। एक ही देवदत्त स्रुग्घ्न देश में तथा मधुरा में एक साथ नहीं रह सकता।[2] जाति को शब्दार्थ मान लेने पर 'कुत्ते की मृत्यु हो गई' या 'गौ का जन्म हुआ' जैसे वाक्यों में 'कुत्ते' तथा 'गौ' का अर्थ हुआ वे असंख्य द्रव्य जिनमें जाति समवेत है। ऐसी दशा में एक कुत्ते के मृत हो जाने पर सम्पूर्ण श्वान जाति को समाप्त हो जाना चाहिए तथा एक गो के जन्म लेने पर सभी गायों को जन्म लेना चाहिए। परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत देखी जाती है। इसलिए सिद्ध है कि शब्द का अर्थ द्रव्य ही होता है।[3]

महाभाष्य पर उद्योत टीका के रचयिता नागेशभट्ट ने जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध की समस्या पर प्रश्न उठाया है। प्रत्येक व्यक्ति में समवेत मानी जाने वाली जाति एक-एक व्यक्ति में अपने समग्र रूप में समवेत होती है अथवा समस्त व्यक्तियों में सामूहिक रूप में समवेत होती है जाति यदि एक व्यक्ति में सम्पूर्ण रूप से समवेत हो जाती है तो वह अन्य व्यक्तियों में समवेत नहीं होगी और यदि समस्त व्यक्तियों में सामूहिक रूप में समवेत रहती है तो इसका ज्ञान तभी सम्भव हो सकेगा जबकि इसको आकार देने वाले सभी व्यक्ति एक साथ एक ज्ञान का विषय हो सके। व्यवहार में ऐसा दृष्टिगोचर नही है अत: जाति को शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता।[4]

---

1. एवं च कृत्वा लिङ्गवचनानि सिद्धानि भवन्ति। ब्राह्मणी ब्राह्मण: ब्राह्मणौ ब्राह्मणा इति। (म० भा० (2), 1.2.3, पृ० 94-95)।
2. न खल्वप्येकमनेकाधिकरणस्थं युगपदुपलभ्यते। नह्येको देवदत्तो युगपत्स्रुघ्ने भवति मथुरायां च। (म० भा० (2), 1.2.3, पृ० 95)।
3. विनाशे प्रादुर्भावे च सर्वं तथा स्यात्। (भाष्यम्) किम्? विनश्येच्च प्रादुष्याच्च। 'श्वामृत:' इति श्वा नाम लोके न प्रचरेत्। 'गौर्जात' इति सर्वं गोभूतमनवकाशं स्यात्। (म० भा०, (2), 1.2.3., पृ० 95)।
4. जातिर्न तावद्द्रव्येषु व्यासज्यवृत्ति:, एकाश्रयनाशेऽप्रतीत्यापत्ते:। किं च गामालभेतेत्यादिनोदनासु सर्वद्रव्यालम्भापत्ति:। प्रत्येकसमाप्तौ तु द्रव्यान्तरे तदनापत्तिस्तत्रापि सत्त्वे एकाकृतिरिति प्रतिज्ञाहानिरित्यर्थ:। (म० भा० (2), उ०, 1. 2. 3, पृ० 94)।

प्रत्येक व्यक्तियों में एक दूसरे से भिन्नता होती है। जाति को पदार्थ मानने पर यह प्रश्न उठेगा कि व्यक्ति के साथ अभेद सम्बन्ध से सम्बन्धित जाति के आश्रय भिन्न-भिन्न कैसे हो सकते हैं ? एक ही वस्तु को भिन्न तथा अभिन्न दोनों नहीं माना जा सकता। 'गौश्च गौश्च' इस विग्रह में दोनों पद दो भिन्न सत्ताओं को सूचित करते हैं। दोनों का यदि एक ही अर्थ मान लिया जाए तब इनका एक साथ प्रयोग पर्यायवाची पदों के समान असङ्गत हो जाएगा।[1]

द्रव्य ही अभिधेय होते हैं इसका समर्थन धर्मशास्त्र के आदेशों से भी हो जाता है। जाति को शब्दार्थ मानने पर 'गौरनुबन्ध्य:' आदि शास्त्रविधियों में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है इस वाक्य में एक व्यक्ति के आलम्भन में तात्पर्य है- समस्त गो जाति में नहीं। शब्द से जाति का अभिधान हो और आलम्भन व्यक्ति का हो यह तर्कसङ्गत नहीं है।[2]

इन्हीं कारणों से व्यक्तिवादियों ने व्यक्ति को ही शब्द का अर्थ माना है जाति को नहीं।

वाजप्यायन एवं व्याडि के मत का समन्वय

वाजप्यायन के जातिशक्तिवाद एवं व्याडि के व्यक्तिशक्तिवाद रूप एक-एक पक्ष की जहाँ महाभाष्यकार ने विस्तृत रूप से व्याख्या की है वहीं इन दोनों मतों का तर्क सहित समन्वय भी प्रस्तुत किया है। पतञ्जलि का मत है कि जातिवादी का जाति को पदार्थ कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि उस समय व्यक्ति का बोध होता ही नहीं है। इसी प्रकार व्यक्तिवादी जब व्यक्ति को पदार्थ कहता है तो वहाँ भी जाति अवश्य ही रहती है। वस्तुत: इन दोनों का मतभेद जाति एवं द्रव्य की प्रधानता तथा गौणता को लेकर है। जब जाति की प्रधानता होती है तब शब्द का अर्थ जाति होता है तथा व्यक्ति भी गौणरूपेण वहाँ उपस्थित रहता है। उसी प्रकार व्यक्ति की प्रधानता होने पर व्यक्ति को शब्दार्थ माना जाता है किन्तु अप्रधानतया वहाँ जाति भी अवश्य ही रहती है।[3]

1. एवं च कृत्वा विग्रह उपपन्नो भवति - गौश्च गौश्चेति। (म० भा० (2), 1. .2. .3, पृ० 96)।
2. आकृतौ चोदितायां द्रव्ये आरम्भणालम्भनप्रोक्षणविशसनादीनि क्रियन्ते। (म० भा० (2), 1.2.3, पृ० 95)।
3. (क) नह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थ:, द्रव्यपदार्थकस्य वा आकृतिर्न पदार्थ:। उभयोरुभयं पदार्थ:। कस्यचित्किञ्चित्प्रधानभूतं किञ्चिद् गुणभूतम् । आकृतिपदार्थकस्य आकृति: प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम् । द्रव्यपदार्थकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता। (म० भा० (2), 1.2.3, पृ० 98- 99)।

व्याडि ने लिङ्ग एवं वचन का अन्वय केवल व्यक्ति के साथ माना था। इसका समाधान महाभाष्यकार के अनुसार इस प्रकार हो जाता है कि जैसे गुणवाची शब्दों के लिङ्ग एवं वचन उनके विशिष्ट द्रव्यों के लिङ्ग एवं वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं जैसे शुक्ला पटी, शुक्लं वस्त्रम्, द्वे शुक्ले कम्बले इत्यादि। उसी प्रकार जाति भी द्रव्य के लिङ्ग वचन को अपना लेती है क्योंकि वह द्रव्य में समवेत रहती है।[1]

व्यक्तिवादी का यह कथन भी युक्तिसङ्गत नहीं है कि क्रियाओं का सम्बन्ध केवल व्यक्ति के साथ ही होता है। क्रियाओं का वास्तविक सम्बन्ध तो जाति से युक्त व्यक्ति के साथ ही होता है। इस तथ्य को महाभाष्य के 'प्रदीप' टीकाकार इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि यदि किसी व्यक्ति को अग्नि लाने का आदेश दिया जाता है तब वह व्यक्ति उसे पात्र में रखकर लाता है यद्यपि आदेश वाक्य में पात्र का कथन नहीं होता। उसी प्रकार जब जाति के लिए किसी क्रिया का विधान किया जाता है तब उसके साथ व्यक्ति सहज रूप से जुड़ा ही होता है।[2]

जाति के विषय में यह प्रश्न व्यक्तिवादियों के मतानुसार उठाया गया था कि एक ही सत्ता एक से अधिक आश्रयों में नहीं रह सकती। इसके समाधान स्वरूप सूर्य एवं इन्द्र का उदाहरण प्रस्तुत किया गया था। प्रदीपकार ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जाति विभु तथा नित्य अर्थात् देश काल की सीमा से परे हैं। व्यक्ति की उत्पत्ति एवं विनाश से जाति की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं सिद्ध किया जा सकता। जाति अपने अस्तित्व के लिए द्रव्य के आश्रित नहीं रहती। द्रव्य का विनाश हो जाने

(ख) किं पुनराकृतिः पदार्थः, अहोस्विद् द्रव्यम् ? उभयमित्याह। कथं ज्ञायते ? उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा-'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' इत्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा -'सरूपाणाम्'-इत्येकशेष आरभ्यते। (म० भा० (1), 1.1.1, पृ० 56)।

1. गुणवचनवद्वा लिङ्गवचनानि भविष्यन्ति। तद्यथा-गुणवचनानां शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति-शुक्लं वस्त्रम्, शुक्ला शाटी, शुक्लः कम्बलः, शुक्लौ कम्बलौ, शुक्लाः कम्बला इति। यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति गुणस्तस्य यल्लिङ्गं वचनं च तद्गुणस्यापि भवति। एवमिहापि यदसौ द्रव्यं श्रिता आकृतिस्तस्य यल्लिङ्गं वचनं च तदाकृतेरपि भविष्यति। म० भा० (2), 1. 2. 3, पृ० 99)।

2. यथाग्निरानीयतामित्युक्ते केवलस्याग्नेरानयनासंभवान्नान्तरीयकत्वादचोदितमपि पात्रमानीयते एतदेवाग्नेरानयनं यत् पात्रस्थस्य, तथा आकृतावारम्भणादीनि चोद्यमानानि सामर्थ्यात् साहचर्याद् द्रव्यमभिनिविशन्ते। (म० भा०, (2), प्र०, 1.2.3, पृ० 99)।

पर भी इसका विनाश नहीं होता।[1] वृक्ष के ऊपर चढ़ाया गया वितान वृक्ष के कट जाने पर भी अवशिष्ट ही रहता है। ऐसी ही स्थिति जाति की भी है। द्रव्यों में भिन्नता के कारण ही जाति भी भिन्न - भिन्न प्रतीत होती है।

व्यक्तिवादी का यह भी तर्क था कि अनेक और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में कोई एक जाति नहीं हो सकती। पतञ्जलि इसके उत्तर में स्पष्ट करते हैं कि अक्ष शब्द के पासे, ज्ञानेन्द्रिय तथा धुरी कई अर्थ हैं। इस प्रकार एक ही शब्द विविध वर्गों से सम्बद्ध विविध अर्थों को बोधित करता है। यहाँ अभिहित अर्थों में भिन्नता होते हुए भी एक अंश में समानता है वह है अश् धातु जिसका अर्थ है- व्याप्ति की क्रिया। यह सभी भिन्न अर्थों में समान है। इसी प्रकार जाति को भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से सम्बद्ध मानने में कोई दोष नहीं है।[2] इस प्रकार जाति और व्यक्ति दोनों को ही शब्दार्थ मानना चाहिए।

महाभाष्यकार का चतुर्विध शब्द-विभाग

महाभाष्य में जातिशक्तिवाद एवं व्यक्तिशक्तिवाद, दोनों ही मतों की एकाङ्गिता को दर्शाते हुए पतञ्जलि ने इनका समन्वय प्रस्तुत किया है। इसके साथ-साथ अपने चतुर्विध शब्द-विभाग सम्बन्धी मान्यता की व्याख्या भी की है। इन्होंने शब्दों की चार प्रवृत्तियाँ स्वीकार की है। - जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा ।[3] अर्थात् शब्दों की अर्थ के विषय में जो प्रवृत्ति होती है उस प्रवृत्ति के निमित्त चार प्रकार के होते हैं।[4]

पतञ्जलि से पूर्व पाणिनि ने 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० 1 .2 .58) सूत्र का निर्माण जाति को पदार्थ मान कर तथा 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ (1 .2 .58) का निर्माण व्यक्ति को शब्दार्थ मानकर किया है। 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (1 .4 .59) सूत्र क्रिया के विधान को मान्यता देता है।

---

1. द्रव्यविनाशे आकृतेरविनाशः। कुतः ? अनैकात्म्यात्। अनेक आत्मा आकृतेर्द्रव्यस्य च। तद्यथा- वृक्षस्थोऽवतानो वृक्षे छिन्नेपि न विनश्यति। (म० भा० (2), 1. .2. .3, पृ० 100) ।
2. विभिन्नार्थेषु च सामान्यात्सिद्धम्। सर्वत्र अश्नोतेरक्षः, पद्यतेः पादः, मिमीतेः माषः। तत्र क्रियासामान्यात्सिद्धम् । (म० भा० (2), 1. .2. .3, पृ० 101) ।
3. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः - जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः। (म० भा० (1), 1.1.2, पृ० 101) ।
4. शब्दानामर्थे या प्रवृत्तिः सा प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्प्रकारचतुष्टयवतीत्यर्थः। (म० भा० (1), उ०, 1 .1 .2, पृ० 101) ।

'पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन' (2.2.11) सूत्र द्वारा पूरणगुण आदि वाले तथा सत् आदि शब्दों से प्राप्त षष्ठी समास का निषेध किया है। यह सूत्र पाणिनि को मान्य गुण रूप पदार्थ को सिद्ध करता है। महाभाष्य में पतञ्जलि ने एक स्थल पर यदृच्छा शब्दों को न मानते हुए शब्दत्रयीवाद को स्वीकार किया है।[1] किन्तु अन्ततः इन्होंने चतुष्टयवाद की ही स्थापना की है। पतञ्जलि ने लोकव्यवहार में अर्थबोध कराने वाली ध्वनि को ही शब्द कहा है। इन्होंने पाणिनि के 'ऋलृक्' सूत्र की व्याख्या करते हुए इसका प्रयोजन स्पष्ट किया है। इसी लृकारोपदेश के सन्दर्भ में यदृच्छा शब्दों की स्थिति आती है।[2]

प्रदीपकार के अनुसार अर्थगत प्रवृत्तिनिमित्त की अपेक्षा किये विना ही जो शब्द वक्ता के अभिप्राय से प्रयुक्त होते है। वही यदृच्छा शब्द हैं। उद्योतकार का विचार है कि स्वेच्छा से एक व्यक्ति में सङ्केतित शब्द यदृच्छा शब्द है।[3] पतञ्जलि की ऐसी मान्यता है कि पाणिनि ने लृकार का उपदेश यदृच्छा शब्दों के लिए ही किया है। जैसे –किसी का नाम 'लृतक' रख दिया जाता है तो यह नाम यदृच्छा शब्द ही है। 'लृतक' शब्द के परे रहते भी अच् निमित्तक कार्य हो सके इसके लिए लृकार का उपदेश सार्थक है। जैसे किसी ने कहा – 'दध्य्लृतकाय देहि', 'मध्वलृतकाय देहि' इन स्थलों में लृतक के लृकार को अच् मानकर उसके परे रहते क्रमशः दधि एवं मधु के इ, उ के स्थान पर यण् हुआ है। इसी प्रकार जैसे – 'उंदङ्ङ्लृतकोऽगमत्', 'प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत्' में उदङ् तथा प्रत्यङ् से परे लृतक का अच् अर्थात् लृकार है इसी कारण यहाँ ङ्मुट का आगम हुआ है।[4] इन्हीं कारणों से पतञ्जलि के अनुसार शब्दों का प्रयोग चार प्रकार का देखा जाता है– जातिशब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द तथा यदृच्छा शब्द।

---

1. त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः – जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः। (म० भा० (1), 1.1.2, पृ० 103)।
2. अथ लृकारोपदेशः किमर्थः ? लृकारोपदेशो यदृच्छाऽशक्तिजानुकरणप्लुत्याद्यर्थः। (म० भा० (1), 1.1.2, पृ० 100-101)।
3. (क) अर्थगतं प्रवृत्तिनिमित्तमनपेक्ष्य यः शब्दः प्रयोक्त्रभिप्रायेणैव प्रवर्तते स यदृच्छाशब्दो डित्थादिः। (म० भा० (1), प्र०, 1. 1. 2, पृ० 101)।
   (ख) 'स्वेच्छयैकस्यां व्यक्तौ सङ्केत्यमानः शब्दः-यदृच्छाशब्दः' इति बोध्यम्। (म० भा० (1), उ०, 1. 1. 2, पृ० 101)।
4. यदृच्छाशब्दार्थस्तावत् – यदृच्छया कश्चिद् लृतको नाम। तस्मिन्नच्कार्याणि यथा स्युः – दध्य्लृतकाय देहि, मध्व्लृतकाय देहि, उदङ्ङ्लृतकोऽगमत्, प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत्। (म० भा० (1), 1.1.2, पृ० 101)।

यहाँ यदि यदृच्छा शब्द को न माना जाए तो लृकार के अस्तित्व को समाप्त करने के लिए सर्वत्र लृकार के स्थलों में ऋकार सिद्ध करना होगा। अतः यदृच्छा शब्दों की स्थिति को स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर है अन्यथा लृकार का उपदेश व्यर्थ हो जाएगा।

महर्षि पतञ्जलि का यही शब्द चतुष्टयवाद मुकुलभट्ट एवं मम्मट सहित अन्य परवर्ती साहित्यकारों के सङ्केतग्रह के उपाधि-चतुष्टय का भी आधार बना है। यदृच्छा शब्द को ही कहीं-कहीं संज्ञा शब्द के नाम से भी जाना जाता है।[1] साहित्यदर्पणकार यदृच्छा शब्द के स्थान पर द्रव्य शब्द प्रयुक्त करते हैं। इनके अनुसार केवल एक व्यक्ति के वाचक हरि, हर, डित्थ, डवित्थ, देवदत्त, यज्ञदत्तादि शब्दों को द्रव्य शब्द कहते हैं।[2] हेमचन्द्र ने भी 'यदृच्छा' शब्द के लिए 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है।[3]

---

1. .....संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति । (श० व्या० वि०, पृ० 4) ।
2. द्रव्यशब्दा एकव्यक्तिवाचिनो हरिहरडित्थडवित्थादयः। (सा० द०, पृ० 27) ।
3. अव्यवधानेन यत्र सङ्केतः क्रियते स मुखमिव हस्ताद्यवयवेऽभ्योऽर्थान्तरेभ्यः प्रथमं प्रतीयते इति मुख्यः, स च जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपः - - - - -। (काव्यानुशासनम्, पृ० 27) ।

तृतीय अध्याय

लक्षणावृत्ति - विवेचन

शब्द के साक्षात् संङ्केतित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है। उससे बोधित अर्थ ही मुख्यार्थ है जो कि शब्द से सर्वप्रथम जाना जाता है, परन्तु कभी-कभी मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ का वाक्य के पदों के साथ अन्वय असङ्गत हो जाता है अथवा मुख्यार्थ से तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती। फलतः मुख्यार्थ बाधित हो जाता है। ऐसी दशा में उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है। यह प्रतीति रूढि या प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन के प्रतिपादन के लिए ही होती है। इसी 'अन्य' अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' तथा उसकी बोधिका शक्ति को 'लक्षणाशक्ति' के नाम से जाना जाता है। उदाहरण के लिए 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा में बस्ती है) इस वाक्य का प्रवाह रूप मुख्यार्थ बाधित हो जाता है क्योंकि गङ्गा की धारा के साथ घोष का आधाराधेय सम्बन्ध नहीं बन सकता। इसलिए लक्षणा द्वारा गङ्गा पद का तट अर्थ निकलता है। यहाँ बस्ती में अतिशय शैत्य और पावनत्व की प्रतीति कराना ही इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग का प्रयोजन है।

मानव व्यवहार में इस प्रकार के प्रयोग अति साधारण हैं। शास्त्र-जगत् में शब्द की शक्ति के रूप में लक्षणा सुप्रतिष्ठित ही है।

लक्षणा को 'भक्ति' तथा 'गुणवृत्ति' के नाम से भी जाना जाता है। कहीं ये तीनों ही पर्यायावाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं तो कहीं 'भक्ति' अथवा 'गुणवृत्ति' को लक्षणा से अलग वृत्ति के रूप में मान्यता मिली है।

काव्यशास्त्र में ही हमें लक्षणा का विकसित रूप तथा शब्द की द्वितीय शक्ति के रूप में स्पष्ट स्थापना देखने को मिलती है, परन्तु इसके बीज वैदिक साहित्य, व्याकरण ग्रन्थों तथा दर्शन ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित लक्षणा की आधारभूमि मुख्यरूप से व्याकरण, मीमांसा तथा न्याय-दर्शन की तत् सम्बन्धी मान्यताएँ ही हैं।

वैदिक काल से ही लक्षणा के स्वरूप का सङ्केत मिलना प्रारम्भ हो गया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में भाक्त प्रयोग का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में

'भक्ति' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] यास्क ने 'निरुक्त' में '**बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणवाक्यानि भवन्ति**' कहकर ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति के रूप में लक्षणा का समर्थन किया है। स्वयं यास्क के ग्रन्थ 'निरुक्त' के द्वितीय अध्याय में लक्षणा का अङ्कुर देखा जा सकता है। यहीं कुछ वैदिक उदाहरणों को यास्क ने प्रस्तुत किया है। जिनमें लक्षणा की स्पष्ट झलक मिलती है। उदाहरण स्वरूप गमनार्थक 'पद्' धातु से निष्पन्न होने वाले पाद एवं पद शब्द मुख्यत: पशुओं के पैर के बोधक होते हैं। पशुओं के चार पैर होते हैं इसी सादृश्य के आधार पर चार चरण वाले श्लोक के प्रत्येक चरण को 'पाद' कह दिया जाता है। यह लाक्षणिक प्रयोग है। इस प्रकार किसी भी वस्तु के चतुर्थांश को पाद कहना भी लाक्षणिक प्रयोग ही है। इसी प्रकार गो शब्द का मुख्यार्थ पृथ्वी तथा गाय, बैल है। किन्तु वह उससे सम्बद्ध अन्य पदार्थों को भी प्रकट करता है। इस प्रकार का प्रयोग भी लाक्षणिक ही है।[2]

वैयाकरणों में पाणिनि ने 'पुंयोगादाख्यायाम्' (4.1.48) सूत्र की रचना की, जिसके अनुसार पुरुषवाची शब्दों से पुंयोग में स्त्री की आख्या में 'ङीष्' का विधान होता है। जैसे 'प्रष्ठस्य स्त्री', 'ब्राह्मणस्य स्त्री' आदि अर्थों में 'प्रष्ठ', 'ब्राह्मण' आदि से स्त्रीत्व की आख्या में उपर्युक्त सूत्र से ङीष् प्रत्यय करने पर प्रष्ठी, ब्राह्मणी शब्द निष्पन्न होते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ये शब्द तो मूलत: पुल्लिङ्ग हैं, ये स्त्रीलिङ्ग कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् भिन्न में अभिन्नता का ज्ञान, अतत् में तत् का ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है?[3] इसके समाधान का अन्वेषण महाभाष्यकार ने पाणिनि के सूत्रों में ही किया है – पाणिनि के 'तदर्हति' (5.1.63) तथा 'तदर्हम्' (5.1.17) सूत्र इस तथ्य का सङ्केत देते हैं कि इन्हें दो पदार्थों में योग्यता रूप सम्बन्ध अभिमत था। इसी के कारण भिन्न पदार्थ में भिन्न पदार्थ का अभेद आरोपित होता है इसी अभेद सम्बन्ध को स्पष्ट करने में लक्षणा की स्थिति आती है। पतञ्जलि ने अन्य में अन्य के धर्म के आरोप के लिए चार प्रकार माने हैं –

---

1. मरुतां सा भक्तिर्मरुत्वतीयमुक्थं शस्त्वा मरुत्वतीयया यजति यथाभागं तद्देवता: प्रीणाति। (ऐ० ब्रा०, 3. 12. 9, पृ० 452)।
2. (क) पाद: पद्यते:। तन्निधानात् पदम् । पशुपादप्रकृति: प्रभागपाद: । प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि । (निरुक्त, 2/7)।
   (ख) ज्यापि गौरुच्यते। गव्या चेत्ताद्धितम् । (निरुक्त, 2/5)
3. किं पुनरिहोदाहरणम् ? प्रष्ठी, प्रचरी। कथं पुनरयं प्रष्ठशब्दोऽकारान्त: स्त्रियां वर्तते? तस्येदमित्यनेनाभिसम्बन्धेन। यथैव ह्यसौ तत्कृतान् स्नानोद्वर्तनपरिषेकान् लभते, एवं प्रष्ठशब्दमपि लभते॥ (म० भा० (4), 4 .1. 2, पृ० 64-65)।

(1) तात्स्थ्य (2) ताद्धर्म्य (3) तत्सामीप्य (4) तत्साहचर्य[1]

1. इनमें तात्स्थ्य सम्बन्ध आधाराधेयभाव रूप होता है । यह सम्बन्ध लक्षणा का प्रयोजक है। मुख्य अर्थ के अनुपपन्न होने के बाद लक्षणा द्वारा जिस अन्य अर्थ का बोध होता है वह अर्थ मुख्यार्थ से किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है। तात्स्थ्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ में आधाराधेय सम्बन्ध होता है। महाभाष्यकार ने इस प्रकार के सम्बन्ध के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं – **'मञ्चाः हसन्ति'** तथा **'गिरिर्दह्यते'** ।[2] यहाँ प्रथम उदाहरण में मञ्च पर रहने वाले बालकों को भिन्न होते हुए भी आधाराधेय सम्बन्ध के कारण 'मञ्च' कह दिया गया है। यही तात्स्थ्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा है।

2 . जब गुणों या क्रिया की समानता के कारण एक वस्तु पर दूसरे का आरोप किया जाता है तब वहाँ ताद्धर्म्य सम्बन्ध होता है। इसका उदाहरण है **'जटीः ब्रह्मदत्तः'** यहाँ ताद्धर्म्य के कारण गुणों की समानता के आधार पर जो व्यक्ति ब्रह्मदत्त नहीं है उसे ब्रह्मदत्त कह दिया गया है।[3]

3 . सामीप्य सम्बन्ध के कारण होने वाली लक्षणा के लिए पतञ्जलि ने **'गङ्गायां घोषः** तथा **'कूपे गर्गकुलम्'** उदाहरण दिया है। यहाँ सामीप्य के कारण गङ्गा तट में गङ्गा का तथा कुएँ के तट में कुएँ का आरोप किया गया है।[4]

4. किसी वस्तु के साहचर्य के कारण वस्तुधारी व्यक्ति को उसी वस्तु के नाम से सम्बोधित कर दिया जाता है । ऐसे स्थलों में साहचर्य के कारण ही अन्य वस्तु में अन्य के धर्म का आरोप होता है। महाभाष्यकार ने **'कुन्तान् प्रवेशय'** तथा **'यष्टीः प्रवेशय'** उदाहरण तत्साहचर्य से होने वाली लक्षणा के लिए प्रस्तुत किया है। यहाँ अचेतन कुन्त एवं यष्टी के द्वारा प्रवेशन क्रिया बाधित है अतः उनके साहचर्य सम्बन्धी कुन्तधारी तथा यष्टीधारी पुरुषों का लक्षणा से बोध होता है।[5]

इस प्रकार पतञ्जलि ने काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित लक्षणा को अन्य में अन्य के

---

1. कथं पुनरतस्मिन् 'सः' इत्येतद्भवति ? चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् 'सः' इत्येतद्भवति – तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात् तत्साहचर्यादिति। (म० भा० (4), 4. .1. 2, पृ० 67)।
2. तात्स्थ्यात्तावत्– मञ्चाः हसन्ति गिरिर्दह्यते। (म० भा० (4), 4. .1. 2, पृ० 67)।
3. ताद्धर्म्यात् – जटिनं यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह। ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि जटिन्यपि तानि क्रियन्त इत्यतो जटी ब्रह्मदत्त इत्युच्यते। (म० भा० (4), 4. .1. 2, पृ० 67)।
4. तत्सामीप्यद् – गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलम् । (म० भा० (4), 4. 1. 2, पृ० 67)।
5. तत्साहचर्यात् – कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशयेति। (म० भा० (4), 4. 1. 2, पृ० 67)।

धर्म के आरोप रूप से ही सही आवश्यक मानते हुए अन्यत्र भी उसका स्वरूप स्पष्ट किया है। महाभाष्य में अनेक स्थलों पर 'उपचार' के रूप में लक्षणा के सङ्केत द्रष्टव्य हैं –

1. **युवत्वं लोके ईप्सितं पूजेत्युपचर्यते।** (म० भा० (4), 4.1.4, पृ० 153)।

2. **लोके हि संख्यां प्रवर्तमानामुपचरन्ति** । (म० भा० (4), 4.1.3, पृ० 132)।

इसके अतिरिक्त पतञ्जलि के द्वारा **'त्रैकाल्यं खल्वपि लोके लक्ष्यते'** वाक्यांश में प्रयुक्त 'लक्ष्यते' पद ही लक्षणा का मूल है।

भर्तृहरि प्रणीत 'वाक्यपदीयम्' में भी लक्षणा के स्पष्ट सङ्केत द्रष्टव्य हैं। भर्तृहरि के अनुसार शब्द में सभी प्रकार के अर्थों के बोधन की शक्ति होती है। प्रसिद्ध अर्थ के प्रतिपादन में शब्द की मुख्य वृत्ति प्रवृत्त होती है तथा अप्रसिद्ध अर्थ के प्रतिपादन में गौणवृत्ति।[1] गो शब्द का जो 'गोत्व' अर्थ होता है वह प्रसिद्ध होने के कारण मुख्य है तथा वाहीक अर्थ अप्रसिद्ध है। इस अप्रसिद्ध अर्थ में शब्द की प्रवृत्ति सादृश्य के निमित्त से होती है। इस प्रकार भर्तृहरि ने माना है कि अर्थ, प्रकरण तथा मुख्यार्थबाध आदि की अपेक्षा किए विना शब्द के श्रवण के पश्चात् ही जिस अर्थ का बोध होता है वह मुख्य अर्थ है। अर्थ, प्रकरण, मुख्यार्थबाध आदि के बाद जिस अर्थ का बोध होता है वह गौण अर्थ है।[2]

मीमांसकों के अनुसार लक्षणा

लक्षणा शब्द का प्रयोग मीमांसा-दर्शन में भी देखने को मिलता है। शाबरभाष्य में 'लक्षणा' शब्द का प्रयोग मीमांसा-दर्शन में लक्षणा की स्पष्ट स्थिति का सङ्केत देता है।[3] मीमांसकों में अग्रगण्य कुमारिलभट्ट की 'तन्त्रवार्तिक' में लक्षणा की परिभाषा एवं इसकी विस्तृत व्याख्या मिलती है।

मीमांसकों ने 'गौणी' एवं 'लक्षणा' को भिन्न-भिन्न वृत्तियों के रूप में स्वीकार किया है। कुमारिलभट्ट ने भी गौणी तथा लक्षणा को भिन्न - भिन्न ही माना है। इनके

1. सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपवर्ण्यते।। (वा० प०, 2. 253)।
2. श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
मुख्यं तमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्।। (वा० प०, 2. 278)।
3. (क) लक्षणाऽपि हि लौकिकी। (शा० भा०, मी० द० (2), पृ० 39)।
(ख) लौकिकी हि लक्षणा हठोऽप्रसिद्धकल्पेति। (शा० भा०, मी० द० (2), पृ० 275)।

मतानुसार अभिधेय से अविनाभूत अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति लक्षणा है तथा लक्षणा से बोधित गुणों के योग से होने वाली शब्दवृत्ति की गौणता होती है।[1] अर्थात् गुणों के योग से अर्थ-प्रतीति कराने वाली वृत्ति गौणी है। आचार्य मम्मट के अनुसार कुमारिलभट्ट की लक्षणा-परिभाषा में 'अविनाभूत सम्बन्ध' का तात्पर्य सम्बन्ध मात्र है न कि किसी प्रकार की व्याप्ति। 'अविनाभाव' का दार्शनिक अर्थ होता है व्याप्ति। व्याप्ति कहते हैं एक के विना दूसरे का न होना । जैसे अग्नि के विना धूम नहीं हो सकता। लक्ष्यार्थ की वाच्यार्थ से इस प्रकार की व्याप्ति नहीं होती। यदि व्याप्ति के कारण ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती तब **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** इस उदाहरण में 'मञ्च' शब्द की मञ्चस्थ पुरुषों में लक्षणा नहीं हो सकती थी, क्योंकि मञ्च पर स्थित पुरुष मञ्च के साथ व्याप्ति-सम्बन्ध से सम्बन्धित नहीं हैं।[2]

प्रभाकर मतानुयायी शालिकनाथमिश्र अपने ग्रन्थ में प्रभाकरमिश्र के अनुसार लक्षणा का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि वाक्यार्थ में वाच्यार्थ के सम्बन्ध की अनुपपत्ति ही लक्षणा का कारण है। सम्बन्ध की अनुपपत्ति के कारण अन्वय की कल्पना की जाती है। यह अन्वय जिस व्यापार द्वारा कल्पित होता है उसी व्यापार को लक्षणा कहते हैं।[3]

लक्षणा की परिभाषा एवं स्वरूप-विवेचन के साथ-साथ मीमांसा-दर्शन में इसके कारण एवं प्रयोजनों पर भी विचार किया गया है। महर्षि जैमिनि ने अपने सूत्र में लक्षणा के छः कारण उल्लिखित किए हैं । ये हैं - तत्सिद्धि, जाति, सारूप्य, प्रशंसा, भूमा तथा लिङ्गसमवाय।[4]

नैयायिकों के अनुसार लक्षणा

न्याय-दर्शन के प्राचीन ग्रन्थों में लक्षणा की स्पष्ट परिभाषा दृष्टिगोचर नहीं होती है। आचार्य गौतम के 'न्याय-सूत्र' में 'उपचार' शब्द का प्रयोग लक्षणा के पर्याय के रूप में हुआ है।[5] गौतम-सूत्र में लक्षणा के निमित्तों की चर्चा करते हुए

1. अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते
   लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्या तु गौणता। (तं० वा०, मी० द० (2), पृ० 313)।
2. अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम्, तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ लक्षणा न स्यात्, - - -- । (श० व्या० वि०, पृ० 12)।
3. गुरुमतेन लक्षणानिरूपणम्-
   वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः।
   तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते।। (संग्रह श्लोक, वा० मा०, पृ० 49- 50)।
4. तत्सिद्धिः जातिः सारूप्यं प्रशंसा भूमा लिङ्गसमवायात् - - - ।(मी० सू० , पृ० 38- 39)।
5. (क) तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसंनिधावुपचारात् संशयः । (न्या० सू०, 2/2/60) ।

उसके दस प्रकार माने गये हैं – सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधन तथा आधिपत्य।[1]

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार लक्षणा की परिभाषा देते हैं – तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर शक्यार्थ से सम्बन्ध को लक्षणा कहते है। लक्षणा के उदाहरण में इन्होंने 'गङ्गायां घोषः' वाक्य को प्रस्तुत किया है तथा तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज स्वीकार किया है।[2]

नागेशभट्ट ने नैयायिकों के अनुसार लक्षणा का विवेचन करते हुए लिखा है कि स्व से शक्य का सम्बन्ध लक्षणा है तथा वह गौणी और शुद्धा रूप से दो प्रकार की होती है। इसी प्रसङ्ग में इन्होंने तात्स्थ्यादि लक्षणा के पाँच कारणों का भी उल्लेख किया है।[3]

नैयायिक लक्षणा एवं गौणी को भिन्न वृत्ति नहीं मानते जैसा कि मीमांसकों ने माना है।

लक्षणा सम्बन्धी काव्यशास्त्रीय मत

संस्कृत काव्य-शास्त्र में शब्द शक्ति के रूप में लक्षणा की सुस्पष्ट व्याख्या ध्वनि की स्थापना के पश्चात् अर्थात् आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यों के ही ग्रन्थों में उपलब्ध होती है, परन्तु इसकी मान्यता का सङ्केत पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों में भी अवश्य देखा जा सकता है, जिसे हम लक्षणा का काव्यशास्त्रीय जगत् में प्रारम्भिक रूप कह सकते हैं।

आचार्य भामह अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कहे जाते हैं। इनके ग्रन्थ

(ख) या शब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासाऽनुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः। (न्या० सू०, 2/2/61)।

1. सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्च कटराजसक्तु-चन्दनगङ्गाशाकटाऽन्नपुरुषेष्वऽतद्भावेपि तदुपचारः। (न्या० सू०, 2/2/63)।

2. लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः। लक्षणाशक्यसम्बन्ध इति। गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गापदस्य शक्यार्थे प्रवाहरूपे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणयैव तीरस्य बोधः। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रमाणनिरूपणम्, पृ० 48)।

3. (क) ननु लक्षणा कः पदार्थः? इति चेत्, अत्र तार्किकाः-स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा। सा च द्विधा-गौणी शुद्धा च। (प० ल० म०, पृ० 45)।

(ख) तात्स्थ्यात्तथैव ताद्धर्म्यात्तत्सामीप्यात्तथैव च। तत्साहचर्यात्तादर्थ्याज् ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः।। (प० ल० म०, पृ० 48)।

'काव्यालङ्कार' में विविध अलङ्कारों का निरूपण किया गया है। आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ में न तो शब्द-शक्ति की पृथक् चर्चा की है न ही लक्षणा का स्वरूप निर्धारित किया है, किन्तु समासोक्ति[1], वक्रोक्ति[2] तथा पर्यायोक्त[3] अलङ्कारों के वर्णन के माध्यम से वाच्य से भिन्न अर्थ की सत्ता में सङ्केत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि भामह व्यञ्जना से अवश्य परिचित थे और व्यञ्जना से परिचित होना ही इस तथ्य को पुष्ट करता है कि भामह को लक्षणा भी अवश्य ज्ञात थी।

काव्यशास्त्रियों में दण्डी ने भी शब्दशक्तिविषयक चर्चा पृथक् रूप से नहीं की है किन्तु 'काव्यादर्श' में इन्होंने 'समाधि' नामक गुण का वर्णन करते हुए लिखा है कि दूसरे के धर्म का दूसरे में व्यवहार करना समाधि नामक गुण है।[4] 'काव्यादर्श' के टीकाकार श्री प्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्य का स्पष्ट मन्तव्य है कि समाधि गुण में 'उपचार' रहता है और 'उपचार' ही लक्षणा का मूल है अतः स्पष्ट है कि समाधि गुण में लक्षणा होती है। प्रेमचन्द्रतर्कवागीश इस स्थल पर साध्यवसान गौणी लक्षणा मानते हैं।[5]

आचार्य उद्भट ने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ तथा 'भामहविवरण' नाम से भामहकृत 'काव्यालङ्कार' पर टीका लिखी है। यह टीका वर्तमान समय में अनुपलब्ध है। अभिनवगुप्त की लोचन टीका से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि उद्भट ने अपने ग्रन्थ में कहीं शब्दशक्तियों की चर्चा नहीं की है तथापि वे अभिधा, लक्षणा आदि से परिचित अवश्य थे।[6] ध्वनि का अन्तर्भाव भक्ति अथवा लक्षणा में करने की

---

1. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
   सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा।। (भा० काव्या०, 2/79, पृ० 60)।
2. समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
   यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः।। (भा० काव्या०, 2/34, पृ० 43)।
3. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । (भा० काव्या०, 3/8, पृ० 70)।
4. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
   सम्यगाधीयते तत्र स समाधिः स्मृतो यथा।। (काव्यादर्श, 1/93, पृ० 66)।
5. यत्र वाक्यार्थे सम्यगाधीयते गौणशब्दप्रयोगेण साध्यवसानगौण्या लक्षणया उपचर्यते स वाक्यार्थः समाधिः- - - - - । उपचारश्चात्राहार्याभेदप्रतीतिरूपः स च लक्षणायां प्रयोजनभूतः - - - - - लक्षणा चात्र साध्यवसानरूपा सा च विषयस्यानुपादान एव सम्भवति तेन च विषयोपादाने सारोपगौण्यां न समाधेः सम्भवः। (काव्यादर्श, सटीक, पृ० 84) प्रेमचन्द्रतर्कवागीश भट्टाचार्य।
6. भामहेनोक्तम् – 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति। अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे – शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति। वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति । (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 52)।

पूर्वपक्षीय सम्भावना को आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। इसी खण्ड की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने भामह, वामन इत्यादि को भी उल्लिखित किया है। भामह ने काव्य के हेतुओं की गणना करते हुए यह लिखा था कि शब्द, छन्द, अभिधान, इतिहासाश्रित कथा, लोकयुक्ति एवं कला ये काव्य के हेतु होते हैं। भामह की इस कारिका में कथित शब्द और अभिधान की व्याख्या करते हुए उद्भट लिखते हैं कि अभिधान का अर्थ है – शब्दों का अभिधा व्यापार। वह दो प्रकार का होता है – मुख्य एवं गुणवृत्ति। इससे स्पष्ट है कि उद्भट लक्षणा से भली–भाँति परिचित थे। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार गुणवृत्ति लक्षणा ही है। जब अभिधाव्यापार से विरुद्ध अर्थ का अभिधान करने वाले समानविभक्तियुक्त शब्दों का अभेद अर्थात् समन्वय नहीं हो पाता तब इनमें से एक को लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है अतः उसे गुणवृत्ति कहा जाता है।[1]

उद्भट का रूपक अलङ्कार–वर्णन भी लक्षणा की ही उपादेयता सिद्ध करता है। इनके अनुसार जहाँ अभिधाशक्ति से प्राप्त अर्थों का सम्बन्ध उपपन्न न हो सकने के कारण गुणवृत्ति पद का प्रधानपद से योग हो वहाँ रूपक अलङ्कार होता है। गुणवृत्ति पद का अभिप्राय यहाँ गुणबोधक पद से है।[2] अभिधा से प्राप्त दो भिन्न अर्थों का अभेद सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता जबकि रूपक दो पदार्थों के अभेद सम्बन्ध को ही कहते हैं। ऐसी दशा में अभिधा से अनुपपन्न अभेद सम्बन्ध के लिए लक्षणा का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

आलङ्कारिकों में आचार्य वामन ने अपने ग्रन्थ के प्रथम सूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ में 'भक्ति' शब्द का प्रयोग किया है जो कि लक्षणा अथवा 'उपचार' के लिए ही प्रयुक्त है।[3] वामन यह स्वीकार करते हैं कि लक्षणा की प्रवृत्ति अनेक निमित्तों से होती इनमें सादृश्य निमित्त के कारण होने वाली लक्षणा के स्थल में वक्रोक्ति अलङ्कार होता है।[4] वामन ने सादृश्यमूलक तथा सामीप्यमूलक लक्षणा की सोदाहरण

---

1. विरुद्धार्थाभिधायिनोः समानाधिकरणयोः शब्दयोर्निरन्तरार्थनिष्ठेन अभिधाव्यापारेण अनुपपद्यमानान्योन्यसमन्वयत्वाद्यद्येकस्य लक्षणया गुणवृत्तित्वमभिधीयते----। (काव्या० ल० वृ०, पृ० 270)।
2. श्रुत्या सम्बन्धविरहाद्यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्ति प्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्।। (काव्या० सा० सं०, पृ० 7)।
3. काव्यशब्दोऽयं गुणाऽलङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते। (काव्या० सू०, 1. / 1. / 1. की वृत्ति, पृ० 4) ।
4. बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्। तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति। (काव्या० सू०, 4. / 3, पृ० 172) ।

व्याख्या भी की है। इससे स्पष्ट है कि वामन लक्षणा में विभिन्न प्रयोजक हेतुओं को मानते थे।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन के ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य ध्वनि ही है, किन्तु प्रसङ्गवश उसमें इन्होंने अभिधा, लक्षणा की भी चर्चा की है। ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन के पूर्व भी लक्षणा सुस्थापित हो चुकी थी।[2]

आनन्दवर्धन ने शाब्द व्यवहार के तीन प्रकार माने हैं - वाचकत्व, गुणवृत्ति तथा व्यञ्जकत्व।[3] इनके अनुसार मुख्यावृत्ति अर्थात् अभिधा केवल मुख्यार्थ का ही बोध करा सकती है। उसके अनुपपन्न होने पर जिस द्वितीय वृत्ति का आश्रय लिया जाता है वही गुणवृत्ति है[4] जो कि अभिधा के आश्रित ही रहती है।[5] लक्षणा के लिए इन्होंने कहीं 'भक्ति'[6] तो कहीं 'गुणवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। इनमें भी 'गुणवृत्ति' ही बहुलता से प्रयुक्त हुआ है।

आनन्दवर्धन ने 'भक्ति' की परिभाषा दी है - **'उपचारमात्रं तु भक्तिः'**।[7] लोचनकार ने इसे और अधिक स्पष्ट किया है कि 'उपचार' गुणवृत्ति अर्थात् लक्षणा को कहते हैं।[8] स्पष्ट है कि 'गुणवृत्ति' और 'भक्ति' लक्षणा ही है।

आचार्य मुकुलभट्ट एवं मम्मट ने लक्षणा के जिन तीन हेतुओं को स्वीकारा है उसका कथन 'ध्वन्यालोक' में भी किया गया है। यद्यपि उनकी उस प्रकार से स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है जैसे मुकुलभट्ट, मम्मट इत्यादि ने की है।

---

1. 'उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमील मुहूर्तात्।'
अत्र नेत्रधर्मावुन्मीलननिमीलने सादृश्याद्विकाससङ्कोचौ लक्षयतः।-----
असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः। यथा -
'जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखैः'
अत्रच्छेदः सामीप्याद् द्रव्यं लक्षयति, तस्यैव गौरत्वोपपत्तेः।। (काव्या० सू०, 4/3, पृ० 172. - 173)।
2. भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 45)।
3. तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः-वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्यञ्जकत्वं च। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० 324)।
4. मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् । (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 276)।
5. वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 281)।
6. भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः । (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 262)।
7. ध्व०, प्र० उ०, पृ० 262.

लक्षणा के तीन हेतु हैं मुख्यार्थबाध, सम्बन्ध तथा प्रयोजन अथवा रूढि में से किसी एक का होना। 'ध्वन्यालोक' की एक कारिका में मुख्यार्थबाध तथा प्रयोजन रूप हेतु का उल्लेख है –

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः।।

ध्व०, 1/17 ।

इसके अतिरिक्त 'रूढि' से होने वाली लक्षणा की भी चर्चा की गई है।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त ने तो 'भक्ति' का अर्थ तीन प्रकार से करते हुए तीनों हेतुओं को स्पष्ट कर दिया है।[2] अन्ततः इन हेतुओं को 'उपचार' का बीज कहा है।[3]

मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणावृत्ति विवेचन

मुकुलभट्ट के अनुसार मुख्य अर्थ के पश्चात् बोधित होने वाले सभी अर्थ लाक्षणिक है। उसका बोध लाक्षणिक व्यापार से होता है, जो कि अभिधा का ही भेद है। लक्ष्यार्थ का ज्ञान मुख्यार्थ की पर्यालोचना से ही होता है। इसकी परिभाषा इन्होंने दी है–

अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते।[4]

'गौरनुबन्ध्यः' उदाहरण में व्यक्ति रूप अर्थ जाति रूप मुख्यार्थ के आश्रय से आक्षिप्त होने के कारण लाक्षणिक अर्थ है।[5] मुख्य अर्थ के व्यवधान से युक्त होने के कारण ही इस अर्थ को 'सान्तरार्थनिष्ठ' भी कहा जाता है।

---

8. उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा। उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 263)।
1. रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
   लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः।। (ध्व०, 1/16, पृ० 271)।
2. (क) मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिः। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 49)।
   (ख) भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 48)।
   (ग) गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 49)।
3. ----एवं मुख्यार्थबाधानिमित्तप्रयोजनमितित्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्तं भवति। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 49)।
4. अ० वृ० मा०, पृ० 2।
5. जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधनभावं न प्रतिपद्यते इति शब्दप्रत्यायितजातिसामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते। तेनासौ लाक्षणिकी। (अ० वृ० मा०, पृ० 2–3)।

मुकुलभट्ट ने 'गौरनुबन्ध्यः' में 'व्यक्ति रूप' अर्थ को लाक्षणिक कहा है। यहाँ इनका विचार पूर्णरूपेण मीमांसकों के अनुरूप हो गया है। अन्तर इतना है कि मीमांसक केवल 'जाति' को ही शब्द का प्रथम अर्थ मानते हैं और मुकुलभट्ट ने जाति, गुणादि चार प्रकार के मुख्यार्थ माने हैं।

जाति से व्यक्ति के ज्ञान के विषय में मीमांसकों में भी परस्पर भिन्न-भिन्न मत पाए जाते हैं। भाट्ट मीमांसक व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप से मानते हैं। 'शक्तिवाद' नामक ग्रन्थ में आक्षेप का अर्थ 'अनुमान' अथवा 'अर्थापत्ति' दिया गया है।[1] कुमारिलभट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक' में स्पष्ट रूप से व्यक्तिरूप अर्थ को लक्ष्यार्थ कहा है।[2] श्रीकर ने जाति से व्यक्ति का बोध उपादान से माना है।[3] मण्डनमिश्र के अनुसार 'लक्षणा' से 'व्यक्ति' रूप अर्थ की प्रतीति होती है। 'गौरस्ति' 'गौर्नास्ति' इत्यादि प्रयोगों में वक्ता का अभिप्राय व्यक्ति के अस्तित्व, नास्तित्व से है। जाति तो नित्य है।[4]

मीमांसकों में प्रभाकरमिश्र का मत सबसे भिन्न है। इनकी मान्यता है कि जाति से व्यक्ति का स्मरण होने से व्यक्ति का बोध हो जाता हैं। पद के श्रवणान्तर ही जाति तथा व्यक्ति के सम्बन्धज्ञान का स्मरण हो जाता है।[5]

मीमांसकों के उपर्युक्त मतों में मुकुलभट्ट का मत कुमारिलभट्ट एवं मण्डनमिश्र के मत से ही साम्य रखता है।

लक्ष्यार्थ की सापेक्षता

किसी भी शब्द से अर्थ की प्रतीति तभी सम्भव है जबकि उसका अर्थ के साथ निश्चित सम्बन्ध गृहीत हो। शब्द का जो मुख्य अर्थ होता है उसके साथ शब्द का

---

1. अथ भाट्टाः – पदान्न व्यक्तेः स्मरणमनुभवो वा किंत्वाक्षेपादेव व्यक्तिधीः, आक्षेपिका च जातिरेव। आक्षेपश्चानुमानमर्थापत्तिर्वा। (शक्तिवाद, पृ० 207)।
2. तत्र यथैवाऽऽकृतिवचनः शब्दस्तत्सहचरितां व्यक्तिं लक्षयति। (मी० द० (2), 1/4/22. पर तं० वा०, पृ० 314)।
3. '' – – –– जातिवाचकपदाज्जातिबोधः शाब्दो व्यक्तिबोधस्त्वौपादानिक एवेति श्रीकरमतम्– – –''। (शक्तिवाद, पृ० 211)।
4. जातेरस्तित्वनास्तित्वे न हि कश्चिद् विवक्षति।
नित्यत्वाल्लक्षणीयाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे।। (मण्डनमिश्र)।
5. प्रभाकरास्तु जातिज्ञानादेव जातिप्रकारेण व्यक्तेः स्मरणं शाब्दबोधश्च न तु निर्विकल्पकरूपं जातिस्मरणं निर्विकल्पकानभ्युपगमात्। (शक्तिवाद, पृ० 216)।

निश्चित सम्बन्ध होता है।[1] सम्बन्ध का तात्पर्य यहाँ सङ्केत से है। सङ्केत गृहीत होने से ही 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' शब्द के मुख्यार्थ 'प्रवाह' का बोध होता है। सम्बन्ध निर्धारण की प्रक्रिया में सर्वप्रथम वक्ता द्वारा उच्चरित अखण्डवाक्य तथा वाक्यार्थ के मध्य कार्यकारणभाव का निश्चय होता है। तदनन्तर शनैः शनैः एक से अधिक बार उच्चारण से अन्वय व्यतिरेक के आधार पर पृथक्-पृथक् शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार शब्द एवं अर्थ के मध्य कार्यकारणभाव का निर्धारण होता है।[2]

मुख्य अर्थ का तो शब्द से सम्बन्ध होता है किन्तु लाक्षणिक अर्थ का उससे इस प्रकार का साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। लाक्षणिक अर्थ का भी शब्द से सीधा सम्बन्ध होने की दशा में वह भी 'मुख्यार्थ' ही कहा जाता लाक्षणिक नहीं।[3] इस स्थिति में यह समस्या उपस्थित होती है कि लक्ष्यमाण अर्थ की प्रतीति कैसे होगी? इस समस्या का समाधान मुकुलभट्ट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

शब्द के मुख्य अर्थ के साथ लाक्षणिक अर्थ का सम्बन्ध होता है जिसके माध्यम से शब्द द्वारा ही उसकी प्रतीति हो जाती है। किन्तु यह प्रतीति निरपेक्ष रूप से नहीं होती क्योंकि ऐसा होने पर सदा ही लक्ष्यमाण अर्थ की प्रतीति होती । यद्यपि लक्ष्य अर्थ का ज्ञान भी अभिधा शक्ति से ही होता है किन्तु मुख्य अर्थ की भाँति शब्द स्वतन्त्र रूप से लक्ष्यार्थ के प्रतिपादक नहीं होते अपितु इनके प्रतिपादन में इन्हें कतिपय कारण सामग्रियों की अपेक्षा होती है।[4] ये कारण तीन हैं - वक्ता, वाक्य तथा वाच्य । इन तीनों के समस्त तथा व्यस्त रूप से दो-दो भेद होते हैं।[5] समस्त का अर्थ

---

1. मुख्यार्थे शब्दस्य सम्बन्धावधारणात् प्रतिपादकत्वमुपपद्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 24)।
2. सम्बन्धावधारणसमये व्यवहर्तृगतयोस्तावत् शब्दप्रयोगार्थप्रतिपत्त्योरविभक्तोद्देशवाक्य-वाक्यार्थनिष्ठतया पूर्वं हेतुफलभावावसायो भवति। तदनन्तरं च त्रिचतुरादिदर्शनेभ्यो-ऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यवाक्यार्थोद्देशप्रविभागगते ये शब्दप्रयोगार्थप्रतिपत्ती तन्निष्ठकार्यकारण-भावावधारणम्। तदुत्तरकालं च व्यवहर्तृगतार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दार्थसम्बन्धावगतिः। (अ० वृ० मा०, पृ० 24)।
3. न हि लाक्षणिकेनार्थेन सह शब्दस्य सम्बन्धः। मुख्येनैवार्थेन परिदृश्यते। तथाभावे हि सति तस्य मुख्यत्वमेव स्यान्न लाक्षणिकत्वम् (अ० वृ० मा०, पृ० 24)।
4. अथ शब्दस्य मुख्यो योऽसावर्थस्तेन सह सम्बन्धो लक्ष्यमाणस्यार्थस्य दृष्ट इति तद्द्वारेण शब्दात् तस्यावगतिरित्यभिधीयते, एवं सति यदि निरपेक्षः स्वार्थप्रतिपादनद्वारेण लक्ष्यमाणमर्थमवगमयति तदा सर्वदा तमर्थमवगमयेत्, अथ सापेक्षः, - - -- । (अ० वृ० मा०, पृ० 24)।
5. वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात्।।
लक्षणा षट्प्रकारैषा विवेक्तव्या मनीषिभिः। (अ० वृ० मा०, पृ० 24)।

है किसी एक का अन्य दोनों के साथ रहना तथा व्यस्त का तात्पर्य है इनका एकाकी रहना। इन्हीं अर्थों की सहायता से लक्ष्यार्थ का बोध होता है।[1]

इससे यह स्पष्ट हो गया कि वक्ता आदि की अपेक्षा से तथा मुख्यार्थ-ज्ञान के पश्चात् लक्ष्यमाण अर्थ का ज्ञान होता है। इसी सन्दर्भ में मुकुलभट्ट ने शबरस्वामी का मत उद्धृत किया है। शबरस्वामी के अनुसार भी अन्य शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग अपने मुख्य अर्थ के अभिधान के माध्यम से ही होता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने लक्षणा को 'लौकिकी' भी कहा है। 'लोक में विदित होना' ही 'लौकिकी' का अर्थ है। इसका तात्पर्य है कि शब्द से अर्थ का ग्रहण व्यवहारवेद्य ही होता है।[2]

वक्ता, वाक्य एवं वाच्य रूप तीन प्रकार के सम्बन्धों में वक्ता का अर्थ है वह व्यक्ति जो अन्य व्यक्ति के बोधन हेतु वाक्य का उच्चारण करता है।[3] वक्ता के आधार पर होने वाले लाक्षणिक अर्थ के लिए मुकुलभट्ट ने उदाहरण दिया है-

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि,
प्रायो नैष शिशोः पिताऽस्यविरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि तद् वरमितः स्त्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रा वपुरालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ।[4]

यह कथन एक व्यभिचारिणी स्त्री का है जो परपुरुषगमनार्थ सङ्केतस्थल पर जा रही है तथा भावी संभोग चिह्नों को नलगाँठों की सम्भावना से छिपा रही है। यहाँ वक्त्री के कथन में अपह्नव है। उसका कथन अलीक अर्थात् असत्य है। यह असत्य उक्ति ही मुख्यार्थ है, किन्तु इसकी असत्यता का भान श्रोता को तभी होता है जब उसे यह ज्ञात रहता है कि वक्त्री स्त्री व्यभिचारिणी है और इस असत्य रूप मुख्यार्थ की

---

1. एतेषां त्रयाणां वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तभेदभिन्नानां देशकालावस्थावैलक्षण्य-गतसमस्तव्यस्तभेदसंयोजितानां यः स्वभावभेदप्रपञ्चः, तत एषा षट्प्रकारा लक्षणा परामर्शकुशलैर्विवेचनीया। (अ० वृ० मा०, पृ० 24-25)।
2. यदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना- 'कथं पुनः परशब्दः परत्र वर्त्तते, स्वार्थाभिधानेनेति ब्रूमः' इति। अत्र हि स्वार्थद्वारेण लक्ष्यमाणार्थाभिनिवेशिता शब्दानामुक्ता। पुनश्चासावेवाह- 'लक्षणापि हि लौकिक्येवे'- ति। अत्र हि सम्बन्धावधारणसापेक्षाणां शब्दानां लक्ष्यमाणेऽर्थे प्रवृत्तिरुक्ता। व्यवहारोपारूढानि हि प्रत्याक्षादीनि प्रमाणानि लोकशब्देनाभिधीयन्ते। लोक एव विदिता लौकिकी व्यवहारावगम्या परिगृहीतसंबन्धशब्दनिष्ठेत्यर्थः। (अ० वृ० मा०, पृ० 25)।
3. यः परप्रतिपत्तये वाक्यमुच्चारयति स वक्ता। (अ० वृ० मा०, पृ० 24)।
4. अ० वृ० मा०, पृ० 31.

सिद्धि के लिए भावी रतगोपन रूप सत्य अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है। यही लक्ष्यार्थ है। यहाँ लक्ष्यार्थ का बोध 'वक्ता' की सापेक्षता से हुआ है। यहाँ उपादान लक्षणा है। इस लक्ष्यार्थ बोधन में 'वाक्य' तथा 'वाच्य' का सामर्थ्य नहीं है क्योंकि यदि यह किसी साध्वी का वक्तृत्व होता तब इस प्रकार के अर्थ के आक्षेप की आवश्यकता ही न होती अर्थात् यहाँ लक्षणा का प्रसङ्ग ही नहीं होता।[1]

'वाक्य' की सापेक्षता से लक्ष्यार्थ-ज्ञान में 'वाक्य' कहते हैं साकाङ्क्ष पदों के एकार्थक प्रयोग को।[2] वाक्यगत विशिष्टता के आधार पर प्रतीत होने वाले लाक्षणिक अर्थ के लिए मुकुलभट्ट ने जो पद्य उद्धृत किया है वह एक चाटु उक्ति है। इसमें किसी राजा की स्तुति की गई है -

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः।।[3]

इस पद्य में जिस राजा की स्तुति है उसकी विशाल सेना से असामान्य स्थिति वाले समुद्र का कम्पन अतिशयोक्ति द्वारा वर्णित किया गया है। उस कम्पन का कारण है वितर्क, जिसमें 'उत्प्रेक्षा' की गई हैं ।[4]

चेतनव्यक्तियों में वितर्क करते समय संशय के कारण सिर हिलाने की जो क्रिया होती है उसकी समानता के आधार पर समुद्र के कम्पन में वितर्क की सम्भावना

1. अत्र हि परपुरुषसंभोगानुभवेच्छया सङ्केतस्थानं युवतिर्व्रजन्ती स्वप्रवृत्तिप्रयोजनं विशिष्टसङ्केत-स्थानाधारं परपुरुषसंभोगात्मकं तथा संभोगचिह्नानि नखदशनक्षतानि गात्रसंलग्नतया शङ्क्यमानाविर्भावाणि यथाक्रमं भर्तृपिपासानिवृत्तिक्षमनादेयसरसपानीयानयनेनचिरच्छिन्न-नलग्रन्थिपरुषजर्जरप्रान्तजनयिष्यमाणेन च गात्रगतविकारविशेषोद्गमेनापह्नुत्याभिधत्ते। सा चात्रापह्नुतिरसाध्या वक्तृत्वं पर्यालोच्यावगम्यते। अपह्नवस्य चालीकवस्त्वभिधानात्म-कत्वादलीकस्य च सत्यार्थविपर्यासकारित्वादलीकेनार्थेन त्वसत्योक्तः स्वसिद्ध्यर्थत्वेनाक्षिप्यते। तेनात्र वक्तृविशेषपर्यालोचनया सत्यार्थे निष्ठाया उपादानात्मिकाया लक्षणायाः प्रतिपत्तिः। न ह्यत्र वाक्यवाच्ययोः सामर्थ्यम्। साध्व्या वक्तृत्वे सति तयोरेवंविधार्थाक्षेपासमर्थत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 31-32)।
2. साकाङ्क्षाणां पदानामेकार्थः समूहो वाक्यम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 24)।
3. अ० वृ० मा०, पृ० 33.
4. अत्र हि चाटुश्लोकेनोपश्लोक्यते यो नृपतिस्तदीयबलभरक्षोभ्यमाणस्वावस्थस्य समुद्रस्य यः कम्पः अतिशयोक्त्योपवर्णितः तस्य समुद्रकर्तृकवितर्कधारणहेतुकत्वमत्रोत्प्रेक्षितम् 'इति वितर्कान् दधत इवे' ति। (अ० वृ० मा०, पृ० 33)।

की गई है। कम्पन युक्त वस्तु के सादृश्य के कारण समुद्र में कम्पन का जो अध्यवसान है वह गौण उपचार है।[1]

चेतन एवं अचेतनगत भिन्न-भिन्न कम्पनों में अभिन्नता होने के कारण इस स्थल पर भेद में अभेदरूपा अतिशयोक्ति है। इसी अतिशयोक्ति को अन्तर्निहित करके यहाँ उत्प्रेक्षा हुई है।[2] उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति से गर्भित रहती है इसके समर्थन में मुकुलभट्ट ने उद्भट का उत्प्रेक्षा-लक्षण भी प्रस्तुत किया है।[3]

इस उदाहरण में राजा पर भगवान् विष्णु के स्वरूप का अध्यवसान किया गया है, यही लक्ष्यार्थ है। यहाँ लक्षणा उपादानात्मिका है। वाक्य के रूप की पर्यालोचना से ही यहाँ लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो रही है। अतः लक्षणा वाक्यनिबन्धना है।[4]

'वाच्य' के सामर्थ्य से भी कहीं-कहीं लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। मुख्य अथवा लाक्षणिक व्यापार के द्वारा शब्द से जो अर्थ प्रकट होता है उसे ही मुकुलभट्ट ने 'वाच्य' कहा है।[5] इसका उदाहरण है -

दुर्वारा मदनेषवो दिशि दिशि व्याजृम्भते माधवो-
हृद्युन्मादकराः शशाङ्करुचयश्चेतोहराः कोकिलाः।
उत्तुङ्गस्तनभारदुर्धरमिदं प्रत्यग्रमन्यद् वयः
सोढव्याः सखि साम्प्रतं कथममी पञ्चाग्नयो दुःसहाः।।[6]

---

1. अतोऽत्र यदेतद् बलभराक्रान्तत्वेन समुद्रस्याकम्पमानस्यापि कम्पमानार्थसादृश्यात् कम्पमानत्वमध्यवसितं तत्राध्यवसानगर्भगौणोपचारः। (अ० वृ० मा०, पृ० 33)।
2. विकल्पवशाद् यश्चेतनानां मूर्धकम्पो बाहुल्येन परिदृश्यते चेतनगतसंशयहेतु-कमूर्धकम्पसादृश्यात् तद्भावोऽस्य कम्पस्योपचर्यते। - - -। इयमपि च विभिन्नयोरपि कम्पयोरभेदेनाध्यवसानात् भेदेप्यभेद इत्येवमात्मिकातिशयोक्तिः। (अ० वृ० मा०, पृ० 33-34)।
3. तदुक्तमुत्प्रेक्षालक्षणे -
   साम्यरूपविवक्षायां वाच्ये वाच्यात्मभिः पदैः।
   अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता।। (अ० वृ० मा०, पृ० 34)।
   उत्प्रेक्षा का यह लक्षण पाठ-भेद के साथ उद्भट के ग्रन्थ में मिलता है।
4. प्राप्तश्रीरित्यादिषु तु त्रिषु वितर्केषु भगवद्वासुदेवविषयेषु यथायोगं तत्तत्कार्यनिराकरणहेतुगर्भतया प्रवर्त्तमानेषु नृपतेर्भगवद्वासुदेवताऽऽक्षिप्ता। तेनात्रोपादानात्मिका लक्षणा। भगवद्वासुदेव-रूपतया चात्र नृपतेरध्यवसानादध्यवसानगर्भो गौण उपचारः। एतच्चात्र सर्ववाक्योपात्तपद-समन्वयान्यथानुपपत्त्यावगम्यत इति वाक्यनिबन्धनात्र लक्षणा। (अ० वृ० मा०, पृ० 34)।
5. शब्देन मुख्यं लाक्षणिकं वाभिधाव्यापारमाश्रित्य यद् गोचरीक्रियते तद् वाच्यम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 24)।
6. अ० वृ० मा०, पृ० 37.

इस पद्य में कामदेव के बाण, वसन्त तथा चन्द्रकिरणों इत्यादि पर अग्नित्व का आरोप किया गया है। इनकी असह्यता ही वाच्यार्थ है। इसी वाच्यार्थ की पर्यालोचना से विप्रलम्भ शृङ्गार का आक्षेप किया गया है। यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार लक्ष्यार्थ है। उसकी प्रतीति उपादान लक्षणा से हो रही है। इस प्रकार इस उदाहरण में वाच्यमूला लक्षणा है।[1]

यहाँ शब्दों की उपेक्षा करके वक्ता के स्वभाव का परिशीलन नहीं किया गया है अतः लक्षणा वक्ता की सापेक्षता से नहीं है। न ही इस स्थल पर वाक्य में पदों का अन्वय विप्रलम्भ शृङ्गार के आक्षेप के अनन्तर होता है। अतः वाक्यमूला लक्षणा भी नहीं है। केवल वाच्यार्थ के स्वरूप ज्ञान के अनन्तर ही लक्षणा हो रही है। विप्रलम्भ शृङ्गार यद्यपि यहाँ आक्षेपलभ्य है तथापि प्रधानता वाच्य की अपेक्षा उसकी ही है क्योंकि उसमें सहृदयहृदयाह्लादकता है।[2]

इस प्रकार वक्ता, वाक्य एवं वाच्य के आधार पर होने वाली लक्षणा में एक का अन्य दो के साथ संयोजन होने पर तीन और स्थितियाँ हो सकती हैं तथा तीनों को एक साथ संयोजित करने पर एक अन्य भेद बना जाता है।[3]

लक्षणा के हेतु

मुख्यार्थ के पश्चात् लक्ष्यार्थ की प्रतीति हेतु होने वाली प्रवृत्ति के लिए मुकुलभट्ट ने तीन कारण माने हैं – मुख्यार्थ का असम्भव होना, मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ की आसत्ति तथा रूढि अथवा प्रयोजन।[4]

1. अत्र हि स्मरशरप्रभृतीनां पञ्चानामध्यारोपितवह्निभावानामसह्यत्वं वाक्यार्थीभूतम्, अतस्तस्य वाच्यता। तात्पर्यालोचनसामर्थ्याच्च विप्रलम्भशृङ्गारस्याक्षेप इत्युपादानात्मिका लक्षणा वाच्यनिबन्धना। (अ० वृ० मा०, पृ० 37)।
2. न ह्यत्र वक्तृस्वभावपरिशीलनस्य शब्दरहितस्योपयोगः, नापि च वाक्ये पदानां विप्रलम्भशृङ्गारा-क्षेपमन्तरेणान्वयोपपत्तिः। वाच्यस्वरूपविचारेण तत्र विप्रलम्भशृङ्गाराक्षेपादुपादानात्मिका लक्षणा वाच्यनिबन्धना। विप्रलम्भशृङ्गारस्य चाक्षिप्यमाणस्यापि वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, सहृदयहृदया-ह्लादहेतुतया प्राधान्येनाक्षेपात् । (अ० वृ० मा०, पृ० 37–38)।
3. एवं वक्तृवाक्यवाच्यानामेकैकसमाश्रयेण ये त्रयो भेदा भवन्ति ते तावदुदाहृताः। अन्येऽपि च ये वक्तारं वाक्यवाच्ययोरन्यतरेण संयुज्य, तथा वाक्यं वाच्येन सह समुच्चित्य द्विकभेदास्त्रयः, तथा तत्त्रिकभेदाश्च, वक्तृवाक्यवाच्यानां त्रयाणामपि परस्परसंयोजनया चैक इत्येवं चत्वारो भेदा दृश्यन्ते, ते स्वबुद्ध्या षट्प्रकारलक्षणाविषयत्वेन मनीषिभिरुदाहार्याः। (अ० वृ० मा०, पृ० 40–41)।
4. मुख्यार्थासम्भवात् सेयं मुख्यार्थासत्तिहेतुका।
   रूढेः प्रयोजनाद् वापि व्यवहारे विलोक्यते।। (अ० वृ० मा०, पृ० 50)।

इनमें मुख्यार्थ के असम्भव होने का तात्पर्य है अन्य प्रमाणों से मुख्यार्थ के बाधित होने के कारण उसका अपनाया जाना सम्भव न होना।[1] दूसरा कारण है लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित होना। सम्बन्धों को आचार्य भर्तृमित्र ने पाँच प्रकार का माना है - अभिधेय से सम्बन्ध, सादृश्य सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध, वैपरीत्य तथा क्रियायोग सम्बन्ध।[2]

सम्बन्ध रूप सम्बन्ध के उदाहरण में मुकुलभट्ट ने 'गङ्गायां घोषः' उदाहरण प्रस्तुत किया है तथा इसे समीपसमीपिभावात्मक माना है। यहाँ 'गङ्गा' शब्द का मुख्यार्थ जलप्रवाह बाधित है अतः वह लक्षणा द्वारा जलप्रवाह से सामीप्य सम्बन्ध से सम्बद्ध तट रूप अर्थ का बोध कराता है। यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है एकमात्र गङ्गा रूप अर्थ में रहने वाले तथा 'तट' शब्द से अविदित पुण्यत्व और मनोहारित्व रूप धर्मविशेष का प्रतिपादन करना जिसकी प्रतीति 'तट' शब्द से कदापि नहीं हो सकती थी। 'तट' शब्द का प्रयोग करने पर 'अव्याप्ति' और अतिव्याप्ति दोष हो जाएँगे।[3] इसका तात्पर्य यही है कि 'गङ्गायां घोषः' की अपेक्षा 'गङ्गातटे घोषः' प्रयोग करने पर तट में पुण्यत्वादि का ज्ञान न होने से अव्याप्ति हो जाएगी। यदि इन धर्मों को किसी भी प्रकार से तट में विद्यमान मान भी लिया जाये तब तटेतर पटादि में भी उन्हें मानना पड़ेगा इस प्रकार से 'अतिव्याप्ति' दोष हो जाएगा।

सादृश्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है -

भ्रमर भ्रमता दिगन्तराणि क्वचिदासादितमीक्षितं श्रुतं वा।
वद सत्यमपास्य पक्षपातं यदि जातीकुसुमानुकारि पुष्पम्।।[4]

इस उदाहरण में भ्रमर जैसे प्राणी के लिए सम्बोधन सम्भव न होने से 'भ्रमर' शब्द का मुख्यार्थ बाधित है। इसी प्रकार पुष्प का भी मुख्यार्थ बाधित है। ये दोनों ही

1. मुख्यास्यार्थस्य प्रमाणान्तरबाधितत्वेनासम्भवात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 50)।
2. यच्च तत् मुख्यार्थासन्नत्वं तत् पञ्चप्रकारतयाचार्यभर्तृमित्रेण प्रदर्शितम्-
अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मते-।। ति। (अ० वृ० मा०, पृ० 50)।
3. अत्र हि गङ्गाशब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्त्या मुख्यशब्दार्थबाधे सति योऽसौ समीपसमीपिभावात्मकः सम्बन्धः तदाश्रयेण तटं लक्षयति। अत्र च लक्षणायाः प्रयोजनं तटस्य गङ्गात्वैकार्थसमवेतासंविज्ञानपदपुण्यत्वमनोहरत्वादिप्रतिपादनम्। न हि तत् पुण्यत्वमनोहरत्वादि स्वशब्दैः स्प्रष्टुं शक्यते, अव्याप्त्यतिव्याप्तिप्रसङ्गात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 53)।
4. अ० वृ० मा०, पृ० 53.

शब्द अपने वाच्यार्थ से सादृश्य सम्बन्ध रखने वाले वाच्यार्थ के गुणों के समान गुणों से युक्त होने के आधार पर लक्षणा द्वारा क्रमशः कामी पुरुष एवं नायिका का बोध कराते हैं।[1]

समवाय सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है 'छत्रिणो यान्ति'। यहाँ एक छत्रधारी व्यक्ति के लिए बहुवचन का प्रयोग होने से मुख्यार्थ बाधित है। अतः छत्रधारी पुरुष के साथ गमन करने वाले अन्य व्यक्तियों के समुदाय का साहचर्य होने के कारण छत्ररहित पुरुषों के समूह में लक्षणा होती है। इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग का प्रयोजन है छत्ररहित व्यक्तियों में छत्रधारी स्वामी का अनुयायित्व प्रतिपादन।[2]

वैपरीत्य लक्षणा का उदाहरण है – 'भद्रमुख'। किसी अभद्रमुख व्यक्ति के लिए इस पद का प्रयोग होने से मुख्यार्थ बाधित हो जाता है अतः 'भद्रमुख' पद अपने अर्थ के विपरीत 'अभद्रमुख' अर्थ का वैपरीत्य लक्षणा से बोध कराता है। इस लक्षणा का प्रयोजन है गुप्त असत्य अर्थ का प्रतिपादन।[3]

क्रियायोग लक्षणा में 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्' इस वाक्य में जो व्यक्ति शत्रुघ्न (दशरथ–पुत्र) नहीं है उसके लिए इस पद का प्रयोग होने से मुख्यार्थ बाधित हो जाता है। शत्रुहनन रूप क्रिया के आधार पर अशत्रुघ्न के लिए शत्रुघ्न कथन लक्षणा से हुआ है। इसका प्रयोजन है शत्रुघ्न शब्द के मुख्यार्थ (दशरथ–पुत्र) के साथ राजा की अभिन्नता प्रतिपादन।[4]

---

1. अत्र हि भ्रमरपुष्पशब्दौ संबोधनान्यथानुपपत्त्या बाधितमुख्यार्थावभिधेय–सादृश्यात् तद्गतगुण–सदृशगुणप्रयुक्तमर्थान्तरं लक्षणयावगमयतः। प्रयोजनं चात्र भ्रमरत्वपुष्पत्वैकार्थ–समवेतक्रियागुणसदृशानामसंविज्ञानपदानां क्रियागुणानां प्रतिपादनम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 54)।
2. समवायतो लक्षणा यथा – 'छत्रिणो यान्ती'ति। अत्र बहुवचनप्रयोगान्मुख्यशब्दार्थबाधः। न ह्येकस्मिंश्छत्रिणि बहुवचनस्य प्रयोग उपपद्यते, अतोऽत्र गमनलक्षणायां क्रियायां छत्रिणा सह योऽसौ छत्रशून्यानां समवायः साहचर्यम् तद्वशात् छत्रिशब्देन छत्रशून्या अपि लक्षणयाऽवगम्यन्ते। प्रयोजनं चात्र छत्रशून्यानां सर्वात्मना छत्रोपेतस्वाम्यनुयायितया प्रतिपादनम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 54)।
3. वैपरीत्याल्लक्षणा, यथा – 'भद्रमुख' इति। अत्र हि भद्रमुखशब्दस्याभद्रमुखे प्रयोगात् स्वार्थबाधः, अतोऽसौ वाच्यभूतभद्रमुखत्वविपरीतत्वादभद्रमुखत्वं विपरीतनिबन्धनया लक्षणया प्रत्याययति। अत्र च लक्षणाप्रयोजनं गुप्तासत्यार्थप्रतिपत्तिः। गुप्तो ह्यसत्योऽर्थः तत्तदभिप्रायवशेन प्रायेण प्रयोक्तृभिः प्रतिपाद्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 56)।
4. क्रियायोगाल्लक्षणायाम् उदाहरणं यथा– 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वमि'–ति। अत्र हि अशत्रुघ्ने शत्रुघ्नशब्दप्रयोगान्मुख्यशब्दार्थबाधः। शत्रुघ्नशब्दश्चाशत्रुघ्ने शत्रुहननक्रियाकर्तृत्त्व–

लक्षणा के त्रिविध कारणों में प्रयोजन तृतीय कारण है। मुकुलभट्ट के अनुसार यह प्रयोजन भी दो प्रकार का होता है। इनमें प्रथम लाक्षणिक अर्थ को अपनाने में अनादिकाल से चले आ रहे रूढि (प्रसिद्धि) और वृद्ध व्यवहार पर निर्भर रहता है। इस प्रकार प्रथम प्रयोजन रूढि का अनुसरण होता है। जैसे – 'द्विरेफ' शब्द का मुख्य अर्थ है दो रेफ से युक्त, किन्तु लक्षणा से यह 'भ्रमर' शब्द का बोध कराता है। इस प्रकार का प्रयोग अनादि काल से होता चला आ रहा है जिसके फलस्वरूप 'द्विरेफ' से तत्काल ही 'भ्रमर' का बोध हो जाता है। यही रूढि के अनुसरण पर होने वाली लक्षणा है। मुकुलभट्ट ने इसे भी एक प्रकार का प्रयोजन मान लिया है।[1]

दूसरा प्रयोजन किसी अन्य वस्तु के अन्तर्निहित ऐसे विशिष्ट रूप का प्रतिपादन करना है, जिसका प्रतिपादन अभीष्ट हो।[2] जैसे –

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः सीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भवे'-ति।।[3]

इस उदाहरण में 'राम' शब्द का संज्ञी रूप मुख्यार्थ स्वयं राम के ही वक्ता होने से बाधित है । फलतः राम पद के अर्थ में विद्यमान राज्यभ्रंश, वनवास, सीता का अपहरण, पिता की मृत्यु आदि असाधारण दुःखों के सहिष्णु धर्म से युक्त 'राम व्यक्ति' का ज्ञान लक्षणा से होता है। राम व्यक्तित्व में विद्यमान इन धर्मों का प्रतिपादन ही लक्षणा का प्रयोजन है।

इस प्रकार मुकुलभट्ट निरूढा तथा प्रयोजनवती लक्षणाओं को भी स्वीकार करते हैं । इनके अतिरिक्त कुछ लक्षणाएँ ऐसी भी होती हैं जो त्याज्य होती है क्योंकि वे अर्थज्ञान की शक्ति से बाहर होती हैं। इसके लिए इन्होंने 'तन्त्रवार्तिक' की कारिका उद्धृत की है तथा प्रसङ्गवश उसकी व्याख्या भी की है –

योगाल्लक्षणयोक्तः। प्रयोजनं चात्र शत्रुघ्नशब्दाभिधेये नृपतिरूपताप्रतिपादनम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 56)।

1. प्रयोजनस्यापि द्वैविध्यम्। किञ्चिद्धि सान्तरार्थपरिग्रहे प्रयोजनम् अनादिवृद्धव्यवहार प्रसिद्ध्यनुसरणात्मकत्वाद् रूढ्यनुवृत्तिस्वभावम्, यथा द्विरेफादौ । द्विरेफशब्देन हि रेफद्वितययोगितया भ्रमरशब्दलक्षणाद्वारेण रूढ्यनुवृत्तिरेव क्रियते। (अ० वृ० मा०, पृ० 50)।

2 अपरं तु रूढ्यनुसरणात्मकं यत् प्रयोजनमुक्तं तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरगतस्य संविज्ञानपदस्य रूपविशेषप्रतिपादनं नाम, यथा पूर्वमुदाहृतं 'रामोऽस्मी'ति। (अ० वृ० मा०, पृ० 50)।

3. अ० वृ० मा०, पृ० 27.।

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।।[1]

इसमें निरूढा लक्षणा 'राजा', 'द्विरेफ' आदि हैं। कुछ लक्षणाएँ ऐसे होती हैं जो तत्काल की जाती हैं । इसका तात्पर्य उन लक्षणाओं से है जो वृद्धव्यवहार और वक्ता आदि के आधार पर प्रयोजन-प्रतिपादन हेतु की जाती हैं। जैसे- '**स्निग्धश्यामल - - - - -** ' इत्यादि उदाहरण में 'लिप्त' शब्द बाधितमुख्यार्थ है क्योंकि कुङ्कुम आदि के समान कान्ति लेपन का साधन नहीं बन सकती। अतः लक्षणा द्वारा कान्ति से युक्त वस्तु का बोध होता है। यह प्रतीति 'लिप्त' अर्थ में विद्यमान 'आच्छादित करने की शक्ति' आदि धर्म के सादृश्य के आधार पर हो रही है।[2] इसी प्रकार 'सुहृद्' शब्द का मुख्य अर्थ है मित्र, वह बाधित हो रहा है क्योंकि मेघ के साथ मैत्री सम्बन्ध सम्भव नहीं है, वे अचेतन होते हैं अतः सुहृद् में रहने वाले साम्मुख्य आदि गुणों की समानता के आधार पर पयोद्सुहृद् का अर्थ मेघाभिमुख मयूर होता है। यह अर्थ लाक्षणिक है।[3]

कतिपय लक्षणाएँ ऐसी होती हैं जो न तो लिप्त आदि शब्दों के समान वृद्धव्यवहार में दृष्टिगत होती हैं और न ही 'राजा' आदि शब्द के समान रूढि के अनुसरण पर होती हैं। ऐसी लक्षणाएँ सर्वथा अशक्य होती हैं, वे ही त्याज्य लक्षणाएँ कहलाती हैं। उदाहरण स्वरूप -

मध्येसमुद्रं कुकुभः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनभूमिभासा।
तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास।।[4]

इसमें प्रयुक्त 'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह' पद लक्षणा द्वारा समुद्र की अग्नि के लिए प्रयुक्त है। यह पद न तो वडवामुखानल (समुद्र में प्रज्वलित अग्नि) के लिए रूढि से युक्त है और न ही ऐसा प्रयोग वृद्धव्यवहार में स्वीकार किया गया है।[5] द्विरेफ

1. अ० वृ० मा०, पृ० 25.।
2. अत्र हि लिप्तशब्दः कान्तेः कुङ्कुमादिवल्लेपनसाधनत्वाभावाद् बाधितमुख्यार्थः, अतस्तेन स्वार्थगतो योऽसावीषत्तिरोधीयमानत्वादिधर्मः प्रतिपादितः तत्सदृशेषत्तिरोधीयमानत्वादिधर्मयोगात् कान्तिसंपृक्तोऽर्थो लक्ष्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 27-28) ।
3. एवं सुहृच्छब्देनापि पयोदानामचेतनत्वेन मैत्रीसम्बन्धाभावान्मुख्यशब्दार्थबाधे सति सुहृद्गता ये ते ते सांमुख्यादयो धर्माः तत्सदृशसांमुख्यादिधर्मयोगतः पयोदाभिमुखा मयूरा लक्ष्यन्ते। (अ० वृ० मा०, पृ० 28) ।
4. अ० वृ० मा०, पृ० 29. ।
5. अत्र हि 'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह'- शब्दो वडवामुखाग्नौ लक्षणया प्रयुक्तः। न चासौ वडवामुखाग्नौ निरूढः, नापि च तज्जातीयः शब्दो विशिष्टसामग्र्यनुप्रविष्टतया विद्धाविद्धार्थावगाहित्वेन परिदृष्टः। (अ० वृ० मा०, पृ० 29)।

आदि शब्दों की समानता के आधार पर ऐसे शब्दों को लक्षक नहीं कहा जा सकता। वृद्धव्यवहार में लाक्षणिक रूप से प्रचलित शब्द ही लक्षक होते हैं। उनसे जिस किसी प्रकार से समानता रखने वाले शब्द भी लक्षक नहीं हो सकते। अन्यथा सभी शब्दों में आंशिक साम्य देखकर ही उन्हें सभी अर्थों का लक्षक स्वीकार किया जाने लगेगा। कोई भी शब्द जिस किसी भी अर्थ का बोधक नहीं होता।[1]

'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह' शब्द के प्रयोग का कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं है अतः प्रयोजन के अभाव में इसे दोषयुक्त ही माना जाएगा। यदि इस प्रकार के प्रयोग में किसी गुप्त अर्थ का प्रतिपादन रूप प्रयोजन सम्भव हो तब इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग को भी दोषरहित माना जाएगा।[2] अन्यथा ऐसी लक्षणाएँ त्याज्य ही होती हैं।

लक्षणा में वाच्यार्थ की स्थिति

लक्षणा में लाक्षणिक अर्थ वाच्यार्थ से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध रहता है। ये सम्बन्ध सादृश्यादि पाँच प्रकार के होते हैं। इनसे होने वाली लक्षणा में वाच्यार्थ की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। कहीं उसका अत्यन्त तिरस्कार होता है, कहीं उसकी विवक्षा रहती है तो कहीं वह अविवक्षित रहता है।[3]

मुकुलभट्ट ने विविध लक्षणाओं में वाच्यार्थ की स्थिति का विस्तृत विवेचन किया है। इन्होंने 'सहृदय' नामक विद्वान् की मान्यता को इसका आधार माना है।[4] 'सहृदय' आनन्दवर्धन ही थे अथवा उनसे भिन्न, उनका सम्बन्ध ध्वन्यालोक से था ही। 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि के 'अविवक्षितवाच्य' तथा 'विवक्षितान्यपरवाच्य' रूप

---

1. ननु– द्विरेफादीनां शब्दानां रेफद्वितयानुगतभ्रमरादिशब्दलक्षणाद्वारेण यथा षट्पदादौ प्रवृत्तिः, तथा तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहशब्दस्यापि वडवामुखाग्नौ वडवादिशब्दलक्षणाद्वारेण कथं प्रवृत्तिर्न स्यात्, तज्जातीये द्विरेफादौ शब्दलक्षणायाः परिदृष्टत्वात् ।
नैतत्, यतो वृद्धव्यवहाराभ्यनुज्ञातेष्वेव शब्देषु तज्जातीयशब्ददर्शनात् लक्षणात्वमभ्युपगम्यते, न तु सर्वत्र । अन्यथा सर्वेषामेव शब्दानां येन केनचिज्जातिलेशेन सर्वानर्थान् प्रति लक्षणाशब्दत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात् न कश्चिच्छब्दः किञ्चिदर्थं प्रत्यवगमकः स्यात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 29-30)।
2. - - - तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहेत्यादीनामसति प्रयोजने दुष्टत्वमेव, सति तु गुप्तार्थप्रतिपादनादिप्रयोजनसंभवे एवंविधानामपि लक्षणानामदुष्टत्वम् । (अ० वृ० मा०, पृ० 30)।
3. इदानीं पञ्चविधसंबन्धनिबन्धनायामासत्तौ पूर्वोपवर्णितायां क्वचिद् वाच्यस्यातितिरस्कारः, क्वचिद् विवक्षितत्वं क्वचिच्चाविवक्षितत्वम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 58)।
4. ---- इत्येवंविधं त्रयं यत् सहृदयैरुपदर्शितं तस्य विषयविभागमुपदर्शयितुमाह - - - -' । (अ० वृ० मा०, पृ० 58) ।

से दो प्रकार माने गये हैं। इनमें अविवक्षितवाच्यध्वनि लक्षणामूलाध्वनि है जिसके अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत ये दो अवान्तर भेद हो जाते हैं।[1]

मुकुलभट्ट के मतानुसार सादृश्य एवं वैपरीत्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार रहता है।[2] सादृश्य से होने वाली लक्षणा में उपमानवाची पद उपमेयपरक रहता है। ऐसी दशा मे उपमान रूप वाच्यार्थ त्यक्त रहता है। उदाहरणस्वरूप 'स्निग्धश्यामलकान्ति' और 'पयोदसुहृदाम्' इत्यादि स्थलों में 'लिप्त' एवं 'सुहृद्' शब्द का मुख्यार्थ उपमानरूप है जो पूर्णतया तिरस्कृत है।[3] इसी प्रकार वैपरीत्य सम्बन्ध में भी वाच्य अर्थ से सर्वथा विपरीत अर्थ का ग्रहण होने से वाच्यार्थ तिरस्कृत रहता है।[4]

सम्बन्ध और समवाय के स्थलों में वाच्य अर्थ विवक्षित भी रहता है और अविवक्षित भी। इन दोनों में जहाँ उपादान लक्षणा का प्रसङ्ग होता है वहाँ वाच्य की विवक्षा रहती है तथा लक्षणलक्षणा में वाच्य की अविवक्षा रहती है।[5] समवाय सम्बन्ध के आधार पर होने वाली उपादान लक्षणा **'छत्रिणो यान्ति'** वाक्य में छत्रधारी व्यक्ति रूप मुख्यार्थ भी विवक्षित रहता है।[6]

सम्बन्ध से उपादान लक्षणा के उदाहरण में मुकुलभट्ट ने **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** वाक्य प्रस्तुत किया है। इसमें रात्रिभोजन रूप कारण का लक्षणा से

---

1. (क) अस्ति ध्वनि: ।स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविध: सामान्येन। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 254) ।
   (ख) अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
   अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ।। (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० 1) ।
2. सादृश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्यातितिरस्क्रिया। (अ० वृ० मा०, पृ० 58) ।
3. सादृश्यनिबन्धनायां लक्षणायामुपमानवाचिन: पदस्योपमेयपरत्वमुपमानात्मकं वाच्यमत्यन्तं तिरस्क्रियते। यथोपदर्शितं 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्ते'-ति 'पयोदसुहृदामि'-ति च । अत्र हि लिप्तसुहृच्छब्दयो: स्वार्थोपमितवस्तुपरत्वात् स्वार्थस्यात्यन्तं कार्येऽनन्वितत्वम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 58) ।
4. वैपरीत्यसमाश्रयायामपि तस्यामर्थान्तरस्य वाच्यविपरीतस्योपादेयत्वाद् वाच्यस्यात्यन्तं तिरस्कार:,......। (अ० वृ० मा०, पृ० 58-59) ।
5. विवक्षा चाविवक्षा च संबन्धसमवाययो: ।
   उपादाने विवक्षात्र लक्षणे त्वविवक्षणम्।। (अ० वृ० मा०, पृ० 58) ।
6. उपादाने वाच्यस्य विवक्षितत्वं, यथा 'छत्रिणो यान्ती'-ति। अत्र हि यदा छत्री बहुत्वोपेतत्वात् स्वगतबहुत्वान्वयसंसिद्ध्यर्थत्वेन छत्रशून्यानपि आक्षिपति तदा समवायनिबन्धने छत्रशून्यानामुपादाने क्रियमाणे वाच्यश्छत्री विवक्षित:। (अ० वृ० मा०, पृ० 60)।

आक्षेप होता है । यहाँ वाच्यार्थ 'दिन में भोजन का अभाव होने पर भी देवदत्त की स्थूलता' विवक्षित रहती है।[1]

सम्बन्ध तथा समवाय से होने वाली लक्षणलक्षणा में वाच्य की अविवक्षा रहती है किन्तु उसका अत्यन्त तिरस्कार नहीं रहता।[2] सम्बन्ध से लक्षणा के उदाहरणस्वरूप 'रामोऽस्मि - - - ' । इत्यादि पद्य में राम पद का वाच्यार्थ दशरथपुत्र रूप अर्थ अविवक्षित रहता है किन्तु उसका अत्यन्त तिरस्कार भी नहीं होता क्योंकि अन्य व्यङ्ग्य धर्मों में उसका अन्वय हो जाता है। इसी प्रकार की स्थिति 'गङ्गायां घोषः' में भी है।[3] यहाँ गङ्गा पद का मुख्यार्थ जलप्रवाह अविवक्षित तो होता है किन्तु अत्यन्त तिरस्कृत नहीं रहता। तट रूप लक्ष्यार्थ में प्रतीयमान शैत्य एवं पावनत्व का जो बोध होता है वह मुख्यार्थ जल-प्रवाह का ही धर्म है।

समवाय से होने वाली लक्षणलक्षणा में वाच्य की अविवक्षा दर्शाते हुए मुकुलभट्ट ने 'छत्रिणो यान्ति' उदाहरण ही प्रस्तुत किया है जिसे उन्होंने वाच्य की विवक्षा के प्रसङ्ग में भी उदाहरण माना था। यहाँ बहुवचन के प्रयोग की उपपत्ति के लिए छत्री पद समुदाय का लक्षक मान लिया जाता है। इस स्थिति में छत्रधारित्वरूप वाच्यार्थ अविवक्षित रहता है। प्रस्तुत उदाहरण में विवक्षा के स्थल में प्रधानतया गमन क्रिया अभीष्ट है। छत्रधारी राजा के साथ उसके अनुचर गौण रूप से विवक्षित रहते हैं अतः यहाँ मुख्यार्थ छत्रधारी विवक्षित रहता है। द्वितीय अविवक्षा स्थल में समुदाय रूप अर्थ प्रधानतया अभिप्रेत रहता है। ऐसी दशा में छत्रधारी पुरुष अर्थ गौण हो जाता है तथा मुख्यार्थ की अविवक्षा मान ली जाती है।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि

1. ......सम्बन्धनिबन्धनायां लक्षणायामुपादाने वाच्यविवक्षायामुदाहरणम् - 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति। अत्र, हि दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतया पीनत्वलक्षणं कार्यं विवक्षितमेव सत् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन सम्बन्धनिबन्धनायां लक्षणायां रात्रिभोजनात्मकं कारणमाक्षिपति। (अ० वृ० मा०, पृ० 60) ।
2. लक्षणात्मिकयोस्तु तयोर्वाच्यस्याविवक्षितत्वम्, न त्वत्यन्तं तिरस्कारः लक्ष्यमाणद्वारेण कथंचित् कार्येऽन्वितत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 63) ।
3. सम्बन्धनिबन्धनायां लक्षणायामविवक्षितवाच्यत्व उदाहरणं 'रामोऽस्मी'-ति। अत्र हि रामशब्दवाच्यं दाशरथिरूपं व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतत्वात् स्वपरत्वेनानुपात्तम्, तस्मादविवक्षितम्, नत्वत्यन्तं तिरस्कृतम्, - - -। एवं 'गङ्गायां घोष' इत्यादावप्युन्नेयम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 63) ।
4. समवायसम्बन्धनिबन्धनायां तु लक्षणायामविवक्षितवाच्यता 'छत्रिणो यान्ती' - त्यत्रैवोदाहार्या। तथाहि यदा छत्रित्वं बहुत्वान्वयान्यथानुपपत्त्या समुदायपरतयोपादीयते तदात्र समुदायस्य विवक्षितत्वाद् वाच्यस्याविवक्षा। एवमपि च समुदायान्तर्भूतत्वात् समुदायद्वारेण छत्रिणोऽपि क्रियान्वयः सुलभ एव। अत एव चात्र वाच्यस्य नात्यन्तं तिरस्कारः, समुदायरूपान्तरभूतत्वेन क्रियान्वितत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 63- 64) ।

सम्बन्ध और समवाय के स्थलों में वाच्य की विवक्षा अथवा अविवक्षा रहती है किन्तु उसका अत्यन्त तिरस्कार नहीं रहता।

क्रियायोग पर आधारित लक्षणा में कहीं वाच्य का तिरस्कार रहता है तो कहीं स्थिति इसके विपरीत रहती है अर्थात् कहीं तिरस्कार नहीं रहता।[1] कभी जब शब्द के अवयवों के आधार पर लक्षणा होती है तो वहाँ लक्ष्यार्थबोध शब्दशक्तिमूलक माना जाता है। ऐसे स्थलों में वाच्यार्थ का जहाँ तिरस्कार रहता है उसका उदाहरण है **'पुरुषः पुरुष'**। इस प्रयोग में प्रथम पुरुष शब्द के द्वारा पुरुषत्वरूपी जातिविशिष्ट का प्रतिपादन किया जा रहा है और द्वितीय पुरुष शब्द द्वारा वाच्यार्थ से भिन्न क्रियायोग सम्बन्ध से अतिशय से युक्त अर्थ का लक्षणा द्वारा बोध कराया जा रहा है। यहाँ वाच्य का तिरस्कार है।[2]

जहाँ किसी निमित्त के रहने से वाच्य अर्थ विवक्षित रहता है और लक्षणा से बोधित दूसरा अर्थ अर्थात् लक्ष्यार्थ छिपाया नहीं जाता वहाँ स्थिति विपरीत रहती है अर्थात् वहाँ वाच्य अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत नहीं रहता। जैसे 'घोर संग्राम में तुम शत्रुघ्न हो' इस प्रयोग में शत्रुघ्न शब्द क्रियायोग सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा शत्रुहनन रूप क्रिया के कर्ता को तो बताता ही है परन्तु उसका दशरथ-पुत्र रूप मुख्य अर्थ भी विवक्षित रहता है। यहाँ वाच्यार्थ को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[3]

इस प्रसङ्ग में मुकुलभट्ट ने 'सहृदय' नामक विद्वान् से अपने मत की भिन्नता भी दर्शायी है। 'सहृदय' इस प्रकार के स्थलों में उपमान के उपमेयपरक होने के कारण वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार मानते हैं[4] किन्तु मुकुलभट्ट के अनुसार

1. तिरस्क्रिया क्रियायोगे क्वचित् तद्विपरीतता । (अ० वृ० मा०, पृ० 58) ।
2. क्रियायोगनिबन्धनायां तु लक्षणायां शब्दगतावयवशक्त्यनुसरणे शब्दशक्तिमूलता लक्ष्यमाणस्यार्थस्य । तत्र च वाच्यस्यार्थस्य तिरस्क्रिया यथा 'पुरुषः पुरुष' इति। अत्र ह्येकेन पुरुषशब्देन विशिष्टजातीयस्यार्थस्योपात्तत्वादपरः पुरुषशब्दः स्ववाच्यव्यतिरेकेणैव क्रियायोगनिबन्धनया लक्षणया पुनरतिशयितृत्वमुपादत्ते। (अ० वृ० मा०, पृ० 65) ।
3. यत्र तु निमित्तसद्भावाद् वाच्येऽर्थे विवक्षित एव तस्यार्थान्तरस्य शब्दशक्त्यन्तरमूलतया व्यवस्थितस्याऽव्यवायः क्रियते तत्र तद्विपरीततया वाच्यार्थतिरस्क्रियावैपरीत्यम्। न खल्वत्र वाच्यस्यार्थस्य तिरस्क्रिया, अपि तु विवक्षितत्वमेव यथा 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वमि'ति। अत्र हि शत्रुघ्नशब्दः शत्रुहननक्रियायाः कर्तृत्वं क्रियायोगनिबन्धनया लक्षणयावगमयन्नपि स्वार्थं दाशरथिमुपमानतयापि प्रतिपादयति। तेन तस्य विवक्षितस्य स्वार्थतापि। (अ० वृ० मा०, पृ० 65-66) ।
4. यद्यपि चोपमेयपरत्वेनोपमानस्योपादानादेवंविधे विषयेऽऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता सहृदयैरङ्गीक्रियते तथापि क्रियायोगनिबन्धनलक्षणावसरे तावद् वाच्यस्योपमानत्वेनाङ्गीकृतत्वा-दतिरस्कृतवाच्यतापि भवति। (अ० वृ० मा०, पृ० 66) ।

क्रियायोगमूलक लक्षणा के स्थलों में वाच्य उपमान रूप से भी स्वीकृत रहता है। अतः उसकी विवक्षा रहती है अत्यन्ततिरस्कार नहीं।

लक्षणा एवं अभिधा का पौर्वापर्य

लक्षणा के सम्बन्ध में विचार करते समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लक्षणा सदैव अभिधा के पश्चात् होती है या उसके पहले भी होती है ? इसी पृष्ठभूमि में मुकुलभट्ट ने अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, दोनों का समुच्चय तथा दोनों का अभाव रूप चार पक्ष प्रस्तुत किया है । इसमें अभिहितान्वयवाद में लक्षणा अभिधा के पश्चात् होती है, अन्विताभिधानावाद में पहले। दोनों के समुच्चय में पूर्व तथा पश्चात् दोनों होती है तथा दोनों के अभाव में जहाँ वाक्यार्थ अखण्ड माना जाता है वहाँ लक्षणा होती ही नहीं।[1]

अभिहितान्वयवाद

वाक्य से वाक्यार्थ बोधन की प्रक्रिया के विषय में मीमांसकों में दो मत प्रचलित हैं जो अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद के नाम से जाने जाते हैं । अभिहितान्वयवाद कुमारिलभट्ट तथा उनके मतानुयायियों का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार अभिधा से पहले पदों का पृथक्-पृथक् जातिरूप अर्थ प्रकट होता है। तदनन्तर आकाङ्क्षा योग्यता एवं सन्निधि के कारण तात्पर्य वृत्ति से वाक्यार्थबोध होता है। अभिहितान्वयवादियों के अनुसार पदों में केवल पदार्थबोधन की ही शक्ति रहती है। शब्दों के द्वारा उनके अन्वय को प्रकट नहीं किया जा सकता। अन्वय या सम्बन्ध रूप अर्थ तो तात्पर्यार्थ है जो वाच्य अर्थ से विलक्षण प्रकार का होता है। इस प्रकार वाक्यार्थबोध में अभिहित अर्थात् अभिधा द्वारा उपस्थित पदार्थ का बाद में अन्वय मानने के कारण इस सिद्धान्त को अभिहितान्वयवाद के नाम से जाना जाता है ।[2] इस मत में पदार्थों का परस्पर अन्वय आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से होता है। आकाङ्क्षा से तात्पर्य है पदों की पारस्परिक अपेक्षा के कारण वाक्यबोध के लिए

---

1. अन्वयेऽभिहितानां सा वाच्यत्वादूर्ध्वमिष्यते ।।
   अन्वितानां तु वाच्यत्वे वाच्यत्वस्य पुरः स्थिता।
   द्वये द्वयमखण्डे तु वाक्यार्थपरमार्थतः।।
   नास्त्यसौ कल्पितेऽर्थे तु पूर्ववत् प्रविभज्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 42) ।
2. आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् । (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 34) ।

अगले पद की श्रवणेच्छा ।[1] योग्यता का अर्थ है पदार्थ के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव ।[2] सन्निधि का अभिप्राय है एक ही व्यक्ति द्वारा अविलम्ब पदों का उच्चारण। इसे आसत्ति भी कहा जाता है।[3]

अभिहितान्वयवाद को स्पष्ट करते हुए मुकुलभट्ट कहते हैं कि पदों की पहुँच अपने सामान्य अर्थ तक ही रहती है। आकाङ्क्षा आदि से जो वाक्यार्थबोध होता है वह अनभिधेय होता है। जैसे 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'कन्या ते गर्भिणी' इन वाक्यों से क्रमशः जो हर्ष एवं शोक होता है उसके अभिधायक शब्द यहाँ प्रयुक्त नहीं हैं। फलतः इन दोनों के अभिधा से कथित न होने से हर्ष और शोक का आक्षेप होता है। यही स्थिति वाक्यार्थ की भी है। वह भी पदों से विदित अर्थों द्वारा आक्षिप्त ही होता है। इस प्रकार अर्थ पहले अभिहित हो जाते हैं उसके बाद उनका अन्वय होता है, इसी कारण यह सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद कहलाता है।[4] मुकुलभट्ट ने अभिहितान्वयवाद का जो स्वरूप स्पष्ट किया है उसके अनुसार वाक्यार्थबोध तात्पर्यवृत्ति से नहीं अपितु आक्षेप से होता है। आक्षेप इनके अनुसार लक्षणा ही है। अभिहितान्वयवाद में लक्षणा अभिधा के पश्चात् ही होती है। अर्थात् पदों से सामान्यरूप अर्थों का अभिधा द्वारा बोध हो जाने के पश्चात् उन पदार्थों के आधार पर वाक्यार्थबोध होने लगता है तब लक्षणा मानी जाती है।[5]

अन्विताभिधानवाद

अन्विताभिधानवाद प्रभाकर एवं उनके अनुयायियों का है। अन्विताभिधानवादी

1. का पुनरियमाकाङ्क्षा ? प्रतिपित्तुर्जिज्ञासा। किन्निबन्धना पुनरसौ? अविनाभावनिबन्धनेति केचित्। क्रिया हि कारकाविनाभाविनीति तां प्रतीत्य कारकं जिज्ञासते, एवं कारकमपि बुद्ध्वा क्रियामिति। (वा० मा० वृ०, पृ० 37-38) ।
2. पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रामाण्यनिरूपणम्, पृ० 76) ।
3. ....सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रमाण्यनिरूपम्, पृ० 65) ।
4. इह केषांचिदन्वयव्यतिरेकावसेयसामान्यभूतस्वार्थमात्रविश्रान्तेषु पदेषु पदार्थाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतामहिम्ना वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्य हर्षशोकादिवदवसेयत्वमेव। यथा हि 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणीती'- ति यथाक्रमं पुत्रजन्मकन्यागर्भिणीत्वनिमित्तौ हर्षशोकौ स्वशब्देनानभिहितावपि शब्दाभिधेयभूतवस्तुसामर्थ्यादाक्षिप्येते, एवं वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्यैव पदार्थाक्षेप्यत्वे द्रष्टव्यम्। एषां चैवंवादिनां मतेनार्थानामभिहितानामुत्तरकालं परस्परान्वयादभिहितान्वयः। (अ० वृ० मा०, पृ० 42) ।
5. तत्र च यदा तावदभिहितान्वयः तदा स्ववाचकैरभिहितानां पदार्थानामभिहितोत्तरकालम् आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमाहात्म्याद् विशेषणविशेष्यभावात्मके परस्परमन्वये सति सा लक्षणा पदार्थानां सामान्यभूतानां यद् वाच्यत्वं तस्मादूर्ध्वं वाक्यार्थे पदार्थसामर्थ्यादवगम्यमाने सतीष्यते। (अ० वृ० मा०, 47) ।

अभिहितान्वयवाद का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार वाक्यार्थबोध में पदों से अन्वित पदार्थ का ही बोध अभिधा से होता है। अलग-अलग अर्थ जो परस्पर सम्बद्ध नहीं हैं, प्रकट नहीं हो सकते। अपने मत की पुष्टि हेतु अन्विताभिधानवादियों का तर्क है कि सङ्केतग्रह के पश्चात् ही पद से पदार्थबोध होता है। सङ्केतग्रह के साधनों में 'व्यवहार' एक प्रमुख साधन है। उदाहरण स्वरूप पिता के समीप बैठा एक बालक पिता द्वारा उच्चरित 'गामानय' इस वाक्य को सुनता है तथा अपने अग्रज को सास्नादिमान् पिण्ड के आनयनरूप कार्य को करते देखकर यह अनुमान करता है कि 'गामानय' इस अखण्ड वाक्य का सास्नादिमान् पिण्ड के लाने में अभिप्राय था। इसके पश्चात् पिता के 'गां नय', 'अश्वमाहर' आदि वाक्यों को सुनकर अग्रज को तदनुसार व्यवहार करते देखकर शनैः शनैः भिन्न-भिन्न शब्दों का उसे अर्थ बोध होने लगता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सङ्केतग्रह केवल किसी पदार्थ में नहीं अपितु किसी के साथ अन्वित पदार्थों में ही होता है, अतः पारस्परिक सम्बन्धयुक्त पदार्थ ही वाक्यार्थ होते हैं।[1]

मुकुलभट्ट ने अन्विताभिधानवाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वृद्धव्यवहार पर निर्भर बताया है। वृद्धव्यवहार प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप होता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति अन्य अर्थो से अन्वित अर्थात् विशिष्ट अर्थ में होती है। अतः विशिष्ट अर्थ ही अभिधेयार्थ होता है, अभिधा से विदित होने के पश्चात् अर्थों में वैशिष्ट्य नहीं आता है। अर्थ पहले परस्पर अन्वित होकर ही वाक्यार्थरूप में आते हैं तदनन्तर उनका ज्ञान पदों द्वारा होता है। इस प्रकार इनका पदों से सम्बन्ध सामान्य रूप ही होता है। इसी सिद्धान्त को अन्विताभिधानवाद कहते हैं।[2]

---

1. (क) वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 34)।
   (ख) येऽप्याहुः -
   शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
   श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया।
   अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्।
   अर्थापत्त्याऽवबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम्।। (का० प्र०, पं० उ०, पृ० 242)।
   (ग) विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्। (का० प्र०, पं० उ०, पृ० 243)
2. अपरे त्वाहुः-वृद्धव्यवहाराच्छब्दार्थसंबन्धावसायः। स च वृद्धव्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः। प्रवृत्तिनिवृत्ती च विशिष्टार्थनिष्ठे। अतो विशिष्ट एवार्थे पदानां संबन्धावधृतिः। ततश्च विशिष्टा एव पदार्थाः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्। एवं च परस्परान्वितानां तत्तत्सामान्यावच्छादितत्वेन गृहीतस्ववाचकसंबन्धानां पदैः प्रत्यायनादन्विताभिधानमिति। (अ० वृ० मा०, पृ० 44)।

यहाँ मुकुलभट्ट ने 'सामान्यावच्छादित' पद का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यही है कि अभिधा से सामान्यावच्छादित विशेष रूप का ही बोध होता है। व्यवहार में विशेष रहित सामान्य का प्रयोग नहीं हो सकता। 'गामानय' में 'आनयन' क्रिया सामान्य है। यह एकाकी अर्थबोध नहीं करा सकती 'आनय' पद की सामान्यरूपता तो प्रत्येक वाक्य में प्रयुक्त होने वाले आनय पद में रहेगी। उसमें विशेषरूपता किसी अन्य पदार्थ विशिष्ट से संयुक्त होने पर ही आएगी। इसी कारण सङ्केतग्रह सामान्यावच्छादितविशेष में ही होता है।

अन्विताभिधानवाद में सम्पूर्ण वाक्यार्थ में ही अभिधा मानी जाती है। वहाँ अभिधा के निश्चय के लिए पहले लक्षणा होती है। इसका अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ के रूप में सामान्य अर्थ का ज्ञान होने के पश्चात् जब पद-पदार्थ रूप विशिष्ट अर्थ का ज्ञान होने लगता है तब उनमें सम्बन्धतत्त्व के ज्ञान के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। अत: अन्विताभिधानवाद में लक्षणा की स्थिति अभिधा के पूर्व आती है।[1]

समुच्चयवाद

समुच्चयवाद के सिद्धान्त के अनुसार पद से सामान्य वाच्य अर्थ का ज्ञान होता है और वाक्य से परस्पर अन्वित पदार्थ का। इस सिद्धान्त में अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद दोनों ही मान्य हैं। यहाँ पद की दृष्टि से अभिहितान्वयवाद तथा वाक्य की दृष्टि से अन्विताभिधानवाद सत्य है। इसी कारण इसे 'समुच्चयवाद' कहते हैं।[2] समुच्चयवाद से मुकुलभट्ट ने भाषा तथा लोक व्यवहार दोनों का समन्वितरूप प्रस्तुत किया है। भाषा में शब्द के अनुसार अर्थ की ओर प्रवृत्ति होती है अत: वहाँ अभिहितान्वयवाद की स्थित होती है किन्तु लोक में अर्थ देखकर ही उसके सम्बन्ध का अन्वेषण होता है तब शब्द के प्रति उन्मुखता होती है। ऐसी दशा में अन्विताभिधानवाद की प्रक्रिया आती है।

---

1. तत्र विशिष्यमाणानां वस्तूनां पदार्थत्वं तावन्न घटते, यावत् सकलवाक्यार्थानुयायितया प्रतिपन्नस्याव्यभिचरित-स्व-वाचकसम्बन्धस्य सामन्यरूपस्य निमित्तभूतस्यार्थस्य संप्रत्यये सति तत्तद्वाक्यार्थविषयतया यथाविषयं षट्प्रकारा लक्षणा नाविर्भवति। अतोऽन्विताभिधाने विशिष्टानां पदार्थानां वाक्यार्थस्वभावानां यद् वाच्यत्वं तस्य 'पुर:' तस्मात् पूर्वं निमित्तावस्थायां लक्षणावस्थिता। (अ० वृ० मा०, पृ० 47)।

2. अन्येषां तु मते-पदानां तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थ:, वाक्यस्य तु परस्परान्विता: पदार्था इति पदापेक्षयाभिहितान्वय:, वाक्यापेक्षया तु अन्विताभिधानम्। एवं चैतयोरभिहितान्वयान्विताभिधानयो: समुच्चय: इति। (अ० वृ० मा०, पृ० 45)।

इन दोनों के समुच्चय में पद की दृष्टि से लक्षणा अभिधा के बाद होती है तथा वाक्य की दृष्टि से अभिधा के पहले होती है।[1]

'न्यायमञ्जरी' में जयन्तभट्ट ने भी अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद में दोष दर्शाते हुए समुच्चयवाद का स्वरूप प्रस्तुत किया है ।[2]

अखण्डार्थवाद

अखण्डार्थवाद का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए मुकुलभट्ट लिखते हैं कि वाक्य एवं वाक्यार्थ दोनों ही वास्तविक रूप में अखण्ड होते हैं। पदार्थ नामक कोई वास्तविक वस्तु नहीं होती। पदार्थ एक काल्पनिक सत्य है[3] अतः जहाँ वाक्यार्थ को अखण्ड माना जाता है वहाँ लक्षणा होती ही नहीं है। वहाँ भिन्न-भिन्न पदार्थों की अभिधेयता सिद्ध नहीं होती फलतः उन पर आश्रित रहने वाली लक्षणा भी वस्तुतः असिद्ध ही होती है[4] ऐसी दशा में अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद तथा समुच्चयवाद तीनों ही अनुपयोगी हैं। व्यावहारिक स्तर पर पद-पदार्थ की जो स्थिति होती है वह तो काल्पनिक होती है, उस स्थिति में काल्पनिक रूप में लक्षणा मानी जाती है तब उपयोगिता अथवा अपनी रुचि के अनुसार तीनों ही वादों में यथावसर लक्षणा को स्वीकार करना चाहिए।[5]

---

1. 'द्वये' अभिहितान्वयान्विताभिधानसमुच्चयात्मके 'द्वयं' वाच्यत्वाद् ऊर्ध्वम्, प्राग्भावश्च लक्षणाया इत्यर्थः। (अ० वृ० मा०, पृ० 48) ।
2. अयमेव च पक्षः श्रेयान् यत्संहत्यकारित्वं पदानामसंकीर्णार्थत्वं च –
   निरपेक्षप्रयोगेऽयः शलाका कल्पना भवेत्।
   तदन्विताभिधाने तु पदान्तरमनर्थकम्।।
   संहत्यकारिपक्षे तु दोषो नैकोऽपि युज्यते।
   तेनायमुपगन्तव्यो मार्गो हि हतकण्टकः।। (न्या० म०, पृ० 372)।
3. ......परमार्थतो वाक्यवाक्यार्थयोरखण्डत्वान्नाभिहितान्वयो नाप्यन्विताभिधानम्, न च तत्समुच्चयो युज्यते, पदार्थानामविद्यमानत्वात् कल्पितपदार्थनिष्ठत्वेनोभयमपि व्यस्तसमस्तरूपतया कल्प्यत इति। (अ० वृ० मा०, पृ० 46) ।
4. अखण्डे तु वाक्यार्थेऽसौ लक्षणा परमार्थेन नास्ति। भिन्नानां पदार्थानां परमार्थतोऽभिधेयभावस्यानुपपद्यमानत्वात्, तदाश्रितत्वाच्च लक्षणायाः। (अ० वृ० मा०, पृ० 48) ।
5. कल्पितपदार्थाश्रयेण तु सा लक्षणा यथारुचि पूर्ववदभिहितान्वयान्विताभिधानतत्समुच्चयकल्पनया विभक्तव्यभागे निवेश्या परस्परस्य देशकालावच्छेदेनाशेषव्यवहर्तृनिष्ठतया रूढत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 48) ।

अखण्डार्थवाद का यह स्वरूप पूर्णतया व्यकरणशास्त्र में मान्य अखण्डार्थवाद के अनुरूप ही है। शबरस्वामी ने वैयाकरणों को 'स्फोटवादी' कहा है।[1] वैयाकरणों के अनुसार स्फोट के व्यञ्जक वर्णों को ध्वनि कहते हैं। श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि क्षणिक तथा अस्थिर होती है । स्फोट की नित्य सत्ता होती है । इनके अनुसार वाक्यार्थ का निमित्त अखण्ड स्फोट होता है तथा वाक्य में पद, पदार्थ वर्णादि का विभाग नहीं होता। वक्ता अखण्डवाक्य का प्रयोग करता है और श्रोता अपनी प्रतिभा से अखण्ड अर्थ को ही ग्रहण करता है । पारमार्थिक रूप से वाक्य में पद और पदांश का कोई महत्त्व नहीं है ।[2]

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्य-स्फोट को ही वाक्यार्थ का प्रतिपादक कहा है। पद एवं पदार्थ को ही सत्य मानने वाले मीमांसको का खण्डन करते हुए वाक्यार्थ को ही सत्य कहा है। पद एवं पदार्थ में निश्चितता का अभाव है अतः इसे सत्य नहीं माना जा सकता। वाक्य ही अखण्ड इकाई है। पदादि भिन्न भिन्न वाक्यों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयुक्त होने से असत्य हैं। लोक-व्यवहार के लिए वाक्य में वर्ण, पद, पदार्थ आदि का विभाग किया जाता है।[3] यह विभाग तो काल्पनिक है वास्तविक सत्ता तो अखण्ड वाक्य की ही है।

मम्मट के अनुसार लक्षणा का स्वरूप

आचार्य मम्मट ने जाति, क्रिया, गुण एवं संज्ञा को वाच्यार्थ माना है जिनमें शब्द का सङ्केत रहता है। इसी वाच्यार्थ का बाध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन के कारण इससे सम्बन्धित जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह लक्षणीय अर्थात् लक्ष्य अर्थ होता है।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि मम्मट ने भी लक्षणा के तीन हेतु माने हैं - मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ सम्बन्ध तथा रूढि अथवा प्रयोजन में से किसी एक का होना। इन तीनों कारणों के एक साथ उपस्थित रहने पर ही लक्षणा होती है। उदाहरणार्थ 'शब्दे कुशलः'[5] इस वाक्य में 'कुशल' पद का वाच्यार्थ है 'कुश नामक तृण को लाने

---

1. स्फोटवादिनः वैयाकरणाः (शा० भा०, 1. 1. 5)।
2. पदे न वर्णाः विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
   वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।। (वा० प०, 1/72) ।
3. अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते।
   वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते।। (वा० प०, 2/88) ।
4. तद्बाधे रूढितोऽर्थाद् वा लक्षणीयस्तदन्वितः । (श० व्या० वि०, पृ० 7) ।
5. 'शब्दे कुशल' इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् - - --- । (श० व्या० वि०, पृ० 7)।

वाला' परन्तु इस वाक्य में यह अर्थ सङ्गत नहीं हो रहा है। ऐसी स्थिति में 'कुशल' शब्द की 'चतुर' अर्थ में लक्षणा हो जाती है । यहाँ रूढि अथवा प्रसिद्ध के कारण ही लक्षणा हुई है। किसी शब्द का यौगिक अर्थ कुछ अन्य होता है, किन्तु लोकव्यवहार में, उसका मूल अर्थ परिवर्तित हो जाता है, उसके स्थान पर किसी अन्य अर्थ का प्रयोग होने लगता है, उसे ही रूढि कहते हैं। 'काव्यप्रकाश' में इन्होंने रूढि लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' दिया है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने मम्मट के इस उदाहरण की आलोचना की है। उनके अनुसार यहाँ रूढि लक्षणा नहीं है। रूढि लक्षणा का उन्होंने उदाहरण दिया है 'कलिङ्गः साहसिकः' । विश्वनाथ के अनुसार 'कुशल' पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यद्यपि कुशग्राहक है तथापि उसका मुख्यार्थ चतुर रूप अर्थ ही होता है। व्युत्पत्ति तथा प्रवृत्ति के निमित्त भिन्न-भिन्न होते हैं। यदि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ही मुख्यार्थ माना जाए तो 'गम्' धातु से 'गमेर्डोः' इस सूत्र से 'डो' प्रत्यय करके निष्पन्न 'गो' शब्द का 'गच्छति इति गौः' यह अर्थ होगा। ऐसी दशा में शयनकाल में गमन का अभाव होने के कारण गो शब्द का प्रयोग न हो सकेगा। अतः व्युत्पत्ति निमित्त को ही प्रवृत्तिनिमित्त नहीं मानना चाहिए।[1]

विश्वनाथकृत यह आलोचना आपाततः तो युक्तियुक्त प्रतीत होती है किन्तु पार्यन्तिक रूप से सत्य नहीं है। अनेक ऐसे आवश्यक स्थल आते हैं जहाँ पद का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ लिया जाता है। यमक एवं श्लेष अलङ्कारों के स्थलों में पदों का व्युत्पत्ति निमित्तक अर्थ भी कभी-कभी गृहीत होता है।

मम्मट ने प्रयोजन से होने वाली लक्षणा का उदाहरण दिया है 'गङ्गायां घोषः'। यहाँ अभीरपल्ली में शैत्य एवं पावनत्व धर्मों की प्रतीति कराने के कारण ही ऐसा प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के प्रयोजन की प्रतीति का सामर्थ्य 'गङ्गातटे घोषः' इस प्रयोग में नहीं है। लक्षणा से प्राप्त तट अर्थ गङ्गाप्रवाहरूप मुख्य अर्थ से सामीप्य सम्बन्ध से सम्बन्धित है।[2]

---

1. केचित्तु 'कर्मणि कुशलः' इति रूढावुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्रायः - कुशांल्लातीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभवन्विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति। तदन्ये न मन्यन्ते। कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्। 'गमेर्डोः' (उणादि- 2/67) इति गम्धातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगात्। (सा० द०, पृ० 30-31) ।
2. .....'गङ्गातट' इत्यादेर्येषां न तथा प्रतिपत्तिस्तेषां पावनत्वादीनां तथाप्रतिपादनात्मना प्रयोजनेन

'काव्यप्रकाश' में प्रदत्त लक्षणा की परिभाषा में मम्मट ने इसे 'आरोपिता क्रिया' अथवा आरोपित शब्द व्यापार कहा है जो कि सान्तरार्थनिष्ठ अर्थात् व्यवहित अर्थ में रहता है।[1] मुकुलभट्ट भी अमुख्य अर्थ को सान्तरार्थनिष्ठ ही कहते है।, किन्तु मुकुलभट्ट लक्षणा को एक स्वतन्त्र व्यापार अथवा वृत्ति नहीं मानते जबकि मम्मट ने इसे शब्द का एक स्वतन्त्र व्यापार माना है तथा अभिधा और लक्षणा को क्रमशः वाचक तथा वाच्य में रहने वाला व्यापार कहा है।[2] मुकुलभट्ट ने भी मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ को 'शब्दव्यापारावगम्य' तथा 'अर्थावसेय' कहा है। अर्थात् इन्होंने भी लक्षणा को अर्थनिष्ठ ही माना है।

इस प्रकार लक्षणा अर्थनिष्ठ ही होती है। शब्द में तो वह आरोपित व्यापार है। लक्ष्यार्थ के पूर्व मुख्यार्थ का व्यवधान रहता है। शब्द से सीधे लक्ष्यार्थ तक नहीं पहुँचा जा सकता। 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' पद एकाकी लक्ष्यार्थबोध नहीं करा सकता। प्रथमतः उससे प्रवाह रूप मुख्यार्थ ही उपस्थित होगा तत्पश्चात् लक्ष्यार्थ की ओर प्रवृत्ति होगी।

लक्ष्यार्थ की सापेक्षता

मुकुलभट्ट ने लक्ष्यार्थ को वक्ता आदि तीन कारण सामग्रियों से सापेक्ष माना था। उसी प्रकार मम्मट ने भी वक्ता, वाक्य एवं वाच्य के भेद से लक्षणा के अनेक प्रकार माने हैं।[3] लक्ष्य अर्थ की इस सापेक्षता का वर्णन 'काव्यप्रकाश' में नहीं है। वहाँ वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से होने वाली आठ प्रकार की आर्थी व्यञ्जनाओं का सोदाहरण एवं विस्तृत विवेचन किया गया है।

'शब्दव्यापारविचार' में लक्ष्यार्थ की सापेक्षता का जो प्रसङ्ग आया है, उसके दो कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम तो आचार्य मम्मट मुकुलभट्ट से प्रभावित हो लक्ष्य

च तेन मुख्यार्थेनान्वितो लक्षणीयो लक्षणाव्यापारगोचरः। सम्बन्धश्चात्र विवेचकत्वादिः सामीप्यादिश्च। (श० व्या० वि०, पृ० 7) ।

1. (क) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिताक्रिया।। (का० प्र०, पृ० 54) ।
-----मुख्येनामुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा। (का० प्र०, पृ० 57) ।
(ख) आरोपितव्यापार को ही विश्वनाथ अर्पितशक्ति कहते हैं –
.....सा शब्दस्यार्पिता स्वभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम। (सा० द०, पृ० 29)
2. एवं वाच्यवाचकार्थनिष्ठौ व्यापारावभिधालक्षणे। (श० व्या० वि०, पृ० 7) ।
3. वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदाद् विभिद्यते। (श० व्या० वि०, पृ० 15) ।

अर्थ की सापेक्षता भी स्वीकार करते हैं तथा द्वितीय यह कि मुकुल ने वक्ता आदि की सापेक्षता से होने वाली लक्षणा के जो उदाहरण दिये हैं, उनका खण्डन करना। क्योंकि वे तीनों ही उदाहरण जिनमें मुकुलभट्ट ने लक्षणा मानी है, मम्मट के अनुसार ध्वनिकाव्य के उदाहरण हैं। उनमें लक्षणा हो ही नहीं सकती। वक्ता के वैशिष्ट्य से होने वाली लक्षणा के लिए मम्मट ने उदाहरण दिया है –

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।।

इस पद्य में किसी के अत्यधिक अपकारों से सन्तप्त व्यक्ति की विशेषता के आधार पर अपकारी व्यक्ति की दुर्जनता का लक्षणा से बोध होता है। यहाँ लक्षणा वैपरीत्य सम्बन्ध से हो रही है। जैसे किसी मूर्ख व्यक्ति के लिए 'वृहस्पति' शब्द का प्रयोग करने से उस व्यक्ति में 'मूर्खत्व' की प्रतीति होती है।[1]

वाक्य के वैशिष्ट्य से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है –

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विस्त्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते च करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि।।

इसमें 'धन्य हो' इस कथन से 'मैं अत्यन्त धन्य हूँ' यह अर्थ लक्षणा द्वारा प्रतीत हो रहा है। यह प्रतीति वाक्य की विशेषता के आधार पर ही हो रही है।[2]

यही पद्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के चतुर्थ उल्लास में ध्वनि-भेदों के प्रसङ्ग में स्वतःसिद्ध वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्जना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[3]

मम्मट के अनुसार वाच्य वह व्यक्ति है जिससे कुछ कहा जाये। वाच्य की विशिष्टता से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है –

भुवनाभयदानसक्तशक्तेः सकलस्वीक्रियमाणसंपदस्ते।
न समानधुराधिरोहदोषं सुमते कोऽपि कदापि कर्तुमीष्टे।।

---

1. बहुभिरपकारैस्ताप्यमानस्य कस्यचिदुक्तिरियम्, अतो वक्तृमहिम्ना मूर्खे वृहस्पतिशब्देन मूर्खत्वमिवापकारिणि दुर्जनत्वादि अत्र लक्ष्यते। (श० व्या० वि०, पृ० 15)।
2. अत्र धन्यास्मीति लक्ष्यते। वाक्यस्यैवात्र शक्तिः। (श० व्या० वि०, पृ० 16)।
3. धन्याऽसि – – – –– । अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः। (का० प्र०, च० उ०, पृ० 176)।

यह ऐसे व्यक्ति के प्रति कथन है जो प्राणों से भी प्रिय व्यक्ति को, विपत्ति के समय भी तटस्थ रहकर तृणमात्र भी देने में असमर्थ है। वह व्यक्ति ही वाच्य है। वाच्य के वैशिष्ट्य से यहाँ लक्षणा हुई है।[1] यह लक्षणा भी वैपरीत्य सम्बन्ध पर आधारित है।

इसी प्रकार वक्ता, वाक्य आदि में दो – दो की विशेषता से होने वाले तीन अन्य भेद तथा तीनों के संयोजन से होने वाले भेद भी हो सकते हैं।[2]

वक्ता आदि के स्वाभिमत उदाहरणों को प्रस्तुत करने के अनन्तर आचार्य मम्मट ने मुकुलभट्ट के उदाहरणों की आलोचना की है। यद्यपि इस प्रसङ्ग में इन्होंने मुकुलभट्ट का नामोल्लेख नहीं किया है किन्तु तीनों ही पद्य 'अभिधावृत्तिमातृका' के हैं।

मम्मट के अनुसार इन तीनों ही उदाहरणों में मुख्यार्थ के बाधित न होने के कारण इनमें लक्षणा नहीं मानी जा सकती। '**दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि**- - -' इत्यादि पद्य में सम्भावित संभोगचिह्नों का अपह्नव रूप वस्तु व्यङ्ग्य है लक्ष्य नहीं ।[3]

द्वितीय पद्य में मुकुलभट्ट ने अतिशयोक्ति गर्भित उत्प्रेक्षा मानी है। मम्मट यहाँ रूपक अलङ्कार मान रहे हैं तथा उसे भी इन्होंने व्यङ्ग्य कहा है। इनके अनुसार आक्षिप्त अलङ्कार की लक्षणा से प्रतीति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि यदि आक्षिप्त अलङ्कारों को भी लक्ष्य माना जाने लगेगा तब अग्नि लाने के लिए पात्र के आनयन में भी लक्ष्यता माननी होगी।[4] जब कि अग्नि के आनयन में पात्र का लाना भी जुड़ा रहता है। 'ध्वन्यालोक' में भी शब्द के द्वारा अनुक्त किन्तु शब्दशक्ति के द्वारा ही आक्षिप्त अलङ्कार को शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहा गया है।[5]

मम्मट ने अलङ्कारों को अभिधान का ही प्रकार माना है। पण्डितराजजगन्नाथ ने

---

1. अत्र प्राणसमस्य व्यसनेऽपि तटस्थः, तृणमात्रमपि दातुमसमर्थश्च वाच्यः। (श० व्या० वि०, पृ० 16) ।
2. एवं द्विकभेदास्त्रयः, त्रिकभेदश्चैक उदाहार्यः। (श० व्या० वि०, पृ० 16) ।
3. नादेयपानीयानयनेन परपुरुषसंभोगस्य नडग्रन्थिलेखनेन संभाव्यमाननखदशनक्षतानां च निह्नवात्मकं वस्तु, भवान् हरिरिति रूपकालङ्कारः, विप्रलम्भशृङ्गारश्च रसो लक्ष्यत इति नोदाहार्यं मुख्यार्थस्य बाधाभावात्। (श० व्या० वि०, पृ० 18) ।
4. आक्षिप्तस्यालङ्कारस्य लक्ष्यत्वे च वह्न्यानयने पात्रानयनस्य लक्ष्यत्वप्रसङ्गात्। (श० व्या० वि०, पृ० 18) ।
5. आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः।। (ध्व०, द्वि० उ०, 21, पृ० 160) ।

भी 'वाच्यसौन्दर्यसारा हि अलङ्काराः' कहकर अलङ्कारों को वाच्यनिष्ठ माना है। जहाँ ये अलङ्कार आक्षिप्त होते हैं वहाँ लक्षणा से इनकी प्रतीति नहीं होती वरन् ये व्यङ्ग्य होते हैं। अलङ्कारों के स्थल में जहाँ व्यङ्ग्य की सत्ता होती भी है वहाँ प्रधानता अलङ्कारों की ही रहती है। ध्वनि-काव्य में व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होता है, अतः वहाँ यदि अलङ्कार व्यङ्ग्य होकर प्रधान होते हैं तब वे अलङ्कार न होकर 'अलङ्कार्य' होते हैं। 'ब्राह्मणश्रमणन्याय' से उन्हें 'अलङ्कार' कह दिया जाता है।[1] अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति पूर्व में ब्राह्मण था, किन्तु बाद मे बौद्ध भिक्षु हो जाता है। बौद्ध हो जाने के पश्चात् यद्यपि वह ब्राह्मणत्वादि से मुक्त हो जाता है तथापि पहले के आधार पर वह 'ब्राह्मणश्रमण' ही कहलाता है। उसी प्रकार वाच्य दशा में अलङ्कार कहलाने के कारण जहाँ अलङ्कार व्यङ्ग्य एवं प्रधान होते हैं वहाँ भी उन्हें 'अलङ्कार' ही कह दिया जाता है।

मुकुलभट्ट प्रदत्त 'दुर्वारा मदनेषवो- - -' इत्यादि वाच्य की सापेक्षता से होने वाली लक्षणा के उदाहरण में विप्रलम्भ शृङ्गार व्यङ्ग्य है लक्ष्य नहीं। बाधित वाच्यार्थ से रसप्रतीति नहीं हो सकती। मम्मट रस को सदा व्यङ्ग्य ही मानते हैं। लक्षणा में मुख्यार्थ या वाच्यार्थ का बाध अनिवार्य है। रस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होता है। यदि पूर्व में मुख्यार्थ का बाध हो तो रस प्रतीति में व्यवधान होगा।

इस प्रकार मुकुलभट्ट के तीनों ही उदाहरणों में मुख्यतया मुख्यार्थबाध का अभाव दर्शाते हुए मम्मट ने उनमें लक्षणा का निषेध किया है। यद्यपि मुकुलभट्ट ने भी मुख्यार्थबाध को लक्षणा का हेतु माना है किन्तु उसका स्वरूप मम्मट को स्वीकृत मुख्यार्थबाध से भिन्न है। मुकुलभट्ट के अनुसार मुख्यार्थ के अन्य प्रमाण से बाधित होने के कारण उसका अपनाया जाना सम्भव न होना ही मुख्यार्थबाध है। प्रथम अर्थ के बाद बोधित होने वाले सभी अर्थ इनके अनुसार लक्ष्यार्थ ही है।

मम्मट के अनुसार निरूढा, प्रयोजनवती एवं अकार्या लक्षणाएँ

मम्मट ने भी निरूढा एव प्रयोजनवती, जिसे वे 'कार्या' लक्षणा कहते हैं, के साथ 'अकार्या' लक्षणाओं का विवेचन किया है।[2]

निरूढा लक्षणा के उदाहरणस्वरूप 'शब्दव्यापारविचार' में 'अनुलोम' तथा 'प्रतिकूल' शब्द दिये गये हैं। इनके मुख्यार्थ (रोम के अनुरूप मालिश तथा तट के

---

1. अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता। (का० प्र०, च० उ०, पृ० 172) ।
2. निरूढा काचनान्या तु कार्या सा काचिदन्यथा। (श० व्या० वि०, पृ० 23) ।

विपरीत) लक्ष्यार्थ में ही वाचक के समान रूढ हो जाते हैं इसलिए इन्हें निरूढा लक्षणा कहा जाता है।[1]

'कार्या' अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणाएँ हैं जो किसी प्रयोजन के रहने पर की जाती हैं। जैसे –

रविणा हृतसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निश्श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।।

तथा – स पुरुषः स च जीवति सत्कृतं जगति यस्य पराक्रमसंभृतम्।

इनमें 'अन्ध' आदि शब्दों की वाच्यार्थ से सङ्गति नहीं होती, इस कारण उसका अत्यन्त तिरस्कार हो जाता है तथा लक्षणा से 'कान्तिरिक्तता' का बोध होता है। इस लक्षणा का प्रयोजन है कान्तिहीनता का प्रतिपादन जो व्यञ्जनालभ्य है।[2]

इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में 'पुरुषः' शब्द अपने साथ रहने वाले पराक्रम आदि धर्मों का लक्षणा से बोध कराते हैं। यहाँ उन धर्मों की अनन्तता का व्यञ्जना से बोध होता है क्योंकि वही लक्षणा का प्रयोजन है। इसमें वाच्य अर्थ दूसरे अर्थ में संक्रान्त हो जाता है।[3]

जहाँ रूढि के अनुकरण पर किसी शब्द की कल्पना करके लक्षणा की जाती है वे 'अकार्या' लक्षणाएँ होती हैं तथा वे प्रयोजनीय नहीं होतीं। जैसे दो रेफों के सम्बन्ध से द्विरेफ शब्द 'भ्रमर' शब्द को अभिधेय बनाते हुए 'षट्पद' अर्थ के लिए लक्षणा द्वारा प्रयुक्त होता है उसी प्रकार 'द्विक' आदि शब्द का प्रयोग 'कोकिल' आदि के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार की लक्षणाएँ प्रयोग के योग्य नहीं होतीं।[4]

लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से सम्बन्ध

लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से सम्बन्ध रूप हेतु के प्रकारों के लिए मम्मट ने भी

---

1. अनुलोमप्रतिकूलादिशब्देषु काचन सा वाच्यमर्थं परिहृत्य लक्ष्य एवार्थे वाचकवन्निरूढा। (श० व्या० वि०, पृ० 23)।
2. इत्यादावन्धादिशब्देषु अनुपपद्यमानत्वाद् वाच्यमत्यन्ततिरस्कृतम् इति विच्छायत्वस्य लक्षितस्यासामान्यत्वं व्यङ्ग्यम्। (श० व्या० वि०, पृ० 24)।
3. इत्यादौ पुरुषशब्दोऽनुपयुज्यमानत्वाल्लक्षितस्वगतपराक्रमादिधर्मव्यङ्ग्यतदानन्त्य संक्रमितवाच्यः। (श० व्या० वि०, पृ० 24)।
4. रेफद्वयानुगतभ्रमरादिशब्दाभिधेयत्वे द्विरेफशब्दः षट्पदे यथा प्रयुज्यते तथा कोकिलादौ द्विक इत्यादिका 'अन्यथा' न प्रयोज्याः। (श० व्या० वि०, पृ० 24)।

मुकुलभट्ट द्वारा उद्धृत भर्तृमित्र की कारिका प्रस्तुत की है। किन्तु जहाँ मुकुलभट्ट ने भर्तृमित्र का नाम लिया है वहीं मम्मट ने नामोल्लेख नहीं किया है।[1]

पाँच प्रकार के सम्बन्धों में अभिधेय के साथ सम्बन्ध रूप से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है '**द्विरेफ**'। द्विरेफादि शब्दों के अभिधेय अर्थ होते हैं '**भ्रमर**' आदि शब्द (जो दो रेफ से युक्त होते हैं), उन अभिधेय शब्दों का सम्बन्ध रहता है भौंरे से। अतः लक्षणा द्वारा '**द्विरेफ**' से '**भौंरा**' अर्थ बोधित होता है।[2]

सादृश्य से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है '**सिंहो माणवकः**' तथा -

वर्षे समस्त एवैकः श्लाघ्यः कोऽप्येष वासरः।
दिनैर्महत्तयान्वेयो यो न पूर्वैर्न चापरैः ।।[3]

इस पद्य में '**दिवस**' की उसके सदृश '**महापुरुष**' में लक्षणा हुई है। यहाँ गुणों के सादृश्य के कारण ही लक्षणाएँ हुई हैं।

समवाय सम्बन्ध को सामीप्य एवं साहचर्य रूप से मानकर इनके क्रमशः उदाहरण दिये गये हैं - '**गङ्गायां घोषः**' तथा '**छत्रिणो यान्ति**'।[4]

वैपरीत्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है किसी भीरु को '**परशुराम**' कह देना।[5]

क्रियायोग से होने वाली लक्षणा के लिए मम्मट ने भी मुकुलभट्ट प्रदत्त पद्य ही प्रस्तुत किया है-

---

1. यश्च सम्बन्धो लक्षाणाया निमित्तं तं पञ्चविधमाहुः। यथोक्तम् -
अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता।। (श० व्या० वि०, पृ० 30) ।
2. तत्र द्विरेफादिशब्दस्य भ्रमरादिः शब्दोऽभिधेयः। तत्संबन्धात् तेन षट्पदो लक्ष्यते इति अभिधेयसम्बन्धनिमित्तता । (श० व्या० वि०, पृ० 30) ।
3. अत्र प्रकरणवशाद् महापुरुषः कश्चिल्लक्ष्यते यस्य पूर्वे, भाविनो वा पुरुषा न समानत्वमुपयन्ति। (श० व्या० वि०, पृ० 30) ।
4. समवायः उक्तसम्बन्धेभ्योऽन्यः.......।
सामीप्याद् 'गङ्गायां घोष' इति
साहचर्यात् 'छत्रिणो यान्ती'-ति। अत्र हि छत्रिसाहचर्यादच्छत्रा अप्येवं व्यपदिश्यन्ते। (श० व्या० वि०, पृ० 30) ।
5. वैपरीत्याद् यथा 'कातरे भार्गव' इति। (श० व्या० वि०, पृ० 30) ।

पृथुरसि गुणैः कीर्त्त्या रामो नलो भरतो भवान्
महति समरे शत्रुघ्नस्त्वं तथा जनकः स्थितेः।
इति सुचरितैर्मूर्त्तिं बिभ्रत् पुरातनभूभृतां
कथमसि न मान्धाता देव त्रिलोकविजय्यपि।।[1]

इन उदाहरणों में 'गङ्गायां घोषः' को मुकुलभट्ट ने अभिधेय सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में भी दिया है और उसे उन्होंने समीपसमीपिभावात्मक माना है।

इन पाँचों प्रकार के सम्बन्धों के अतिरिक्त 'शब्दव्यापारविचार' तथा 'काव्यप्रकाश' दोनों ही ग्रन्थों में मम्मट ने शुद्धा एवं गौणी लक्षणा के भेद के प्रसङ्ग में सम्बन्ध के दो वर्ग माने हैं – सादृश्य सम्बन्ध तथा सादृश्येतरसम्बन्ध। सादृश्य से भिन्न स्थलों में होने वाली लक्षणा कहीं कार्य-कारण रूप से होती है जैसे 'आयुर्घृतम्' तो कहीं तादर्थ्य उपचार से जैसे 'इन्द्रार्थास्थूणा इन्द्रः'। यहाँ इन्द्र के लिए बनाई हुई स्थूणा को इन्द्र कह दिया गया है। कहीं 'स्वस्वामिभाव' सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है जैसे राजकीय अथवा राजा के विशेष कृपापात्र पुरुष को 'राजा' कह देना। 'अवयव-अवयविभाव' सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है जैसे 'अग्रहस्तः', यहाँ हाथ के केवल अग्रभाग के लिए 'हस्त' शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। 'तात्कर्म्य (उस कर्म के करने के कारण) सम्बन्ध' से भी कहीं कहीं लक्षणा होती है। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति बढ़ई जाति का नहीं है, उसे बढ़ई का कार्य करने के कारण 'तक्षा' कह देना। उसके कार्य की निपुणता ही यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है।[2]

इससे यही प्रतीत होता है कि सम्बन्धों के द्विविध वर्गों की चर्चा करके भी पाँच प्रकारों के सम्बन्धों का विवेचन मम्मट ने मुकुलभट्ट की मान्यता को स्वीकृति देने के लिए ही किया है।

अभिधा एवं लक्षणा का पौर्वापर्य

अभिधा एवं लक्षणा के पौर्वापर्य पर विचार करने के लिए मम्मट ने भी मुकुलभट्ट के अनुसार ही अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, समुच्चयवाद तथा अखण्डार्थवाद की चर्चा की है।

1. अशत्रुघ्नेऽपि शत्रुहननक्रियायोगाच्छत्रुघ्नत्वेन व्यपदेशः। (श० व्या० वि०, पृ० 31) ।
2. 'आयुर्घृतम्', 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ सादृश्यादन्यः कार्यकारणाभावादिः परः सम्बन्धः......। क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः यथा इन्द्रार्था स्थूणा, इन्द्रः, क्वचित् स्वस्वामिभावात् यथा राजकीयः पुरुषो राजा, क्वचिदवयवावयविभावाद् यथा अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रावयवे हस्तः, क्वचित् तात्कर्म्यात् यथा अतक्षा तक्षा। (श० व्या० वि०, पृ० 14) ।

अभिहितान्वयवाद

लक्षणा अभिहितान्वयवाद में अभिधा के पश्चात् होती है। वाक्य से जो वाक्यार्थबोध होता है वह अभिधा से नही अपितु तात्पर्य-शक्ति से होता है। वाक्यार्थ के विशेषरूप होने से उसमें सङ्केत-ग्रह मानने पर आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जाएँगे, इसी प्रकार वाक्य में प्रथमतः सामान्य रूप से पदों का अर्थ अभिहित होता है उसके पश्चात् आकाङ्क्षा आदि के द्वारा उनका परस्पर अन्वय होता है तदनन्तर उनमें सम्बन्धकृत वैशिष्ट्य आता है। यह विशिष्टता किसी पद का नहीं, अपितु वाक्य का अर्थ होती है जो तात्पर्य-शक्ति से उत्पन्न होती है। यही अभिहितान्वयवाद है। इस पक्ष में अभिधा पहले आती है और अन्वय में बाधा उत्पन्न होने पर लक्षणा उसके बाद आती है।[1]

'अभिहितान्वयवाद' कुमारिलभट्ट का सिद्धान्त माना जाता है। यद्यपि इन्होंने वाक्यार्थ का बोध अभिधा से नहीं माना है तथापि इनके ग्रन्थों में कहीं भी 'तात्पर्यशक्ति' का नाम नहीं मिलता है। मम्मट द्वारा उल्लिखित 'तात्पर्यशक्ति' का मूल कहाँ है यह स्पष्ट नहीं हो सका है। 'काव्यप्रकाश' में भी 'तात्पयार्थोऽपि केषुचित्' कहकर इन्होंने कतिपय विद्वानों को तात्पर्यशक्ति को मानने वाला बताया है किन्तु ये विद्वान् कौन हैं इसे स्पष्ट नहीं किया है। 'काव्यप्रकाश' के कुछ टीकाकार 'केषुचित्' से मीमांसकों का ग्रहण मानते हैं,[2] किन्तु भीमसेनदीक्षित ने 'तात्पर्यवृत्ति' को मीमांसकों का नहीं अपितु नैयायिकों का मत माना है।[3]

मीमांसाशास्त्र के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में 'तात्पर्यवृत्ति' का स्पष्ट शब्दों में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु व्याख्याकारों ने 'तात्पर्यवृत्ति' को मीमांसकों की ही वृत्ति माना है। 'श्लोकवार्तिक' की 'न्यायरत्नाकर' टीका में पार्थसारथिमिश्र ने

---

1. इहानन्त्यात् व्यभिचाराच्च वाक्यस्य वाक्यार्थ इव विशेषरूपे पदार्थे पदस्य सङ्केतः कर्तुं न पार्यत इति सामान्य एव सङ्केतः। आकाङ्क्षा-सन्निधि-योग्यतावशात् सामान्यानामभिहितानां सतां अन्वय इति पदार्थानां वैशिष्ट्यम्। एवं चापदार्थोऽपि वाक्यार्थः तात्पर्यशक्त्या प्रतिपाद्यते। अत्र पक्षे पूर्वमभिधा ततोऽन्वयबाधे लक्षणा। (श० व्या० वि०, पृ० 26) ।
2. (क) केषुचिदिति। - - - ।अभिहितान्वयवादिनामित्यर्थः। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 26। (ख) तात्पर्यार्थोऽपि केष्विति। अभिहितान्वयवादिभट्टेष्वित्यर्थः। (का० प्र०, 16टीकाओं सहित, सङ्केत, पृ० 166) ।
3. (क) केषुचिन्न्यायादिनयेषु न तु मीमांसकादिमतेष्वपि। (का० प्र०, 16टीकाओं सहित, सुधासागर, पृ० 173) ।
(ख) केषुचिदिति। प्राचीननैयायिकमतेष्वित्यर्थः। (का० प्र०, 16टीकाओं सहित, आदर्श, पृ० 173) ।

'तात्पर्य' शब्द का प्रयोग किया है।[1] साहित्यदपर्णकार ने भी 'तात्पर्यवृत्ति' को मीमांसकों की ही वृत्ति कहा है।[2] मुकुलभट्ट ने अभिहितान्वयवाद का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसमें कहीं भी 'तात्पर्यवृत्ति' का नाम नहीं लिया है। अभिधा से कथित न होने वाले अर्थ का आक्षेप लक्षणा से ही हो जाता है।

मम्मट के पूर्व अभिनवगुप्त ने 'लोचन' टीका में अनेक स्थलों पर 'तात्पर्यवृत्ति' का उल्लेख किया है।[3] अभिनवगुप्त ने व्यञ्जना-सिद्धि के प्रसङ्ग में ही तात्पर्य-वृत्ति की विवेचना की है।

सम्भवत: मम्मट ने भी व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि की भूमिका हेतु ही तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख किया है।

अन्विताभिधानवाद

यह सिद्धान्त प्रभाकर एवं उनके अनुयायियों का है जो कि अभिहितान्वयवाद के घोर विरोधी हैं।

शब्दव्यापारविचार में मम्मट ने इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है - उत्तमवृद्ध के वाक्य को सुनकर, मध्यमवृद्ध के व्यवहार को देखकर श्रोता पहले तो अखण्ड अर्थ के वाचक अखण्ड वाक्य को ही समझता है, उसके पश्चात् ही अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर किसी निश्चित अर्थांश को किसी निश्चित वाक्यांश का अर्थ मानता है। इस प्रकार सामान्यावच्छादित विशिष्टपदार्थ में ही पदों का सङ्केत रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ स्वरूपत: सामान्य होते हैं किन्तु अन्वय से उनमें वैशिष्ट्य आता है। स्पष्ट है कि अन्वय से युक्त पदार्थों का ही अभिधा से बोध होता है। इस पक्ष में लक्षणा पहले होती है। अभिधान के पूर्व ही पदार्थों के साथ अन्वयजनित वैशिष्ट्य जुड़ जाता है। लक्षणा की स्थिति अन्वय के बाधित होने पर ही

---

1. वाक्यार्थे हि शब्दानां तात्पर्यं न पदार्थेषु, तेषां प्रमाणान्तरसिद्धत्वात्। अतो यद्यप्यभिधाव्यापार: पदार्थेष्वेव पर्यवसित:, तथापि तात्पर्यव्यापृतेरपर्यवसिताया वाक्यार्थपर्यन्तत्वात् तात्पर्ये शब्दस्य प्रामाण्यात् सिध्यति शब्दे प्रमेयतया वाक्यार्थस्य शाब्दत्वमिति । (श्लो० वा०, पृ० 641)।
2. अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता तात्पर्याख्या वृत्तिरपि- - -- । (सा० द०, प्र० परि०, पृ० 157) ।
3. (क) ननु तात्पर्यशक्तिपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिक- - - - -। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 79) ।

   (ख) ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्ति: परस्परान्विते, - - - (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 80) ।

होती है अतः इस पक्ष में यदि लक्षणा का प्रसङ्ग होता भी है तो वह अभिधान के पूर्व ही हो जाता है।[1]

न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट ने भी लिखा है कि संसृष्ट अर्थ की विवक्षा हेतु ही वक्ता वाक्य का प्रयोग करता है।[2]

समुच्चयवाद

पद की दृष्टि से अभिहितान्वयवाद तथा वाक्य की दृष्टि से अन्विताभिधानवाद, इस प्रकार दोनों वादों का समुच्चय मानने पर वह लक्षणा अभिधा की पूर्ववर्ती भी होती है और पश्चात्वर्ती भी। प्रत्येक वाक्य में ये दोनों ही पक्ष सम्भव हो सकते हैं, ऐसी दशा में लक्षणा की भी दोनों ही स्थितियां स्वीकार की जा सकती हैं[3]

अखण्डार्थवाद

जहाँ वस्तुतः अखण्ड वाक्य को ही अखण्ड वाक्यार्थ का वाचक माना जाता है वहाँ वाक्यों में पदों का कोई अर्थ नहीं होता इसलिए उस दशा में लक्षणा होती ही नहीं है। जिस प्रकार किसी पद में एक-एक वर्णों का पृथक्-पृथक् कोई अर्थ नहीं होता वैसे ही अखण्डार्थवादियों के अनुसार वाक्य में पदों की स्थिति होती है। मम्मट ने एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया है कि जैसे चाबुक से आहत घोड़े के मस्तिष्क में दौड़ने की प्रेरणा होती है उसी प्रकार विशिष्ट वाक्य से अखण्डार्थ का बोध प्रतिभा के आधार पर होता है। यह बोध अखण्ड वाक्यार्थस्वरूप होता है। पद, प्रकृति, प्रत्ययादि की कल्पना मिथ्या है। यह उसकी व्यावहारिक स्थिति है। इस दशा में यदि पद, पदार्थादि की कल्पना की भी जाती है तो उपर्युक्त तीनों पक्ष मान्य होंगे एवं उनमें लक्षणा की तीन स्थितियाँ होंगी।[4]

1. अन्वितोक्तौ पुनः पुरः । 'देवदत्त गामानये'- त्याद्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणान्मध्यमवृद्धो विशिष्टं व्यापारं करोतीति दृष्ट्वा व्युत्पाद्यमानो निर्विभागेऽर्थे निर्विभागं वाक्यं वाचकं जानाति। ततो 'यज्ञदत्त गामानये'- त्यादिवाक्यान्तरप्रयोगे सति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां नियतस्य नियतार्थम-वस्यतीति सामान्यावच्छादिते विशिष्ट एव पदार्थे पदानां सङ्केत इत्यन्वितानामेव सताम् अभिधानमिति विशिष्टानां पदार्थता। अत्र पक्षे अभिधायाः 'पुरः' आदौ लक्षणा विशिष्टस्यैव पदार्थत्वात्। (श० व्या० वि०, पृ० 27-28)।
2. वक्ता वाक्यं प्रयुङ्क्ते च संसृष्टार्थविवक्षया।
   तथैव बुद्ध्यते श्रोता तथैव च तटस्थितः।। (न्या० म०, पृ० 366) ।
3. द्वये द्वयम् -पदापेक्षयाभिहितान्वयः वाक्यापेक्षयात्वन्विताभिधानमिति 'द्वयं'-पक्षे 'द्वयम्' अभिधायाः पश्चात् पुरस्ताच्च सा। (श० व्या० वि०, पृ० 29) ।
4. अखण्डे तु वाक्यार्थे नास्ति सत्यतः । वाक्यमेव वाक्यार्थस्य वाचकम्। पदेषु वर्णवद् वाक्येषु

मम्मट के परवर्ती काव्यशास्त्रियों के अनुसार लक्षणा

लक्षणा सम्बन्धी विभिन्न पक्षों के सन्दर्भ में अब तक के विश्लेषण से यह तो स्पष्ट ही है कि मुकुलभट्ट इस विषय में अपना स्वतन्त्र मत रखते हुए भी अपने पूर्ववर्ती विद्वानों से प्रभावित हैं तथा मम्मट के लक्षणा विवेचन पर मुकुलभट्ट का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है। मम्मट की लक्षणानिरूपण-शैली अपने में विलक्षण ही है। उनका लक्षणा-लक्षण पूर्णतया काव्यशास्त्र के अनुकूल एवं उपयोगी है। यही कारण है कि परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने किसी न किसी रूप में मम्मट के विचारों को अपनाया अवश्य है किन्तु मम्मट के समान लक्षणा का लक्षण कोई भी नहीं दे सका है। संक्षेप में कतिपय प्रमुख काव्यशास्त्रियों का लक्षणा-विवेचन उल्लेखनीय है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथप्रदत्त लक्षणा की परिभाषा तो मम्मट के अत्यधिक निकट है।[1] अन्तर मात्र इतना है कि मम्मट के अनुसार 'आरोपिताक्रिया' लक्षणा है तथा ये लक्षणा को 'अर्पितशक्ति' मानते हैं। यह अभिधा की भाँति ईश्वरोद्भावित नहीं होती। अतः यह अर्पित अर्थात् कल्पित शक्ति है।

काव्यशास्त्र के दार्शनिक आलङ्कारिकों में अप्पयदीक्षित अन्यतम माने जाते हैं। इनके अनुसार मुख्य अर्थ से सम्बन्ध के आधार पर जब शब्द अर्थ का प्रतिपादन करता है तब वहाँ उस अर्थ की बोधिका शक्ति को लक्षणा कहते हैं। इन्होंने गौणी को लक्षणा का ही एक भेद माना है। इसके अतिरिक्त मुख्यार्थ से परम्परया सम्बन्ध होने पर लक्षणा होती है। इस सम्बन्ध को नैयायिकों के अनुसार स्पष्ट करते हुए अप्पयदीक्षित कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध आवश्यक है। घट के विशेषणरूप तथा उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाले नील गुण के साथ नेत्र का परम्परया सम्बन्ध होता है। नेत्र और घट-नील के मध्य संयुक्तसमवाय सम्बन्ध होगा। इसलिए परम्परा सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा मानी जा सकती है।[2]

हि पदानामनर्थकत्वम् ततश्च लक्षणा नास्त्येव। कशाभिघातात् तुरगस्य यथा प्रेषितो हमनेनधावन इति प्रतिभोदेति तद्वत् प्रतिभावशाद् विशिष्टवाक्यात् प्रतिपत्तिरिति सैव वाक्यार्थः। असत्यभूतप्रकृतिप्रत्ययादिकल्पनादविद्यापदे पदार्थकल्पनायां तूक्तेषु पक्षेषु त्रयः पक्षाः। (श० व्या० वि०, पृ० 29) ।

1. मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
   रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।। (सा० द०, प्र० परि०, पृ० 28,29) ।
2. अथ लक्षणा निर्णीयते। सा च मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम् । तत्सादृश्येन प्रतिपादकत्वरूपा गौण्यपि लक्षणाप्रभेद एव, तत्सदृशेऽपि तन्निरूपितसादृश्याधि-करणत्वपरम्परासंबन्धसत्त्वात्। न हि 'साक्षात्सम्बन्धे विशिष्टबुद्धियोग्यसम्बन्धे वा सत्येव

पण्डितराजजगन्नाथ ने शक्य सम्बन्ध को लक्षणा कहा है।[1] अर्थात् जिस किसी पद के शक्यार्थ का जिस किसी पद से जो सम्बन्ध होता है, उसे लक्षणा कहते हैं। पण्डितराज की यह परिभाषा न्यायदर्शन के अनुसार की गई है। किन्तु इन्होंने भी मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ सम्बन्ध एवं रूढि अथवा प्रयोजन को लक्षणा का हेतु कहा है। मुख्यार्थ में तात्पर्य की अनुपपत्ति मानी है। गौणाी को लक्षणा का ही भेद मानते हुए इन्होंने सामीप्य, सादृश्य, कारण-कार्यादि सम्बन्धों को मान्यता प्रदान की है।[2]

'अलङ्कारमहोदधिकार' नरेन्द्रप्रभसूरि 'उपचार' को लक्षणा कहते हैं तथा इन्होंने भी लक्षणा के हेतुत्रय को स्वीकार किया है। यही उपचार रूपकादि अलङ्कारों का मूल है।[3] सम्बन्ध के विषय में इन्होंने मुकुलभट्ट को मान्य पाँच सम्बन्धों में से चार को ही उल्लिखित किया है।[4] रूढि को लक्षणा न मानते हुए[5] गौणी को लक्षणा का ही एक भेद स्वीकार किया है।

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने मुख्य, गौण, लक्षक और व्यञ्जक चार प्रकार के शब्द माने हैं।[6] इससे स्पष्ट है कि ये गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति मान रहे हैं। गुणों से होने के कारण ही अर्थ गौण होता है तथा उसका विषय अर्थात् शब्द भी गौण कहलाता है। इन्होंने रूढि से होने वाली लक्षणा को नहीं माना है।[7]

लक्षणा' इति नियमः, चक्षुरादेर्घटनैल्यादिषु संयुक्तसमवायादिवद्विशिष्टबुद्धियोग्यस्य परम्परा-सम्बन्धस्यापि प्रत्यासत्तित्वोपपत्तेः, व्यतिरेकलक्षणास्थले तन्निरूपितविरोधाधि-करणत्वादिपरम्परासम्बन्धमात्रेण तादृशेन लक्षणा क्लृप्तेश्च। (वृ० वा०, पृ० 50)।

1. शक्यसम्बन्धो लक्षणा । (र० गङ्गा०, द्वि० आ०(I), पृ० 162) ।
2. 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र सामीप्यम्, 'मुखचन्द्रः' इत्यादौ सादृश्यम्, व्यतिरेकलक्षणायां विरोधः आयुर्घृतम् इत्यादौ कारणत्वादयश्च सम्बन्धा यथायोगं, लक्षणाशरीराणि। (र० गङ्गा०, द्वि० आ० (I) ए पृ० 164-165) ।
3. कथञ्चिल्लब्धबाधस्य तत्प्रत्यासत्तिशालिनि।
   मुख्यस्यार्थस्य सामान्यमन्यार्थेऽतिशयाय यत्।।
   शब्देनारोप्यते सेयमुपचारविचित्रता।
   रूपकादीनलङ्कारान् या प्रसूते रसोत्तरान्।। (अ० म०, पृ० 32) ।
4. अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्याद् वैपरीत्यतः।
   क्रियायोगाच्च तामाहुः प्रत्यासत्तिं चतुर्विधाम्।। (अ० म०, पृ० 33) ।
5. रूढिलक्षणा त्वभिधातुल्यैव, तेनात्र नोदाहृयत । (अ० म०, पृ० 33) ।
6. मुख्यागौणलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थभेदान्मुख्यगौणलक्षकव्यञ्जकाः शब्दाः। (काव्यानुशासनम्, पृ० 26)।
7. कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षत्सङ्केतविषयत्वान्मुख्या एवेति। न रूढिर्लक्ष्यस्यार्थस्य हेतुत्वेनास्माभिरुक्ता। (काव्यानुशासनम्, पृ० 30) ।

'शृङ्गारप्रकाशकार' भोज ने गौणीवृत्ति को लक्षणा से पृथक् माना है। मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर शब्द अपने मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध लक्षणा व्यापार द्वारा ही करता है। शौर्यादि गुणों के योग से अन्यार्थ बोध कराने वाली वृत्ति गौणी है।[1]

मुख्यार्थबाध - अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति

लक्षणा की प्रक्रिया में मुख्यार्थ का बाधित होना अनिवार्य माना गया है। इस विषय में यह समस्या उपस्थित होती है कि मुख्यार्थबाध का स्वरूप क्या है ? बाध में अन्वय की अनुपपत्ति होती है या तात्पर्य की ? नागेशभट्ट ने तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज स्वीकार किया है। इनके अनुसार अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का हेतु मानने पर '**काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्**' में लक्षणा नहीं हो सकेगी क्योंकि यहाँ अन्वय की अनुपपत्ति न होते हुए भी वक्ता का तात्पर्य 'काक' से सभी 'दध्युपघातक जीवों' से है। यदि अन्वयानुपपत्ति ही मानें तो यहाँ लक्षणा निरवकाश हो जाएगी। नागेश के अनुसार अन्य उदाहरण भी हैं जिनमें तात्पर्य की अनुपपत्ति से ही लक्षणा होती है। 'गङ्गायां घोषः' में 'घोष' पद की गङ्गा में रहने वाले मकर आदि प्राणी मे ं लक्षणा मानकर भी अन्वय की उपपत्ति हो जाती तथा '**गङ्गायां पापी गच्छति**' वाक्य में गङ्गा पद का लक्ष्यार्थ 'नरक' मानकर अनुपपत्ति का परिहर हो जाएगा जबकि यहाँ वक्ता का तात्पर्य पूर्व में किए गये पापों वाला पुरुष स्नानार्थ गङ्गा में जाता है, इस अर्थ में है। इसके अतिरिक्त '**नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्**' यहाँ वक्ता का तात्पर्य नक्षत्र-दर्शन-योग्य-काल अर्थात् रात्रि से है। कालविशेष को बताने के लिए यह लक्षणा की गई है। कभी-कभी दिन में नक्षत्र दिखाई दे जाते हैं परन्तु उस समय मौन भंग नहीं किया जाता । इस प्रकार तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का कारण है।[2]

मुकुलभट्ट एवं मम्मट ने मुख्यार्थबाध का क्या अर्थ लिया है यह शब्दतः नहीं कहा। उनकी लक्षणा-प्रक्रिया को देखकर ही इस विषय में कुछ कहा जा सकता है। मुकुलभट्ट के ग्रन्थ के कुछ उदाहरण, जिनमें उन्होंने लक्षणा मानी है, मम्मट वहाँ

---

1. शृङ्गारप्रकाश, सप्तमः केवलशब्दशक्तिप्रकाशः। (पृ०, 229, 246) ।
2. वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव तद्बीजम्। अन्यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ घोषादिपदे एव मकरादिलक्षणापत्तिस्तावताऽप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारात्। गङ्गायां पापी गच्छतीत्यादौ गङ्गापदस्य नरके लक्षणापत्तेश्च। अस्माकं तु भूतपूर्वपापावच्छिन्नलक्षकत्वे तात्पर्यान्नदोषः। 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेद्' इत्यत्रान्वयसम्भवेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्यैव- लक्षणास्वीकारात्। (प० ल० म०, पृ० 50) ।

मुख्यार्थबाध के अभाव में लक्षणा का निषेध कर रहे हैं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि मुकुलभट्ट ने क्रिया-कारकादि से अन्वय की बाधा न होते हुए भी वक्ता के अभिप्राय में बाधा मानी है। लक्षणा के हेतु में 'मुख्यार्थासम्भव' का अभिप्राय तात्पर्य की अनुपपत्ति ही है क्योंकि मुकुलभट्ट प्रदत्त लक्षणा के समस्त उदाहरणों में अन्वयेन बाध ही हो, ऐसा नहीं है। मीमांसकों की भाँति मुकुलभट्ट भी तो एकमात्र अभिधाशक्तिवादी हैं । एक ही अभिधाव्यापार तात्पर्य की समाप्तिपर्यन्त रहती है। इनकी लक्षणा भी तो अभिधा का ही भेद है। ध्वनिवादी आचार्य जिस वस्तु, अलङ्कार, रस में लक्षणा नहीं मानते, उसे भी मुकुलभट्ट लक्ष्य ही कहते हैं। इनके लाक्षणिक अर्थ में सभी तात्पर्यभूत अर्थ समाहित हो जाते हैं। वक्ता के अभिप्राय की समाप्ति के पश्चात् ही लक्षणा विश्रान्त होती है।

मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' में एक स्थान पर अभिहितान्वयवाद की व्याख्या में एक वाक्य लिखा है -'**ततोऽन्वयबाधे लक्षणा**' इससे तो यही प्रतीत होता है कि अन्वय की बाधा इन्हें स्वीकृत थी। किन्तु काव्यप्रकाश के प्रमुख टीकाकारों ने मम्मट के अनुसार भी तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना है। इन टीकाकारों में वामन[1] परमानन्दचक्रवर्ती[2] तथा भीमसेनदीक्षित[3] आदि प्रमुख हैं।

शब्दों का प्रयोग विवक्षित अर्थ की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है अतः अर्थप्रतीति में तात्पर्य को महत्त्व देना युक्तिसङ्गत ही है। वस्तुतः तो 'मुख्यार्थबाध' का अर्थ 'मुख्यार्थ की अविवक्षा' ही है क्योंकि लक्षणा के स्थलों में वक्ता को मुख्य अर्थ की विवक्षा नहीं रहती । यही कारण है कि आनन्दवर्धन एवं मम्मटादि ध्वनिवादियों ने लक्षणामूलक ध्वनि में मुख्यार्थ को अविवक्षित बताया है।

नव्य नैयायिक विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्य ने तो लक्षणा की परिभाषा में ही तात्पर्यानुपपत्ति का उल्लेख किया है। इनके अनुसार भी यदि अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणा का कारण माना जाए तो '**यष्टीः प्रवेशय**' इत्यादि स्थलों में लक्षणा नहीं हो

---

1. 'मुख्यार्थबाधश्च शक्यतावच्छेदकरूपेण तात्पर्यविषयान्वयबाधः' इति प्रभायां व्याख्यातम् - - -- । एतेन तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजम्, नत्वन्वयानुपपत्तिरिति सूचितम्। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 41) ।
2. तथा हि तात्पर्यानुपपत्तौ लक्षणाया आवश्यकत्वेन यथाकथञ्चित् सम्बन्धस्य सुवचत्वात्, तदभावे तु मुख्यार्थबाधविरहेणैव लक्षणाया अप्रसङ्गात्। (का० प्र०, 16. टीकाओं सहित, विस्तारिका, पृ० 253) ।
3. कुशं लातीति यौगिकार्थो मुख्यः दक्षान्वये तात्पर्यमिति मुख्यार्थबाध इति भावः। (का० प्र०, 16 टीकाओं सहित, सुधासागर, पृ० 258) ।

सकेगी क्योंकि लाठियों के प्रवेश में अन्वय उपपन्न हो सकता है किन्तु वहाँ वक्ता का तात्पर्य 'भोजनार्थ प्रवेश' है इसी तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर यहाँ लक्षणा होती है।[1]

'वेदान्तपरिभाषाकार' धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी तात्पर्य की अनुपपत्ति को ही मान्यता दी है।[2]

1. परन्तु यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात् तदा यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात्। यष्टिषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरभावात्। तेन तत्प्रवेशे भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या यष्टिधरेषु लक्षणा। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रामाण्यनिरूपणम्, पृ० 49)।

2. लक्षणाबीजं तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव नत्वन्वयानुपपत्तिः काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात्। गङ्गायां घोष इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्। (वे० परि०, पृ० 126)।

चतुर्थ अध्याय
लक्षणा के भेद

संस्कृत काव्य-शास्त्र में लक्षणा के भेदों के विषय में भिन्न-भिन्न मत एवं दृष्टिकोण रहे हैं। सर्वप्रथम मुकुलभट्ट के ग्रन्थ में ही इसका व्यवस्थित एवं स्पष्ट ढङ्ग से वर्गीकरण देखने को मिलता है। इसके पूर्व मीमांसा तथा न्याय-दर्शन में कहीं-कहीं लक्षणा के भेदों की चर्चा हुई है। जैमिनि-सूत्रों मे अमुख्यवृत्ति के दो रूप मिलते हैं - गौणी एवं लक्षणा।[1] कुमारिलभट्ट ने भी प्रयोजनवती तथा निरूढा लक्षणा के निरूपण में लक्षणा के भेद को ही दर्शाया है।[2]

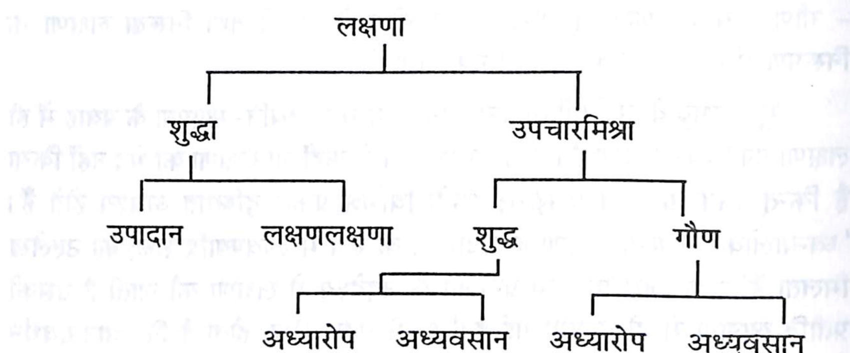
मुकुलभट्ट के पूर्ववर्ती आनन्दवर्धन के ग्रन्थ में ध्वनि-स्थापना के प्रवाह में ही लक्षणा का विवेचन हुआ है। इन्होंने स्पष्ट रूप से कहीं भी लक्षणा का भेद नहीं किया है किन्तु इनके ग्रन्थ में प्रसङ्गतः इसके विभिन्न प्रकार दृष्टिगत अवश्य होते हैं। 'ध्वन्यालोक' में रूढा लक्षणा के उदाहरण के रूप में लावण्यादि शब्द का उल्लेख मिलता है[3] तथा जिस फल या प्रयोजन के उद्‌देश्य से लक्षणा की जाती है उसकी प्रतीति व्यञ्जना से ही दर्शायी गई है।[4] इससे यही सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन निरूढा एवं प्रयोजनवती लक्षणा के रूप में इसके भेदों से अवश्य परिचित थे।

'ध्वन्यालोक' में अविवक्षितवाच्य ध्वनि अथवा लक्षणामूलक ध्वनि के भेद मिलते हैं अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। इनमें प्रथम में मुख्य अर्थ अपनी प्रतीति का परित्याग किये विना ही अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है। दूसरे में, लक्षणीय अर्थ रूप में परिणत होकर ही लक्ष्यार्थ होता है- जैसे 'गङ्गायां घोषः' में।[5] लक्षणा की ये दो स्थितियाँ ही इसके दो भिन्न प्रकारों का सङ्केत देती हैं।

1. (क) अहीनो वा प्रकरणाद् गौणः। (मी० सू०, 3/3/15) ।
   (ख) स्याच्छ्रुतिलक्षणे नियतत्वात्। (मी० सू०, 6/3/34) ।
2. निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
   क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।। (तं० वा०, 3/1/12) ।
3. रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
   लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः।। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 271)।
4. मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य-- - - - - - -। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 276) ।
5. ......यद्‌गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति तदोपलक्षणीयार्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते। यथा 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० 317) ।

मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा के भेद

मुकुलभट्ट ने अभिधा के जो दस प्रकार माने हैं[1] उनमें जात्यादि प्रथम चार तो मुख्य कहलाते हैं। लाक्षणिक अभिधा व्यापार के भी छः भेद इन्होंने किये हैं। प्रथमतः तो शुद्धा एवं उपचारमिश्रा रूप से लक्षणा के दो वर्ग हुए तदनन्तर उपादान तथा लक्षण-लक्षणा रूप से शुद्धा लक्षणा दो अवान्तर भेदों में बाँटी गई। पुनः उपचारमिश्रा के शुद्ध एवं गौण दो भेद करके उनमें प्रत्येक के अध्यारोप एवं अध्यवसान के आधार पर दो-दो भेद होते हैं।[2] इस प्रकार शुद्धा लक्षणा के दो भेद तथा उपचारमिश्रा के चार भेदों को मिलाकर लक्षणा के कुल छः प्रकार हो जाते हैं।[3] मुकुलभट्ट के लक्षणा-भेदों को चित्र संख्या (1) द्वारा समझा जा सकता है।



चित्र संख्या (1): मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा-भेद ।

शुद्धा लक्षणा

शुद्धा लक्षणा के उदाहरण में मुकुलभट्ट ने 'गङ्गायां घोषः' वाक्य प्रस्तुत किया

---

1. इत्येतदभिधावृत्तं दशधाऽत्र विवेचितम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 72) ।
2. शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता।।
   उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता।.....
   आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणपचारयोः।।
   प्रत्येकं भिद्यमानत्वादुपचारश्चतुर्विधः। (अ० वृ० मा०, पृ० 11-15) ।
3. एतेन चतुर्विधोपचारेण सह पूर्वोक्तौ द्वौ लक्षणाभेदौ संकलय्य षट्प्रकारा लक्षणा वक्तव्या। (अ० वृ० मा०, पृ० 18) ।

है।[1] जल–प्रवाह में घोष के प्रति आधारता सम्भव न होने के कारण उसके समीप में स्थित तट रूपी अर्थ का लक्षणा से ज्ञान होता है।

दूसरे प्रकार की लक्षणा उपचारमिश्रा लक्षणा है। 'उपचार' का अर्थ होता है एक वस्तु को दूसरी वस्तु पर उपचरित अथवा आरोपित करना।[2] जैसे – 'गौर्वाहीकः', यहाँ गो शब्द की वाहीक शब्द से अभिन्नता उपपन्न नहीं हो पाती, अतः इसका मुख्यार्थ 'गोत्व' बाधित हो जाता है। तब वह गोगत जाड्यमान्द्यादि गुणों के समान जाड्यमान्द्यादि से युक्त वाहीकगत गुणों का लक्षणा से बोध कराता हुआ उससे युक्त वाहीक में उपचरित हो जाता है। इसी कारण यहाँ उपचारमिश्रा लक्षणा हुई।[3]

उपादान लक्षणा

शुद्धा लक्षणा के दो भेदों में जहाँ अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है वहाँ उपादान लक्षणा होती है।[4] इसके लिए मुकुलभट्ट ने दो उदाहरण दिये हैं – 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'।[5] प्रथम उदाहरण में 'गो' का मुख्यार्थ 'गोत्व' जाति है वह व्यक्ति के विना यज्ञ का साधन नहीं बन सकती अतः उसके व्यक्ति रूप अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है। यही उपादान है। दूसरे उदाहरण में देवदत्त का 'स्थूलत्व' प्रतिपाद्य है जो कि दिन में भोजनाभाव के कारण अनुपपन्न है, अतः वह अपनी सिद्धि के लिए उसके (स्थूलत्व के) कारणभूत रात्रिभोजन का आक्षेप कर लेता है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि स्थूलत्व को रसायनादि के उपयोग से निष्पन्न क्यों न मान लिया जाए ? मुकुलभट्ट के अनुसार इस वाक्य को उदाहरण के रूप में रखने का अर्थ ही यही है कि रसायन आदि के उपयोग का अन्य प्रमाण से अभाव है।[6] इसके अतिरिक्त 'स्थूलत्व' रसायनादि

---

1. शुद्धा तावल्लक्षणा 'गङ्गायां घोष' इति । (अ० वृ० मा०, पृ० 11) ।
2. उपचारमिश्रा तु यत्र वस्त्वन्तरं वस्त्वन्तरे उपचर्यते, यथा 'गौवाहीक' इति। (अ० वृ० मा०, पृ० 11) ।
3. अत्र हि गोशब्दो वाहीकशब्देनानुपपद्यमानसामानाधिकरण्याद् बाधितमुख्यार्थः सन् गोगता ये जाड्यमान्द्यादयो गुणाः, तत्सदृशवाहीकगतजाड्यमान्द्यादिगुणलक्षणाद्वारेण गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादिगुणोपेते वाहीक उपचरितः। तेनेयमुपचारमिश्रा लक्षणा। (अ० वृ० मा०, पृ० 11) ।
4. स्वसिद्ध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत्। उपादानं – – – । (अ० वृ० मा०, पृ० 13) ।
5. .....यथा 'गौरनुबन्ध्य' इति – – – – । यथा च 'पीनो देवदत्तो। दिवा न भुङ्क्ते' इति। (अ० वृ० मा०, पृ० 13) ।
6. अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन

के उपयोग का बाधक भी है, क्योंकि उसका प्रतिपादन दिन में भोजन के अभाव के साथ ही हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि यदि वक्ता के अन्तर्मन में रसायनादि के उपयोग से ही स्थूलत्व की निष्पन्नता निहित होती तब वह दिन में भोजन के अभाव का उल्लेख नहीं करता, जिस प्रकार रात्रि-भोजन का उल्लेख नहीं किया है।

उपर्युक्त उदाहरण में 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस शब्द का आक्षेपरूप श्रुतार्थापत्ति मानें अथवा रात्रिभोजन रूप कारण का आक्षेप, यहाँ अपने अर्थ की सिद्धि हेतु अर्थान्तर का आक्षेप रूप उपादान भी है।[1]

मीमांसकों ने अर्थापत्ति नाम से एक पृथक् प्रमाण माना है[2] जिसके दो भेद होते हैं – श्रुतार्थापत्ति तथा दृष्टार्थापत्ति। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह अर्थापत्ति प्रमाण का प्रसिद्ध उदाहरण है। यही कारण है कि मुकुलभट्ट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस उदाहरण में अर्थापत्ति मानने पर भी इसे उपादान लक्षणा का उदाहरण माना जा सकता है क्योंकि इसमें उपादान लक्षणा का लक्षण घटित हो रहा है।

यहाँ प्रसङ्गतः अर्थापत्ति प्रमाण का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति प्रमाण कहलाता है। अनुपपद्यमान अर्थ का ज्ञान दो प्रकार से हो सकता है कभी देखकर तो कभी सुनकर।[3] जैसा कि शबरस्वामी ने लिखा है –

अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना।[4]

इन्हीं दोनों अवस्थाओं के कारण मीमांसकों ने श्रुतार्थापत्ति एवं दृष्टार्थापत्ति रूप से अर्थापत्ति के दो प्रकार माने हैं। **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** यह उदाहरण दोनों ही प्रकार की अर्थापत्ति का हो सकता है क्योंकि यहाँ अनुपपद्यमान

कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति। न हि पीनत्वस्य रसायनाद्युपयोगजन्यता, प्रमाणान्तरेण तदभावावसाये सत्येतस्योदाहरणत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 13)।

1. अत्र च रात्रौ भुङ्क्त इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया प्रमाणस्यापरिपूरणस्य परिपूरणात् श्रुतार्थापत्तित्वं भवतु, अथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति सर्वथा स्वसिद्ध्यर्थत्वेनार्थान्तर-स्याक्षेपपूर्वकतयान्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 13)।

2. प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता।। (श्लो० वा०, पृ० 320)।

3. अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः। तथाहि, 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते। (त० भा०, पृ० 138)।

4. शा० भा०, 1/1/5. पर।

अर्थ 'पीनत्व' का ज्ञान सुनकर एवं देखकर दोनों प्रकार से हो सकता है। भाट्ट-मत के अनुसार दिन के भोजनाभाव के होते हुए भी पीनत्व रात्रिभोजन के विना अनुपपन्न है अतः 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस शब्द की कल्पना कर ली जाती है। प्रभाकर के मत में यहाँ अर्थ की कल्पना होती है।[1]

श्रुतार्थापत्ति का एक दूसरा उदाहरण दिया जाता है -'विश्वजिता यजेत'। यहाँ किसी अभिलषित फल की कामना के विना यज्ञ की विधि अनुपपन्न होती है । अतः वह अपनी सिद्धि के लिए स्वर्गादि इच्छित फल की कामना कर लेता है। यहाँ अनुपपद्यमान अर्थ श्रुत है, अतः यहाँ श्रुतार्थापत्ति है।

वेदान्तियों ने भी अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना है। इससे उपलब्ध ज्ञान को मीमांसक एवं वेदान्ती विशिष्ट प्रकार का मानते हैं क्योंकि यह प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण के अन्तर्गत नहीं आ सकता, यद्यपि नैयायिक इसमें भी व्याप्ति सम्बन्ध दर्शाते हुए इसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में ही कर लेते हैं।[2]

मीमांसक पद के साथ-साथ वाक्य में भी लक्षणा मानते हैं। उपयुर्क्त उदाहरण में पूरे वाक्य में ही लक्षणा मानी गई है।

लक्षणलक्षणा

शुद्धा लक्षणा का दूसरा भेद लक्षणलक्षणा है। उपादान के विपरीत जहाँ अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर दिया जाता है वहाँ लक्षणलक्षणा होती है।[3] इसका उदाहरण है 'गङ्गायां घोषः' इसमें गङ्गा शब्द तट रूप अर्थ की सिद्धि

---

1. (क) ...भट्टमते दिवाभोजानाभाववतः पीनत्वं रात्रिभोजनं विनानुपपन्नमित्यनुपपत्त्या रात्रौ भुङ्क्ते, इति शब्दः कल्प्यते। गुरुमते तु तदर्थमात्रं कल्प्यते,.....। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 45) ।
(ख) पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते।। (श्लो० वा०, पृ० 329) ।
2. रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात् । तथाहि, अयं देवदत्तो, रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्। यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो यथा दिवा रात्रौ चाऽभुञ्जानोऽपीनो न चायं तथा तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात्। किमर्थमर्थापत्तिः पृथकत्वेन कल्पनीया। (त० भा०, पृ० 140-141) ।
3. यत्र तु पूर्वोदितोपादानरूपविपर्याससंश्रयान्न स्वार्थसिद्ध्यर्थतयार्थान्तरस्याक्षेपः, अपित्वर्थान्तरसिद्ध्यर्थत्वेन स्वार्थसमर्पणम्, तत्र लक्षणम्, यथा पूर्वमुदाहृतं 'गङ्गायां घोष' इति। (अ० वृ० मा०, पृ० 13) ।

के लिए अपने प्रवाहरूप मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है। इसलिए यहाँ लक्षणलक्षणा है।

उपचारमिश्रा लक्षणा

उपचारमिश्रा लक्षणा चार प्रकार की होती है। उपचार के शुद्ध तथा गौण रूप से दो भेद करके उसके पुनः दो-दो प्रकार माने गये हैं। इनमें शुद्धोपचार वहाँ होता है जहाँ मूलभूत उपमानोपमेयभाव नहीं होता। शुद्धोपचार में कार्यकारण भावादि के सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा होती है क्योंकि वहाँ उपमानोपमेयभाव का अभाव होने से उपमानगत गुणों के समान गुणों के सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा नहीं हो पाती है। इसका उदाहरण है 'आयुर्घृतम्' यहाँ घृत आयु का कारण हैं घृत पर आयु का आरोप कार्य-कारण भाव के कारण है अतः उपचार शुद्ध है।[1] इससे भिन्न गौण उपचार वहाँ होता है जहाँ उपमानोपमेयभाव के आधार पर उपमानगत गुणों के समान गुणों के सम्बन्ध से लक्षणा होती है। इस स्थल में उपचार गुणों के आधार पर होता है अतः 'गौण' कहलाता है। इसका उदाहरण है 'गौर्वाहीकः'। यहाँ गोगत जाड्यमान्द्यादि के समान जाड्यमान्द्यादि के सम्बन्ध के आधार पर वाहीक पर गो शब्द एवं गोत्व अर्थ दोनों का उपचार होता है।[2]

कुछ लोग उपचार में केवल शब्द का ही उपचार मानते हैं किन्तु मुकुलभट्ट के मतानुसार शब्दोपचार अर्थोपचार के विना नहीं हो सकता, अतः दोनों का उपचार मानना चाहिए।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट उपचार का अर्थ 'आरोप' लेते हैं। यही कारण है कि इन्होंने सादृश्येतर सम्बन्ध में भी उपचार मानते हुए उसके शुद्ध तथा गौण दो भेद किये हैं। यह दोनों प्रकार का उपचार भी अध्यारोप और अध्यवसान के आधार पर दो-दो प्रकार का होता है।

---

1. तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावेनोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणासंभवात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते, यथा 'आयुर्घृतमि' ति। अत्र ह्यायुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारणभावाल्लक्षणापूर्वकत्वेनायुष्ट्वं कार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः (अ० वृ० मा०, पृ० 16)।
2. गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरस्सरीकृत्योपमेय उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वात् गौणशब्देनाभिधीयते, यथा 'गौर्वाहीक' इति। (अ० वृ० मा०, पृ० 16)।
3. केचित् तु उपचारे शब्दोपचारमेव मन्यन्ते, नार्थोपचारम्, तदयुक्तम्, शब्दोपचार-स्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 16)।

अध्यारोप

जब आरोप्याण तथा आरोपाश्रय के भेद का अपह्नव किए विना एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप होता है वहाँ अध्यारोप नामक भेद होता है। यहाँ एक वस्तु में उससे अधिक गुणवाली वस्तु का आरोप होने के कारण ही इसे अध्यारोप (अधि=अधिक आरोप) कहते हैं।[1] जहाँ यह अध्यारोप उपमानोपमेयभाव से भिन्न स्थलों में होता है वहाँ शुद्ध अध्यारोप होता है तथा उपमानोपमेयभाव के कारण हुए अध्यारोप को गौण अध्यारोप कहते हैं। क्रमशः इनके उदाहरण हैं 'आयुर्घृतम्' तथा 'गौर्वाहीकः'। इनमें उपचर्यमाण और उपचार के आश्रय अपने अपने रूपों में प्रकट रहते हैं।[2] आयुर्घृतम् में आयु का कारण घृत है जिस पर आयु का आरोप किया गया है। 'गौर्वाहीकः' में वाहीक उपमेय है जिसपर 'गौः' रूप उपमान का आरोप है।

अध्यवसान

जहाँ उपचार के विषय को उपचर्यमाण में छिपाकर बताया जाता है वहाँ 'अध्यवसान' होता है।[3] वह भी शुद्ध तथा गौण रूप से दो प्रकार का होता है। इनमें शुद्धोपचारमूलक अध्यवसान का उदाहरण है 'पञ्चालाः'। इसमें पञ्चाल शब्द लक्षितलक्षणा द्वारा पञ्चाल (जाति) के अपत्य के निवास के अधिकरण स्वरूप जनपद अर्थ में प्रस्तुत किया गया है।[4] यहाँ 'पञ्चालः' शब्द से अपत्यार्थ में 'अञ्' प्रत्यय करके 'पाञ्चालः' शब्द बना।[5] बहुत्व के अर्थ में 'अञ्' का लोप होकर 'पञ्चालाः' शब्द निष्पन्न होता है।[6] पञ्चालः शब्द का अभिधेयार्थ है पञ्चाल जाति।

1. यत्राध्यारोप्यारोपविषययोर्भेदमनपह्नुत्यैव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते तत्रानपह्नुतस्वरूप एव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्याधिकस्यारोप्यमाणत्वादध्यारोपः,.....। (अ० वृ० मा०, पृ० 18) ।
2. तथाहि आयुर्घृतमित्यत्र नायुर्लक्षणकार्यान्तर्लीनतया कारणभूतस्य घृतस्य प्रतिपत्तिः, स्वरूपेणैव तस्य प्रतिपत्तेः। स्वरूपेणैव तु तस्य प्रतीयमानस्यायुःकारणत्वादायुष्ट्वं प्रतीयते तेनात्राध्यारोपः। एवं गौर्वाहीक इत्यत्रापि उपमानोपमेयस्वरूपानपह्नवात्। तदेवं यत्रोपचर्यमाणेनोपचर्यमाणविषयस्य स्वरूपं नापह्नूयते तत्राध्यारोपः। (अ० वृ० मा०, पृ० 18) ।
3. यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्तर्लीनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्राध्यवसानम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 18) ।
4. तत्र शुद्धोपचारेऽध्यवसानस्योदाहरणं 'पञ्चाला' इति। अत्र हि पञ्चालापत्यनिवासाधिकरणत्वाज्जनपदे लक्षितलक्षणया पञ्चालशब्दः प्रयुज्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 18) ।
5. 'पञ्चाल' जनपदवाची शब्द भी है और पञ्चाल क्षत्रियों की एक जाति भी है। इस कारण व्याकरण में अपत्य अर्थ में 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' (4/1/168) सूत्र से अञ् प्रत्यय हुआ है।
6. तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम् (पा० सू०, 2/4/62).

अपत्य-अर्थ का ज्ञान लक्षणा द्वारा होने पर अर्थ होगा 'पञ्चाल' नामक क्षत्रिय के अनेक पुत्र। किन्तु 'पञ्चाला:' कहकर जनपद अर्थ अभीष्ट होने पर अपत्य अर्थ से पुन: लक्षणा द्वारा उनके निवास के अधिकरण देश का ज्ञान होगा। प्रस्तुत उदाहरण में अपत्य रूप अर्थ विषयी है जिसने जनपद रूप विषय का निगरण कर लिया है। यहाँ विषय तथा विषयी की भेद रूप से प्रतिपत्ति नहीं हो रही है।[1] इस स्थल में लक्षणा रूढि के कारण हुई है। रूढि के कारण ही लक्षणा नष्ट-सी अर्थात् समाप्त जैसी प्रतीत हो रही है।[2] इस प्रकार यहाँ शुद्धोपचार मूलक अध्यवसान है। गौणोपचारमूलक अध्यवसान का उदाहरण है- 'राजा'।[3] राजा शब्द मुख्यतया क्षत्रिय के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु यदि क्षत्रियगत देश परिपालन जैसा गुण किसी शूद्र में भी हो तो इस गुण की समानता के आधार पर उसे भी 'राजा' कह देना लाक्षणिक प्रयोग ही है। समान गुण के सम्बन्ध से यहाँ लक्षणा हो रही है अत: गौण उपचार है।[4] यहाँ शूद्र राजा पर क्षत्रियत्व का आरोप है। इस स्थल पर भी रूढि के कारण ही गौणता भ्रष्ट - सी प्रतीत हो रही है अर्थात् सहसा न प्रतीत होकर विचारविमर्श के पश्चात् हो रही है। इस उदाहरण में 'शूद्रत्वेन प्रजापालकत्व' क्षत्रिय राजा के द्वारा निगीर्ण कर लिया गया है, अत: यहाँ भी अध्यवसान है।[5]

इस प्रकार उपचार का चार प्रकार से विभाजन हो जाता है, जिसके साथ उपादान एवं लक्षण-लक्षणा की गणना करके मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा के छ: भेद सिद्ध हो जाते हैं।

उपर्युल्लिखित 'पञ्चाला:' उदाहरण में 'जनपद' अर्थ मुकुलभट्ट ने लक्षितलक्षणा से माना है शाबरभाष्य में लक्षितलक्षणा का उल्लेख मिलता है - **'सैषा लक्षितलक्षणा स्यात्'**। कुमारिलभट्ट ने भी टुप्टीका में इसकी चर्चा की है तथा इसे धर्मों की

1. पञ्चालेनापत्यानां लक्षणाद्, अपत्यैश्च स्वनिवासाधिकरणस्य जनपदस्य। न चात्रोपचर्यमाणार्थविषयस्योपचर्यमाणाद् भेदेन प्रतिपत्ति: उपचर्यमाणार्थनिगीर्णतयैव तस्य प्रतिपत्ते:। (अ० वृ० मा०, पृ० 18) ।
2. तेनात्रोपचारत्वं रूढिमाहात्म्याद् भ्रष्टमिव लक्ष्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 18) ।
3. गौणोपचारे तु अध्यवसानस्योदाहरणं 'राजे'ति। (अ० वृ० मा०, पृ० 18) ।
4. राजशब्दो ह्यत्र प्रयोगदर्शनात् क्षत्रिये मुख्यया वृत्त्या प्रयुक्त: सन् शूद्रादौ क्षत्रियगतजनपदपरिपालनसदृशजनपदपरिपालनयोगलक्षणपूर्वकतया गौणवृत्त्या युज्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 18) ।
5. न चात्र झगित्येव गौणत्वस्यावगति:, विचारणाव्यवस्थाप्यत्वात्। तेनात्र गौणत्वं झगित्येवाप्रतीयमानत्वाद् भ्रष्टं सद् विचारणया समधिगम्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० 18) ।

सम्बन्धरूपा कहा है।[1] प्रभाकरशिष्य शालिकनाथ ने 'प्रकरणपञ्चिका' में लक्षितलक्षणा को अस्वीकार किया है।[2]

न्यायदर्शन में भी इस पर विचार हुआ है। प्राचीन नैयायिक इसे दूसरी वृत्ति मानते हैं किन्तु नव्य नैयायिकों ने इसे लक्षणा का ही एक भेद माना है। 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में शक्यार्थ की परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा को लक्षितलक्षणा कहा गया है। जैसे 'द्विरेफमानय' में 'द्विरेफ' पद का शक्यार्थ रेफद्वय है जिसका साक्षात् सम्बन्ध भ्रमर पद में ज्ञात होता है और इस पद का सम्बन्ध भ्रमर (भौंरा) रूप अर्थ में ज्ञात होता है। अतः यहाँ लक्षितलक्षणा है।[3]

वेदान्त परिभाषा में लक्षितलक्षणा की उदाहरण सहित व्याख्या की गई है। सर्वप्रथम वहाँ लक्षणा का केवल लक्षणा एवं लक्षितलक्षणा रूप से दो भेद किया गया है।[4] जहाँ शक्यार्थ के साथ परम्परा सम्बन्ध से अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे लक्षितलक्षणा कहते हैं। इसका उदाहरण है 'द्विरेफ'। यहाँ 'दो रेफ वाले' में इस पद की शक्ति है। इसकी भ्रमर अर्थ में लक्षणा होती है उससे परम्परा सम्बन्ध से मधुकर में पुनः लक्षणा होती है यही लक्षितलक्षणा है। धर्मराजाध्वरीद्र ने गौणी वृत्ति को भी लक्षितलक्षणा कहा है। जैसे 'सिंहो माणवकः' में सिंह शब्द का वाच्यार्थ सिंह पशु है उससे सम्बद्ध शौर्य और क्रौर्य के सम्बन्ध से माणवक की प्रतीति होती है।[5]

---

1. (क) तत्र लक्षितलक्षणायां गृह्यमाणायां फलकल्पना न भवति। (मी० सू०, 9/1/2. के शा० भा० पर टुप्टीका, मी० द० (6), पृ० 67)।
   (ख) तदा लक्षितलक्षणया धर्माणां सम्बन्धः।
   तस्माल्लक्षणां श्रुतिर्ब्रवीति लक्षितलक्षणापेक्षया। (मी० सू०, 9/1/3. के शा० भा० पर टुप्टीका, मी० द० (6), पृ० 69)।
2. न च लक्षितलक्षणायां प्रमाणमस्ति। - - - लक्षितलक्षणा प्रकरणाभावादयुक्ता। (प्रकरणपञ्चिका, पृ० 203)।
3. यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणेत्युच्यते। यथा द्विरेफादिपदे रेफद्वयस्य सम्बन्धोभ्रमरपदे ज्ञायते, भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे ज्ञायते लक्षितलक्षणेत्युच्यते। (न्या० सि० मु०, शब्दखण्डम्, पृ० 51-52)।
4. लक्षणा च द्विविधा-केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति। (वे० परि०, पृ० 121)।
5. यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा, यथा द्विरेफपदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपदघटितपरम्परासम्बन्धेन मधुकरे वृत्तिः। गौण्यपि लक्षितलक्षणैव। यथा सिंहो माणवक इत्यत्र सिंहशब्दवाच्यसम्बन्धिक्रौर्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः। (वे० परि०, 121)।

नागेशभट्ट ने परमलघुमञ्जूषा में लक्षितलक्षणा का उल्लेख करते हुए 'द्विरेफ' पद को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया है।[1]

ध्वन्यालोक-लोचन की बालप्रिया टीका में लक्षितलक्षणा का सर्वाधिक उपयुक्त उदाहरण प्राप्त होता है (ध्व० लो० 1/7 पर बालप्रिया टीका)।

आ हन्त किमिदं तन्वि नेत्रयोः श्रावणस्तव।
शरत्कपोले ग्रीष्मोऽङ्गे शिशिरो मुखपङ्कजे।।

यहाँ स्त्री के नेत्रों में श्रावण मास का होना बाधित मुख्यार्थ है। लक्षणा से इसका अर्थ वर्षा निकलता है किन्तु नेत्रों में वर्षा का होना भी असम्भव है। अतः यह अर्थ भी बाधित होकर पुनः लक्षणा से अश्रु अर्थ का बोध कराता है। यह दोहरी लक्षणा ही लक्षितलक्षणा है। इसी प्रकार '**शरत्कपोले ग्रीष्मोऽङ्गे शिशिरो मुखपङ्कजे**' में भी लक्षितलक्षणा समझना चाहिए।

इस प्रकार शब्द-शक्ति-प्रकरण में विभिन्न विद्वानों द्वारा 'लक्षितलक्षणा' भी मुख्यतया प्रतिपादित की गई है। अधिकांश ग्रन्थों में इसे लक्षणा के भेद के रूप में ही मान्यता मिली है। परन्तु मुकुलभट्ट के द्वारा प्रसङ्गतः प्रयुक्त लक्षितलक्षणा शब्द से यही प्रतीत होता है कि इन्होंने इसे लक्षणा का भेद नहीं माना है। इनके अनुसार तो लक्षितलक्षणा एक प्रकार की दोहरी लक्षणा है जो पञ्चालाः सदृश स्थलों में व्यवहार में लायी जाती है। उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि 'द्विरेफ' शब्द लक्षितलक्षणा का एक बहुचर्चित उदाहरण है। मुकुलभट्ट ने भी इस उदाहरण का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है किन्तु उसे वृद्धव्यवहार से अनुगत रूढि लक्षणा माना है।

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी लक्षितलक्षणा का नाम नहीं लिया है। 'शब्दव्यापारविचार' में पाँच प्रकार के सम्बन्धों से होने वाली लक्षणाओं में अभिधेय समबन्ध से होने वाली लक्षणा के उदाहरण में 'द्विरेफ' का उल्लेख किया है तथा इन्होंने भी इसके अनुकरण पर 'कोयल' तथा 'काक' आदि अर्थों के लिए 'द्विक' आदि शब्दों में होने वाली लक्षणा को अप्रयोजनीय बताया है। इस प्रकार मुकुलभट्ट की लक्षणा के छः भेद ही सिद्ध होते हैं जिन्हें संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

1. उपादान लक्षणा ('गौरनुबन्ध्यः' एवं 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते')
2. लक्षणलक्षणा (गङ्गायां घोषः)
3. शुद्धोपचार अध्यारोप (आयुर्घृतम्)

---

1. द्विरेफपदस्य स्वलक्ष्यभ्रमरशब्दवाच्यार्थे लक्षाणायां लक्षितलक्षणेति व्यवहारः। स्वबोध्यपदवाच्यत्वं सम्बन्धः। (प० ल० म०, पृ० 53)।

4. गौणोपचार अध्यारोप (गोर्वाहीकः)
5. शुद्धोपचार अध्यवसान (पञ्चालाः)
6. गौणोपचार अध्यवसान (राजा)

इन छः प्रकार की लक्षणाओं में प्रथमतः तो मुकुलभट्ट ने शुद्धा एवं उपचार को दो अलग-अलग वर्गों में रखा, पुनः उपचार के भी शुद्ध एवं गौण दो भेद कर दिये। इनका यह विभाजन अपने आप में विसङ्गतिपूर्ण लगता है। एक बार शुद्धा को उपचारमिश्रा से भिन्न बताकर पुनः उपचार का भी 'शुद्ध' नामक भेद कैसे सङ्गत है? शुद्धा को उपचारमिश्रा से भिन्न बताना यही अर्थ देता है कि उसमें उपचार का मिश्रण नहीं रहता, किन्तु उपचारमिश्रा में भी शुद्ध वर्ग होना यही सिद्ध करता है कि पहली शुद्धा में तथा उपचारमिश्रा में कोई न कोई अन्तर अवश्य है। जहाँ मम्मटादि अन्य अधिकांश विचारकों ने सादृश्य-आरोप को ही उपचार माना है वहाँ मुकुलभट्ट आरोप मात्र को उपचार कहते हैं। इस विश्लेषण से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि मुकुलभट्ट की निरूपचारा शुद्धा में एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का 'आरोप' रूप लक्षणा नहीं होती। उसमें लक्षणा का स्वरूप भिन्न होता है अर्थात् वहाँ (शुद्धा मे) अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप अथवा अन्यार्थ की सिद्धि हेतु स्वार्थ का त्याग रूप से ही लक्षणा होती है। इसी कारण उसमें अध्यारोप एवं अध्यवसान का अवसर नहीं आता।

लक्षणा के तीन स्कन्ध

शुद्धा एवं उपचारमिश्रा के सूक्ष्म अन्तर के प्रतिपादनार्थ मुकुलभट्ट ने लक्षणा के तीन प्रमुख स्कन्ध माने जिन्हें शुद्धा, अध्यारोप एवं अध्यवसान कहा। इनमें से प्रत्येक का विषय भी विभाजित किया।[1]

मुकुलभट्ट के अनुसार शुद्धा लक्षणा तटस्थ में होती है। इसका अभिप्राय यही है कि उपादान तथा लक्षणलक्षणा नामक दो प्रभेदों वाली शुद्धा लक्षणा जिन स्थलों में होती है वहाँ लक्ष्य पदार्थ लक्षक पदार्थ से अनुपरक्त होने के कारण ही उससे तटस्थ अथवा भिन्न माना जाता है।[2] मुकुलभट्ट का यह विचार 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में गङ्गापद घोष के अधिकरण के रूप में तट का लक्षक है, यह ज्ञात हो जाने के पश्चात् 'गङ्गा में घोष है वितस्ता में नहीं' यह

---

1. तटस्थे लक्षणा शुद्धा स्यादारोपस्त्वदूरगे।।
निगीर्णेऽध्यवसानं तु रूढ्यासन्नतरत्वतः। (अ० वृ० मा०, पृ० 20) ।
2. नहि तत्र लक्षकार्थोपरक्ततया लक्ष्यार्थस्यावगतिः। तथाहि- 'गङ्गायां घोषः'.....। (अ० वृ० मा०, पृ० 20) ।

प्रतीति होती है।[1] 'गङ्गा तटे घोषः' की अपेक्षा 'गङ्गायां घोषः' प्रयोग में यही विशिष्टता रहती है कि इससे तट में मात्र स्रोतविशेष की विशेषता का प्रतिपादन ही अभीष्ट होता है। अर्थात् 'गङ्गायां घोषः' कहने का आशय मात्र इतना बताना ही है कि तट गङ्गा का ही है किसी दूसरी नदी का नहीं । यहाँ तट का जल-प्रवाह से किसी प्रकार का कोई उपराग नहीं प्रतीत होता अपितु उस तट का बोध तटस्थ अथवा जल-प्रवाह से केवल सम्बद्ध रूप से होता है; भिन्न रूप से नहीं।

लक्षणलक्षणा का उदाहरण देकर मुकुलभट्ट उपादान लक्षणा में भी तटस्थता की ही स्थिति मानते हैं। जैसे '**पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते**'[2] में भी 'पीनत्व' के कारणभूत 'भोजन का अभाव' शब्दतः कथित हैं यहाँ 'पीनत्व' लक्षक है उसकी लक्ष्य अर्थ -'रात्रि भोजन' के साथ तटस्थता ही है। यहाँ पीनत्व से रात्रिभोजन उपरक्त नहीं प्रतीत होता।

आरोप या अध्यारोप स्कन्ध में लक्ष्य और लक्षक के मध्य अदूरवर्तिता अथवा समीपता होती है, किन्तु वहाँ सामीप्य अभीष्ट होते हुए भी लक्ष्य के स्वरूप का अपह्नव नहीं होता है। इसके विपरीत अध्यवसान निगीर्ण में होता है जो कि रूढि और आसन्नतरता रूप दो प्रकारों से होता है। अर्थात् अध्यारोप में अत्यधिक निकटता के कारण अथवा रूढिप्रवाह के कारण लक्षक पद द्वारा लक्ष्य के स्वरूप का पूर्णतः निगरण हो जाता है।

अध्यारोप एवं अध्यवसान के शुद्ध तथा गौण रूप से जो दो-दो भेद होते हैं[3] उनमें शुद्ध अध्यारोप एवं अध्यवसान के लिए मुकुलभट्ट ने 'गङ्गायां घोषः' उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए दोनों का स्वरूप बताया है। जब उपर्युक्त उदाहरण में गङ्गा पद के अभिधेयार्थ विशिष्ट जलप्रवाह के समीपवर्ती तट के स्वरूप को अपहनुत किये विना ही उसे जलप्रवाह से उपरक्त या उससे अदूरवर्ती बताना अभीष्ट होता है तब इस उदाहरण में अध्यारोप होता है।[4] किन्तु जब तट से प्रवाह विशेष की अत्यन्त निकटता का प्रतिपादन करने के लिए उपर्युक्त वाक्य प्रयुक्त होता है तब 'तट' पद का अपह्नव

---

1. .....'गङ्गायां घोषो न वितस्तायामि' ति गङ्गाशब्दे प्रयुज्यमाने तटस्य स्रोतोविशेषेणोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्तत्वेनोपरागो न प्रतीयते, तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 20) ।
2. एवमुपादानेऽपि वाच्यं यथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति । (अ० वृ० मा०, पृ० 20)।
3. ....अध्यारोपाध्यवसानस्कन्धयोरपि प्रत्येकं द्विप्रभेदता, शुद्धगौणोपचारमिश्रत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 20) ।
4. यदा तु गङ्गाशब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्याविदूरवर्त्तितया तटमनपह्नुतस्वरूपं स्रोतोविशेषोपरक्ततया विवक्षितं भवति तदा पूर्वस्मिन्नुदाहरणेऽध्यारोपो भवति। (अ० वृ० मा०, पृ० 20) ।

करके ही वक्ता 'गङ्गायां घोषः' वाक्य का प्रयोग करता है उस समय 'घोष साक्षात् गङ्गा पर ही है अन्यत्र नहीं' इसका बोध होता है। ऐसे प्रयोग में यह अध्यवसान का उदाहरण होता है।[1]

गौणोपचार के अन्तर्गत अध्यारोप एवं अध्यवसान का उदाहरण है – 'गौर्वाहीकः' तथा 'गौरेवायं साक्षात्'।[2] इनमें प्रथम में गोगत जाड्यमान्द्यादि गुणों के सदृश गुणों से युक्त होने के कारण वाहीक की गो से निकटता प्रतिपादित होने के कारण अध्यारोप है। इसमें वाहीक पर गोत्व का अध्यारोप है परन्तु वाहीक स्वरूपतः कथित भी है, किन्तु जब सादृश्यातिशय के कारण गुणों की उत्कटता विवक्षित होती है तब वाहीक पर गोत्व का अध्यवसान होता है और कह दिया जाता है 'गौरेवायं साक्षात्'। यहाँ वाहीक का गो द्वारा निगरण हो गया है। अध्यवसान के ये दोनों ही उदाहरण आसन्नतरता या अत्यधिक निकटता के कारण से है। रूढत्व के आधार पर भी अध्यवसान हो सकता है। इसका उदाहरण 'पञ्चालाः' तथा 'राजा' है[3] इसमें रूढि के कारण ही लक्ष्य का स्वरूप निगीर्ण रहता है।

मम्मट के अनुसार लक्षणा के भेद

आचार्य मम्मट ने अपने दोनों ही ग्रन्थों में लक्षणा के भेदों की व्याख्या विस्तृत रूप से की है। मुकुलभट्ट से प्रभावित होकर इन्होंने भी लक्षणा के छः भेद ही स्वीकार किये हैं।[4] संख्या के विषय में एकमत होते हुए भी वर्गीकरण के आधार तथा उसके उदाहरणों के विषय में मुकुलभट्ट से इनका विरोध स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

मम्मट को अभिमत लक्षणा के छः भेदों में शुद्धा लक्षणा के उपादान लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा नाम से प्रथमतः दो भेद हैं। पुनः सारोपा एवं साध्यवसाना नामक लक्षणा के शुद्धा और गौणी रूप से दो-दो भेद होकर कुल छः प्रकार की लक्षणा हो जाती है।[5] मम्मट के इस भेद-निरूपण की प्रक्रिया पर भी मुकुलभट्ट का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है। दोनों में अन्तर यही है कि जहाँ मुकुलभट्ट ने 'शुद्धा' एवं

---

1. यदा त्वत्यन्तमासन्नतां घोषं प्रति स्रोतोविशेषस्य प्रतिपादयितुमेतद् वाक्यं स्रोतोविशेषनिगीर्णतया तटमपह्नुत्य प्रयुज्यते 'गङ्गायामेव साक्षाद् घोषः नत्वन्यत्रे' ति तदाध्यवसानम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 21) ।
2. .....गौणेऽप्युपचारे वाच्यम् – 'गौर्वाहीक' इति 'गौरेवायं साक्षादि' ति च। (अ० वृ० मा०, पृ० 22) ।
3. यथा चासन्नतरत्वेनाध्यवसानं पूर्वं प्रविभक्तं तथा रूढत्वेनापि प्रविभक्तव्यम्, यथा पूर्वोपदर्शितयोरुदाहरणयोः 'पञ्चाला' इति तथा 'राजे'ति। (अ० वृ० मा०, पृ० 22) ।
4. लक्षणा तेन षड्विधा । (श० व्या० वि०, पृ० 14) ।
5. आद्यभेदाभ्यां सह। (श० व्या० वि०, पृ० 14) ।

'उपचारमिश्रा' नाम से दो वर्गों को बाँटते हुए द्वितीय के अन्तर्गत भी शुद्ध तथा गौण रूप से दो भेद करके आरोप और अध्यवसान की व्याख्या की है वहाँ मम्मट ने सारोपा एवं साध्यवसाना का कारिकाबद्ध लक्षण प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है कि ये दोनों ही भेद जब सादृश्य सम्बन्ध से होंगे तो गौणी लक्षणा होगी तथा सादृश्येतर सम्बन्ध से होने पर शुद्धा लक्षणा।[1]

शुद्धा लक्षणा के दोनों भेदों उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा की परिभाषा देते हुए मम्मट लिखते हैं – अपनी सिद्धि के लिए जहाँ दूसरे अर्थ का आक्षेप होता है वहाँ 'उपादान' लक्षणा होती है तथा जहाँ दूसरे अर्थ के लिए स्वार्थ का समर्पण होता है वहाँ 'लक्षणलक्षणा' होती है।[2] ये दोनों ही भेद 'अन्यत्र अजहत्स्वार्था' तथा 'जहत्स्वार्था लक्षणा' के नाम से जाने जाते हैं।[3]

मम्मट ने उपादान लक्षणा का उदाहरण दिया है – 'कुन्तान् प्रवेशय' तथा 'यष्टीः प्रवेशय'[4] यहाँ कुन्त एवं यष्टी के अचेतन होने के कारण उनमें प्रवेशन क्रिया सम्भव नहीं हो सकती। फलस्वरूप मुख्यार्थ बाधित होने पर अपनी सिद्धि हेतु ये दोनों ही पद अपने से संयुक्त पुरुषों का आक्षेप कर लेते हैं। इस प्रकार यहाँ अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप रूप उपादान लक्षणा है। महाभाष्य में तत्साहचर्य के कारण होने वाली लक्षणा के लिए उपयुर्क्त उदाहरण मिलते हैं।

उपादान लक्षणा का अपना उदाहरण देकर मम्मट ने **'गौरनुबन्ध्यः'** तथा **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** इन दो उदाहरणों का खण्डन किया है। ये दोनों ही उदाहरण मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' में उपादान लक्षणा के प्रसङ्ग में मिलते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि मम्मट ने मुकुलभट्ट का खण्डन किया है। कतिपय विद्वान् इसे मण्डनमिश्र की आलोचना मानते हैं।[5]

'गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः' यह एक श्रुति वाक्य है। मीमांसक केवल

1. भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ,......। (श० व्या० वि०, पृ० 11)।
2. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।। (श० व्या० वि०, पृ० 8)।
3. एते एवान्यत्राजहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थे, इत्युच्यते। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 43)।
4. (क) 'कुन्तान् प्रवेशय' 'यष्टीः प्रवेशये'– त्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्धये स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते, तत उपादानेनेयं लक्षणा। (श० व्या० वि०, पृ० 9)।
(ख) 'काव्यप्रकाश' में इसका उदाहरण दिया गया है– 'कुन्ताः प्रविशन्ति' तथा 'यष्टयः प्रविशन्ति'। (का० प्र०, पृ० 59)।
5. (क) मण्डनमिश्रास्तु 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादिकमुपादानलक्षणाया उदाहरणमाहुः। तन्मतं दूषयितुमनुवदति गौरित्यादिना.......। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 44)।

जाति में सङ्केत मानते हैं अतः उनके अनुसार 'गौरनुबन्ध्यः' में 'गो' पद का मुख्यार्थ 'गोत्व' जाति होगा। किन्तु श्रुति का तात्पर्य एक गो व्यक्ति में होने से सम्पूर्ण गोत्व जाति का आलम्भन सङ्गत नहीं हो सकता। अतः मुकुलभट्ट जाति से व्यक्ति का बोध उपादान लक्षणा से मानते हैं।

मम्मट इसी मत की उपस्थापना करते हुए इसका खण्डन करते हैं कि यहाँ लक्षणा के प्रयोजन या रूढि रूप हेतु में से कोई भी उपस्थित नहीं है। इस कारण यहाँ लक्षणा नहीं मानी जा सकती । व्यक्ति का तो जाति से अविनाभाव सम्बन्ध है फलतः जाति से व्यक्ति का आक्षेपमात्र कर लिया जाता है। यह लक्षणा का स्थल ही नहीं है।[1]

मम्मट ने अविनाभाव सम्बन्ध के अन्य उदाहरण भी दिये हैं जैसे 'क्रियताम्' 'कुरु', 'प्रविश' 'पिण्डीम्' इत्यादि अपूर्ण वाक्यों को अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अंशों की आवश्यकता रहती है जिसकी पूर्ति आक्षेप या अध्याहार द्वारा कर ली जाती है। 'क्रियताम्' तथा 'कुरु' ये दोनों क्रिया पद हैं इनमें अविनाभाव से क्रमशः 'त्वया' कर्ता का तथा 'पाकम्' इत्यादि कर्म का आक्षेप हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रविश', 'पिण्डीम्' इत्यादि कहने पर इनकी सिद्धि के लिए 'गृहम्' इस कर्म पद का तथा 'भक्षय' क्रिया पद का आक्षेप कर लिया जाता है। 'काव्यप्रकाश' के उद्योत टीकाकार के अनुसार आक्षेप का अर्थ अनुमान है और अविनाभाव सम्बन्ध व्याप्ति है।[2]

मीमांसकों में भी अपूर्ण वाक्य के पूरक अंशों के लिए आक्षेप या अध्याहार की मान्यता पायी जाती है। अध्याहार के विषय में इनमें दो सिद्धान्त हैं। कुमारिलभट्ट ने शब्द के अध्याहार को माना है किन्तु प्रभाकरमिश्र अर्थाध्याहारवादी हैं। मम्मट ने इनका समन्वय करते हुए अर्थाध्याहार एवं शब्दाध्याहार दोनों का ही उदाहरण दिया है। आक्षेप के उपर्युक्त चारों उदाहरणों में 'क्रियताम्' एवं 'कुरु' के लिए जो कर्ता तथा कर्म का आक्षेप होता है उनमें अध्याहार वस्तुतः कर्ता एवं कर्म पदों का न होकर

(ख) इति मण्डनमतमुपन्यस्य दूषयति – गौरित्यादि । – – – । (का० प्र०, 16. टीकाओं सहित, सुधासागर, पृ० 287) ।

1. – – – न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति, न वा रूढिः, व्यक्त्यविनाभावात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, यथा क्रियतामित्यत्र कर्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। (श० व्या० वि० पृ० 9) ।

2. अत्राहुरुद्द्योतकारा अपि। ''आक्षिप्यते, इति। आक्षेपोऽत्रानुमानम्। व्यक्तिं विनेत्यनेन व्याप्तिर्दर्शिता। वृत्तिप्रयोज्योपस्थितिश्च शब्दादौ कारणम्'' इति। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 45) ।

उनके अर्थों का होता है। 'प्रविश' तथा 'पिण्डीम्' में 'गृहम्' तथा 'भक्षय' का आक्षेप शब्द रूप में होता है अतः यहाँ शब्दाध्याहार है। इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' उदाहरण में व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है क्योंकि जाति व्यक्ति के विना नहीं रह सकती। अतः यहाँ लक्षणा नहीं है।

मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा का दूसरा उदाहरण दिया था '**पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते**' मम्मट ने इस स्थल पर भी लक्षणा का निषेध किया है। उनके अनुसार यहाँ पर लक्षणा न होकर श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थापत्ति से अर्थबोध होता है।[1]

'श्रुतार्थापत्ति' से यहाँ तात्पर्य शब्द के अध्याहार से है तथा अर्थापत्ति अर्थाध्याहार है। इसके माध्यम से मम्मट ने भाट्टमत तथा प्रभाकरमत का सङ्केत किया है।[2]

'द्वारम्' कहने पर 'पिधेहि' शब्द की कल्पना श्रुतार्थापत्ति है। यही शब्दाध्याहार है। 'द्वारम्' कहने पर अर्थ की अनुपपत्ति होने से 'पिधेहि' क्रिया पदार्थ की कल्पना अर्थापत्ति या अर्थाध्याहार है।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण '**पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते**' अर्थापत्ति का ही विषय है लक्षणा का नहीं। लक्षणा शब्द की शक्ति है। मीमांसकों ने भी शब्द को अर्थापत्ति से पृथक् प्रमाण के रूप में माना है।

मुकुलभट्ट-प्रदत्त उपादान लक्षणा के दोनों उदाहरणें का खण्डन करके, मम्मट लक्षणलक्षणा की व्याख्या करते हुए इसका उदाहरण देते हैं- 'गङ्गायां घोषः' यहाँ घोष के अधिकरणत्व की सिद्धि-हेतु गङ्गा शब्द अपने जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है और तट रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। इसीलिए यहाँ अन्य की सिद्धि के लिए स्वार्थ का त्याग रूप लक्षणलक्षणा है।[4]

---

1. 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्। (श० व्या० वि०, पृ० 9) ।
2. ....भाट्टमते श्रुतार्थापत्तौ रात्रौ भुङ्क्त इति शब्दः कल्प्यते। गुरुमतेऽर्थापत्तौ रात्रिभोजनमर्थः। (का० प्र०, 16टीकाओं सहित, दर्पण, पृ० 272) ।
3. यथा द्वारमिति शब्दः पिधेहीति क्रियापदम्। इयमेव पदाध्याहारः (शब्दाध्याहारः)। यत्र च दृष्टः श्रुतो वार्थोऽनुपपन्नोऽर्थान्तरं कल्पयति सा, अर्थापत्तिः। यथा तत्रैव द्वारमित्यर्थोऽनुपपन्नः पिधेहीति क्रियां कल्पयति। इयमेवार्थाध्याहार इति मतभेदेनोभयम्, इति भावः। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 45-46) ।
4. 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणतायाः सिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयतीत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा । (श० व्या० वि०, पृ० 9) ।

ताटस्थ्य-सिद्धान्त का खण्डन

उपादान तथा लक्षणलक्षणा दोनों ही शुद्धा लक्षणाएँ हैं। मम्मट इसे शुद्धा लक्षणा इस कारण से कहते हैं क्योंकि इनमें 'उपचार' का मिश्रण नहीं रहता है।[1] मुकुलभट्ट ने 'उपचार' का अर्थ अन्य के लिए अन्य का प्रयोग अथवा एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप किया है। इसे शुद्धा एवं गौणी का भेदक धर्म नहीं माना है, किन्तु मम्मट के अनुसार सादृश्य के कारण प्रवृत्ति का होना उपचार है। 'काव्यप्रकाश' के 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक टीका के रचयिता विश्वनाथ के अनुसार दो भिन्न पदार्थों में सादृश्यातिशय के कारण जो अभेद प्रतीति होती है वही उपचार है।[2] मम्मट को मान्य शुद्धा लक्षणा में सादृश्य के कारण लक्ष्य एवं लक्षक का अभेद सम्बन्ध नहीं होता, इसीलिए इसे शुद्धा लक्षणा कहते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शुद्धा लक्षणा में लक्ष्य एवं लक्षक के मध्य अभेद सम्बन्ध होता ही नहीं। वहाँ भी लक्ष्यार्थ की प्रतीति लक्षक से अभिन्न रूप में ही होती है। शुद्धा में यह अभेद प्रतीति सादृश्य से भिन्न सम्बन्धों के कारण होती है। यहाँ लक्ष्य तथा लक्षक का भेदप्रतीति रूप 'ताटस्थ्य' नहीं माना जा सकता क्योंकि 'गङ्गातटे घोषः' के स्थान पर 'गङ्गायां घोषः' प्रयोग किसी विशिष्ट प्रयोजन की दृष्टि से ही हुआ है। यह प्रयोजन है तट में शैत्य एवं पावनत्वातिशय की प्रतीति कराना जो कि गङ्गा का धर्म है। गङ्गा पद के लक्ष्यार्थ 'तट' को गङ्गा से अभिन्न माने विना अभीष्ट प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो सकती। अर्थात् शैत्यादि की प्रतीति तो गङ्गात्वेन तट की प्रतीति में ही उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त गङ्गा से सम्बन्ध मात्र दर्शाना ही लक्षणा का प्रयोजन नहीं है क्योंकि अभिधा प्रयोग 'गङ्गा तटे घोषः' की अपेक्षा लक्षणा प्रयोग 'गङ्गायां घोषः' का वैशिष्ट्य ही यही है – लक्ष्य एवं लक्षक का अभेदप्रतिपादन न कि लक्ष्य की लक्षक से उदासीनता। इस प्रकार मम्मट के अनुसार शुद्धा लक्षणा में भी अभेद की प्रतीति होने से 'ताटस्थ्य' को शुद्धा एवं गौणी का भेदक धर्म नहीं माना जा सकता, अपितु उपचार ही दोनों का भेदक है।[3]

---

1. उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। (श० व्या० वि०, पृ० 9)।
2. सादृश्याख्यसम्बन्धेन प्रवृत्तिरुपचारः, तेनामिश्रितत्वात्, असम्बन्धात्। – – –। "अत्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः" इति काव्यप्रकाशदर्पणे विश्वनाथः। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 46)।
3. अनयोर्भेदयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं तटस्थत्वम्, तटादीनां गङ्गादिशब्दः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसंप्रत्ययः, गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः। (श० व्या० वि०, पृ० 9)।

उपादान एवं लक्षणलक्षणा नामक दो भेदों वाली शुद्धा लक्षणा की विशद व्याख्या करने के पश्चात् मम्मट ने सारोपा एवं साध्यावसाना नामक दो भेदों की चर्चा की है जो सादृश्य सम्बन्ध से होने पर क्रमश: गौणी सारोपा एवं गौणी साध्यवसाना तथा सादृश्य-भिन्न सम्बन्धों के कारण होने पर शुद्धा सारोपा तथा शुद्धा साध्यवसाना कहलाते हैं।[1] इस प्रकार मम्मट ने गौणी को लक्षणा में ही अन्तर्भावित कर उसी का एक भेद बताया है जिसे अन्य कतिपय विद्वानों ने लक्षणा से भिन्न वृत्ति कहा है।

जहाँ विषयी (आरोप्यमाण) तथा विषय (आरोपाश्रय) दोनों ही शब्दत: कथित रहते हैं वहाँ सारोपा लक्षणा होती है[2] तथा जहाँ विषयी द्वारा विषय का निगरण कर लिया जाता है वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।[3] मम्मट ने गौणी सारोपा एवं साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण दिया है – 'गौर्वाहीक:' तथा 'गौरयम्'।[4] 'गौर्वाहीक:' में आरोप्यमाण 'गौ' तथा आरोपाश्रय 'वाहीक' दोनों ही शब्दत: कथित है। इसके विपरीत द्वितीय उदाहरण में विषयी ('गौ') द्वारा 'विषय' (वाहीक) का निगरण कर लिया गया है। अत: ये क्रमश: सारोपा एवं साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण है। गुणों के सादृश्य के कारण होने से यहाँ गौणी लक्षणा हैं। ये दोनों ही उदाहरण **'पुँयोगादाख्यायाम्'** (4/1/48) सूत्र के महाभाष्य में मिलते हैं। 'गौर्वाहीक:' उदाहरण में दोनों पदार्थों का समानाधिकरण्य ही अभिधेयार्थ है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब दोनों पदार्थ एक ही धर्मि का बोध कराते हों। एकधर्मिबोधकत्व ही दो पदार्थों का समानाधिकरण्य है। किन्तु यहाँ स्थिति इसके विपरीत है। यहाँ दोनों पदार्थ दो भिन्न धर्मियों के बोधक हैं अत: समानाधिकरण्य के अनुपपन्न होने पर मुख्यार्थबाध होता है। यहीं लक्षणा की स्थिति आती है। लक्षणा से 'गौ:' इस लाक्षणिक पद का ऐसा लक्ष्यार्थ निकालना है जिससे उसका वाहीक के साथ अभेदान्वय उपपन्न हो जाए। इस विषय में आचार्य मम्मट ने तीन मतों का उल्लेख किया है।

प्रथम मत के अनुसार 'गो' शब्द से अभिधा द्वारा 'बैल' अर्थ की प्रतीति होती है उसके साथ वाहीक शब्द का समानाधिकरण्य अनुपपन्न है। उसका बाध होने पर

---

1. भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
   गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ,......। (श० व्या० वि०, पृ० 11)।
2. सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा। (श० व्या० वि०, पृ० 11)।
3. विषय्यन्त:कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका। (श० व्या० वि०, पृ०11)।
4. इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीक' इत्यत्र गौरयमि'त्यत्र च। (श० व्या० वि०, पृ०12)।

लक्षणा द्वारा 'गो' शब्द से गोगत जाड्यामान्द्यादि गुणों का बोध होता है। लक्षणा से बोधित होने वाले जाड्यमान्द्यादि को प्रवृत्ति-निमित्त बनाकर अभिधाशक्ति से जाड्यादि युक्त 'वाहीक' का बोध होता है। इस प्रकार 'गो' शब्द की वाहीक के साथ समानाधिकरणता उपपन्न हो जाती है।[1]

मम्मट के विविध टीकाकारों ने उपर्युक्त मत को दोषपूर्ण सिद्ध किया। इस मत के लिए मम्मट के द्वारा 'केचित्' शब्द का प्रयोग इसके प्रति इनकी अरुचि को ही दर्शाता है।[2] गो शब्द का सङ्केत वाहीक में न होने के कारण वह उसका बोध कथमपि नहीं करा सकता। 'बैल' अर्थ में ही विरतव्यापार वाली अभिधा वाहीक का बोध कैसे करा सकती है ? इस प्रक्रिया में यदि दूसरी अभिधा की कल्पना की जाये तो उससे कल्पना-गौरव का प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाएगा।[3]

द्वितीय मत के अनुसार 'गो' शब्द के मुख्यार्थ 'बैल' के सहचारी जाड्यमान्द्यादि गुणों से अभिन्न वाहीकगत गुणों में लक्षणा होती है पदार्थ अर्थात् वाहीक में अभिधा नहीं होती।[4] उसका बोध तो आक्षेप द्वारा ही हो जाता है। इस प्रकार इस मत के अनुसार गोगत जाड्यादि गुणों के सजातीय वाहीकगत जाड्यादि गुण लक्ष्यार्थ है।[5]

इस मत में जो जाड्यमान्द्यादि धर्म दो अलग-अलग धर्मियों के गुण हैं उनमें एक (गो) के धर्म से दूसरे गुणी (वाहीक) में पाए जाने वाले गुणों का लक्षणा से बोधित होना असङ्गत है। टीकाकारों के अनुसार इस मत के प्रति भी मम्मट की

---

1. स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधानं प्रति निमित्तत्वमुपयान्तीति केचित्। (का० प्र० पृ० 67), (श० व्या० वि०, पृ०12) ।
2. केचिदित्यस्वरसोद्भावनम्। तद्बीजं तु गोपदस्य वाहीके सङ्केताभावेनाभिधाभावरूपम्। जाड्यादिगुणानां लक्ष्यत्वात् अशक्यतया प्रवृत्तिनिमित्तत्वासंभवश्च। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 49) ।
3. केचिदिति। तन्मते अरुचिं सूचयति। तथा हि। गोशब्दोऽगृहीतसङ्केतं वाहीकार्थं कथमभिधया बोधयेत्। गोशब्दार्थमात्रबोधनविरताया अभिधायाश्च कुतः पुनरुत्थानं शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति न्यायात्। अभिधान्तरकल्पने तु कल्पनागौरवम्। (का० प्र०, 16. टीकाओं सहित, दर्पण, पृ० 306) ।
4. स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयत, इत्यन्ये । (का० प्र०, पृ० 67) । श० व्या० वि० में 'इत्यन्ये' के स्थान पर 'इत्यपरे' मिलता है। (श० व्या० वि०, पृ० 12) ।
5. अभेदेन साजात्येन। गुणा एवेति। न तु गुणीत्यर्थः । तस्याक्षेपेण वाहीकशब्दादेव लाभादिति भावः। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 49) ।

उदासीनता ही प्रकट होती है क्योंकि इसे भी इन्होंने 'अन्ये' पद द्वारा प्रतिपादित किया है। दर्पणकार के अनुसार इस मत के अनुसार भी 'वाहीक' की प्रतीति न होने से गो पदार्थ के साथ वाहीक का समानाधिकरण्य सङ्गत नहीं हो पाता। वाहीक रूप अर्थ गो शब्द का अभिधेयार्थ नहीं है अतः उससे वाहीक का बोध नहीं हो सकता। उसे अविनाभाव या अनुमान द्वारा लब्ध भी नहीं माना जा सकता। लक्षणा शब्द की शक्ति है और शब्द सम्बन्धी आकाङ्क्षा शब्द से ही पूर्ण होती है यह नियम है। अतः उसमें अनुमान मानना तर्कसङ्गत नहीं है।[1]

तृतीय मत के अनुसार साधारण गुणों के आश्रयरूप से वाहीक में ही लक्षणा होती है अर्थात् गो तथा वाहीक दोनों में ही पाए जाने वाले जाड्यादि गुण साधारण गुण हुए। इन गुणों का आश्रय वाहीक है अतः लक्षणा से उसी का बोध होता है।[2] इस मत के अनुसार गौर्वाहीकः में लक्षणा की प्रक्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता है – गो शब्द के मुख्यार्थ के साथ वाहीक का समानाधिकरण्य असङ्गत होने पर अर्थात् मुख्यार्थ बाध होने पर लक्षणा से 'गो' तथा 'वाहीक' दोनों में समान रूप से पाये जाने वाले जाड्यमान्द्यादि गुणों के आधार पर वाहीक रूप अर्थ का बोध होता है। यहाँ लक्ष्य वाहीक तथा लक्षक 'गो' में सादृश्य सम्बन्ध है। यहाँ लक्षणा गुणों के योग से हुई है अतः गौणी लक्षणा है।

इसके समर्थन में मम्मट ने अपने दोनों ही ग्रन्थों में तन्त्रवार्तिक की कारिका उद्धृत की है –

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।'[3]

'मानान्तरविरुद्धे हि मुख्यार्थस्य परिग्रहे' यह इस कारिका के पहले का

---

1. – – – – -- अत्र गोशब्दात् वाहीकार्थः प्रतीयते न वा ? आद्येऽपि गोशब्दादेव वा लक्षितादगुणादविनाभावाद्वा ? न प्रथमः, समनन्तरोक्तादेव न्यायात्। न द्वितीयः, अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शाब्दीत्याकाङ्क्षादिनयेन शाब्दे नये प्रवेशासंभवात्। (का० प्र०, 16. टीकाओं सहित, दर्पण, पृ० 306) ।
2. साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे। (का० प्र०, पृ० 67) ।'शब्दव्यापारविचार' में 'इत्यन्ये' पाठ मिलता है। (श० व्या० वि०, पृ० 12) ।
3. इस कारिका में प्रयुक्त 'अविनाभाव' शब्द का अर्थ व्याप्ति नहीं अपितु सम्बन्ध मात्र है ऐसा मम्मट ने अपने दोनों ग्रन्थों में स्पष्ट किया है। – अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रं न तु नान्तरीयकत्वम्,.......।। (श० व्या० वि०, पृ० 12) ।

भाग है। इससे उपर्युक्त कारिका का यही आशय निकलता है कि मुख्यार्थ के अन्य प्रमाण से बाधित होने पर उससे सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति लक्षणा है और लक्ष्यमाण गुणों के योग से इस वृत्ति की गौणता हो जाती है।

'गौर्वाहीकः' में लक्ष्यार्थ के विषय में तीनों मतों की चर्चा के प्रसङ्ग में मम्मट ने इसका उल्लेख नही किया है कि ये तीनों ही मत किन विद्वानों अथवा सम्प्रदाय के हैं। न ही इन्होंने इनमें किसी भी मत का खण्डन अथवा मण्डन किया है। किन्तु काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकारों ने तृतीय मत को ही इनका अपना मत माना है। इस मत को प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने जो 'अपरे' शब्द का प्रयोग किया है उसकी व्याख्या 'न परे इत्यपरे' करते हुए स्वीया अर्थ लिया जा सकता है।[1]

'शब्दव्यापारविचार' के दो संस्करणों में द्वितीय मत के लिए 'अपरे' तथा तृतीय मत के लिए 'अन्ये' शब्द का प्रयोग मिलता है। इससे व्याख्याकारों के 'अपरे' शब्द की व्याख्या के आधार पर तृतीय मत को मम्मट का मत कह देना उचित नहीं है। 'काव्यप्रकाश' के हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ने इस तृतीय मत को मुकुलभट्ट का मत माना है।[2] किन्तु यह विचार भी युक्तिसङ्गत नहीं है। 'शब्दव्यापारविचार' में मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि जिन्होंने गोगत जाड्यमान्द्यादि के सदृश जाड्यमान्द्यादि गुण माना है उन्हें गुणों में जाति माननी पड़ेगी। जिससे चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति का सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा।[3] इस कथन द्वारा मम्मट ने मुकुलभट्ट के मत का सङ्केत किया हैं मुकुलभट्ट ने गोगत जाड्यमान्द्यादि गुणों के सदृश वाहीकगत जाड्यमान्द्यादि गुण माना है।[4]

मम्मट के तर्क का अभिप्राय यह है कि स्वार्थगत (गोगत) तथा परार्थगत (वाहीकगत) गुणों में भेद मानने पर ही सादृश्य हो सकता है। इस प्रकार जब गुण भिन्न हो जाएँगे तो उनमें जाति माननी होगी। तृतीय मत में दोनों गुणों को एक ही मानते हुए उन्हें 'साधारणगुण' की संज्ञा दी गई है। उसमें 'सादृश्य सम्बन्ध' का भी

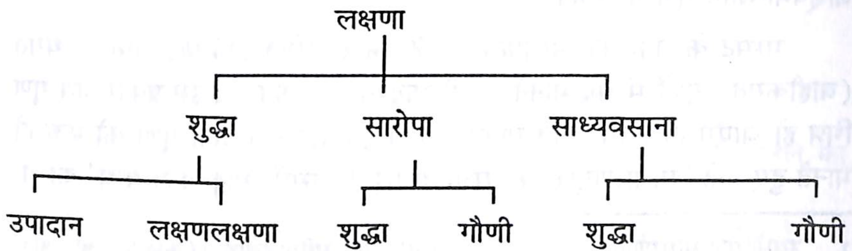
---

1. स्वमतमाह साधरणेति। -------- न परे, अपरे स्वीया इत्यर्थः। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 50) ।
2. का० प्र०, आचार्यविश्वेश्वर, पृ० 64.।
3. येन गोगतजाड्यमान्द्यादिसदृशजाड्यमान्द्याद्युच्यते तेन गुणाभेदाभ्युपगमे गुणजातिप्रसङ्गाच्चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरुक्ता व्याहन्येत। (श० व्या० वि०, पृ० 12) ।
4. अत्र हि गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादियोगात् ---- (अ० वृ० मा०, पृ० 16) ।

यही अर्थ है कि दोनों में एक ही गुण होते हैं । दोनों गुणों के एक होने से यहाँ जाति मानने का प्रसङ्ग नहीं उत्पन्न होगा। इससे तो यही सङ्केत मिलता है कि तृतीय मत ही मम्मट को मान्य मत था, इसे मुकुलभट्ट का मत नहीं कहना चाहिए।

गौणी सारोपा एवं साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरणों को स्पष्ट करके मम्मट ने शुद्धा सारोपा तथा साध्यवसाना का उदाहरण दिया है– 'आयुर्घृतम्' तथा 'आयुरेवेदम्' इनमें 'आयु' विषयी है तथा 'घृत' विषय है।[1] प्रथम उदाहरण में विषयी तथा विषय शब्दतः कथित है अतः यह सारोपा लक्षणा है तथा दूसरे उदाहरण में आयु के द्वारा घृत का निगरण कर लिये जाने के कारण साध्यवसाना लक्षणा है। ये दोनों ही सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध से होने के कारण शुद्धा लक्षणाएँ है । यहाँ कार्यकारण-भाव से लक्षणा हुई है। मम्मट ने गौणी एवं शुद्धा दोनों प्रकार की लक्षणाओं का प्रयोजन भी स्पष्ट किया है। गौणी सारोपा (गौर्वाहीकः) में आरोप्यमाण तथा आरोपविषय में तादात्म्य की प्रतीति कराना तथा गौणी साध्यवसाना (गौरयं) में दोनों में सर्वथा अभेद प्रतिपादन लक्षणा का प्रयोजन है।[2] इसी प्रकार शुद्धा सारोपा में अन्य कारणों की अपेक्षा घृत में अधिक क्षमता से आयुवर्धक होना तथा शुद्धा साध्यवसाना में निश्चित रूप से कार्य सम्पादन करना प्रयोजन है।[3] इस प्रकार सादृश्य सम्बन्ध से गौणी तथा सादृश्य से भिन्न स्थलों में शुद्धा लक्षणा होती है।

सादृश्यभिन्न सम्बन्धों में मम्मट ने कार्य-कारण सम्बन्ध के अतिरिक्त तादर्थ्य, स्वस्वामिभाव, अवयवावयविभाव तथा तात्कर्म्य आदि की चर्चा की है।[4]



चित्र संख्या (2) : मम्मट के अनुसार लक्षणा-भेद ।

1. 'आयुर्घृतम्', 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ सादृश्यादन्यः कार्यकारणाभावादिः परः सम्बन्धः। (श० व्या० वि०, पृ० 14)।
2. अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि तादूरूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदावगमश्च प्रयोजनम्। (श० व्या० वि०, पृ० 14) ।
3. शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि। (श० व्या० वि०, पृ० 14) ।
4. श० व्या० वि०, पृ०14।

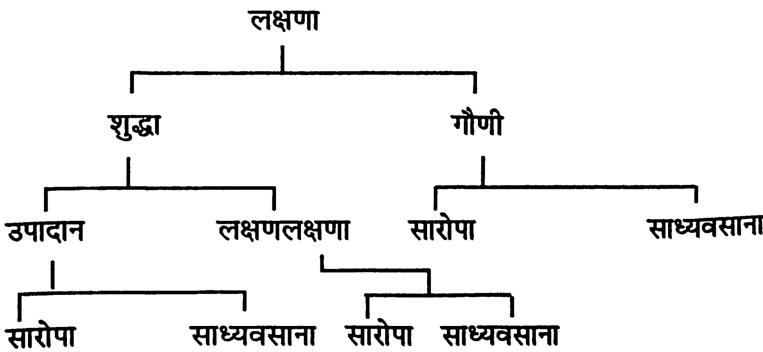
मम्मट के ग्रन्थों की कारिकाओं के आधार पर इनके 'लक्षणा-भेदों' को चित्र संख्या (2) द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ।

किन्तु इस प्रकार का विभाजन मानने पर इसके भिन्न-भिन्न भेदों में सङ्कर हो जाता है। उदाहरणस्वरूप 'आयुर्घृतम्' तथा 'आयुरेवेदम्' ये दोनों ही उदाहरण मम्मट के अनुसार क्रमशः शुद्धा सारोपा एवं शुद्धा साध्यवसाना के हैं। ये उदाहरण लक्षणलक्षणा के भी हो सकते है। क्योंकि इनमें 'आयु' अपने अर्थ का परित्याग करके ही लक्ष्यार्थबोध कराता है।

इसी सङ्कर के निराकरण हेतु 'प्रदीप' आदि कतिपय टीकाओं में मम्मटकृत लक्षणा का विभाजन चित्र संख्या (3) द्वारा दिया गया है ।

मम्मट के ग्रन्थों में जो भेद-निरूपण है उस के अनुरूप न होने के कारण यह विभाजन भी सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। चित्र संख्या (2) ही मम्मट के मत के अनुकूल है यद्यपि वह भी पूर्णतया विसङ्गतिरहित नहीं है।

रूढि एवं प्रयोजन के आधार पर भी मम्मट की लक्षणा का विभाजन किया जाता है जो कि उचित नही है क्योंकि रूढि एवं प्रयोजन को तो इन्होंने स्पष्ट रूप से लक्षणा का प्रयोजक हेतु कहा है, इसे विभाजक हेतु नहीं माना जा सकता।



चित्र संख्या (3) : 'प्रदीप' टीका के अनुसार मम्मट का लक्षणा-भेद ।

मम्मट ने लक्षणा में प्रयोजन की प्रतीति को व्यञ्जनागम्य माना है। जो लक्षणाएँ रूढि के कारण होती हैं वे व्यङ्ग्य से रहित होती हैं।[1] 'काव्यप्रकाश' में इन्होंने रूढि

---

1. व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने। (का० प्र०, पृ० 77) ।

तथा प्रयोजन की दृष्टि से होने वाली लक्षणा के तीन भेदों का निरूपण भी किया है। रूढि के कारण होने वाली लक्षणा को अव्यङ्ग्य कहते हैं तथा प्रयोजनयुक्त लक्षणा सव्यङ्ग्य है। इसमें भी कहीं-कहीं प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य अत्यन्त गूढ होता है अर्थात् जिसकी प्रतीति सहृदयजन को ही हो सकती है, कहीं यह व्यङ्ग्य अत्यधिक अगूढ अथवा प्रकट रूप में होती है उस कारण इसे सरलता से अधिगत किया जा सकता है।[1] इस दृष्टि से सव्यङ्ग्य लक्षणा के गूढव्यङ्ग्य और अगूढव्यङ्ग्य रूप दो भेद होकर लक्षणा के तीन प्रकार हो जाते हैं।[2]

परवर्ती काव्यशास्त्रियों के अनुसार लक्षणा-भेद

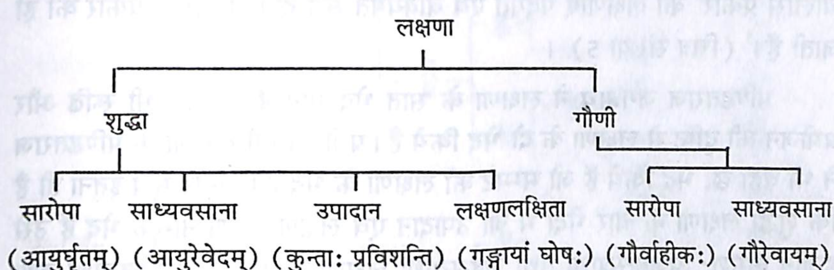
मम्मट के अधिकांश परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने न्यूनाधिक मात्रा में इन्हीं के अनुकरण पर लक्षणा का विभाजन प्रस्तुत किया है। इनमें से कुछ प्रमुख लक्षणा-भेद निम्नलिखित है -

नरेन्द्रप्रभसूरि ने 'अलङ्कारमहोदधि' में 'काव्यप्रकाश' के अनुसार ही लक्षणा का भेद प्रस्तुत किया है। प्रथमतः इन्होंने सारोपा एवं साध्यवसाना नाम से लक्षणा के दो प्रकार प्रस्तुत किये हैं।[3] तदनन्तर ये दोनों भेद सादृश्य और सादृयेतर सम्बन्धों से होने पर गौणी एवं शुद्धा कहलाए।[4] शुद्धा के पुनः उपादान तथा लक्षणलक्षिता रूप से दो भेद हो गये ।[5] इस प्रकार इनके अनुसार भी गौणी लक्षणा के दो भेद तथा शुद्धा के चार भेदों को मिलाकर कुल छः प्रकार की लक्षणाएँ हुई (चित्र संख्या 4)।[6] इनके लक्षणा के सभी उदाहरण वही हैं जो मम्मट के हैं। इन्होंने भी 'गौरनुबन्ध्यः' में उपादान लक्षणा का खण्डन करते हुए मुकुलभट्ट के 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त' की भी आलोचना की है।[7]

---

1. तच्च गूढमगूढं वा। (का० प्र०, पृ० 77) ।
2. तदेषा कथिता त्रिधा।
   अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च। (का० प्र०, पृ० 79) ।
3. सारोपा लक्षणाऽऽरोपविषयारोप्यभेदभृत्।
   आरोप्यापह्नुतेऽन्यस्मिन् सैव साध्यवसानिका। (अ० म०, पृ० 34) ।
4. द्विप्रकाराऽपि सादृश्याद् या सा गौणीति गीयते।
   प्रत्यासत्तेस्तु याऽन्यस्याः सा शुद्धेति प्रकीर्तिता।। (अ० म०, पृ० 34) ।
5. शुद्धाया एव पुनर्भेदद्वयमाह -
   स्वार्थसिद्धयै पराक्षेपे साऽप्युपादानजा क्वचित्।
   परस्मै चार्पणे स्वस्य क्वापि लक्षणलक्षिता।। (अ० म०, पृ० 35) ।
6. एवं च द्विभेदा गौणी चतुर्भेदा च शुद्धेति षट्प्रकारोपचारविचित्रता। (अ० म०, पृ० 36) ।
7. अ० म०, पृ० 35-36.।

'काव्यानुशासन' के रचयिता हेमचन्द्र ने यद्यपि अपने ग्रन्थ की रचना में 'काव्यप्रकाश' को आधार बनाया है किन्तु इन्होंने कहीं भी लक्षणा-विभाजन प्रस्तुत नहीं किया है। इन्होंने चार प्रकार के शब्दों को मानते हुए गौणी को लक्षणा से पृथक् रूप में स्वीकार किया है। लक्षणा के भेदों की चर्चा न करते हुए भी हेमचन्द्र ने गौणार्थ एवं लक्ष्यार्थ के अन्तर्गत 'गौर्वाहीकः' 'गौरयं' 'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादि उदाहरण दिये हैं तथा 'समारोपित' 'अध्यवसित' इत्यादि शब्द भी इनके ग्रन्थ में मिलते हैं।[1]



चित्र संख्या (4) : नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार लक्षणा-भेद ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का लक्षणा-विभाजन काव्यशास्त्र में महत्त्व रखता है। इन्होंने लक्षणा के अस्सी भेद स्वीकार किये हैं। रूढि एवं प्रयोजन को भी लक्षणा का विभाजक हेतु मानते हुए इन्होंने रूढा और प्रयोजनवती रूप से लक्षणा के दो भेद किये। पुनः इन दोनों के उपादान एवं लक्षण-लक्षणा के भेद से दो-दो भेद होकर चार प्रकार की लक्षणा हुई।[1] इन चारों के भी सारोपा और साध्यवसाना भेद से आठ प्रकार हुए।[2] उक्त आठ प्रकार की लक्षणाएँ भी सादृश्येतर सम्बन्ध से होने पर शुद्धा तथा सादृश्य सम्बन्ध से होने पर गौणी कहलाती हैं । इस प्रकार लक्षणा के सोलह भेद हो जाते हैं।[3] यहाँ यह अवधेय है कि मुकुलभट्ट एवं मम्मट ने उपादान और लक्षणलक्षणा

1. सत्यारोप्यारोपविषययोर्भेदेनाभेदेन च समारोपितोऽतथाभूतोऽपि तथात्वेनाध्यवसितो.....। (काव्यानुशासनम्, पृ० 28) ।
2. (क) मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।
   स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा।। (सा० द०, पृ० 31) ।
   (ख) अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
   उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा।। (सा० द०, पृ० 32) ।
3. आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा। (सा० द०, पृ० 33) ।

को केवल शुद्धा लक्षणा माना है, किन्तु विश्वनाथ ने उनको गौणी के अन्तर्गत भी माना है।

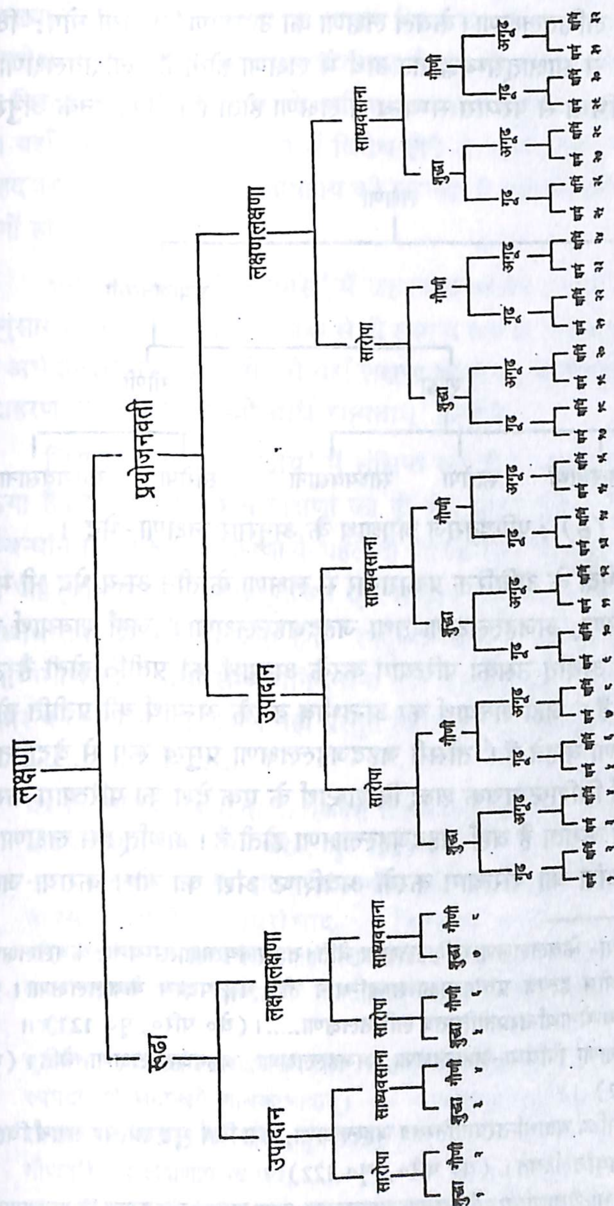
मम्मट की ही भाँति विश्वनाथ भी लक्षणा में प्रयोजन को व्यङ्ग्य मानते हैं। उपर्युक्त 16 प्रकार की लक्षणाओं में जो आठ प्रयोजनवती लक्षणाएँ हैं उनके प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य के गूढ एवं अगूढ होने से दो प्रकार होकर सोलह भेद हो जाते हैं। ये सोलह प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाएँ धर्मिगत एवं धर्मगत होने से बत्तीस प्रकार की हो जाती हैं।[1] अन्ततः बत्तीस प्रयोजनमूलक एवं आठ रूढिमूलक को मिलाकर कुल चालीस प्रकार[2] की लक्षणाएँ पदगत एवं वाक्यगत रूप होने से अस्सी प्रकार की हो जाती हैं।[3] (चित्र संख्या 5)।

पण्डितराज जगन्नाथ ने लक्षणा के सात भेद माने हैं। इन्होंने भी रूढि और प्रयोजन की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद किये हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के पण्डितराज ने भी वही छः भेद किये हैं जो मम्मट की लक्षणा के भेद है। अन्तर मात्र इतना ही है कि शुद्धा लक्षणा के चार भेदों में जो उपादान एवं लक्षणलक्षणा नामक भेद हैं उसे इन्होंने क्रमशः अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था लक्षणा कहा है।[4] अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था भेद में व्यङ्ग्य की प्रधानता रहती है अतः ये दोनों भेद ध्वनि के आधार होते हैं। (चित्र संख्या 6)।

'वेदान्तपरिभाषा' में भी लक्षणा के भेदों की चर्चा हुई है। यह 'वेदान्त-दर्शन' का एक प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें लक्षणा के भेदों का वेदान्तदर्शन के अनुकूल ही वर्णन किया गया है। मुख्य रूप से इसमें जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा, ये तीन भेद ही लक्षणा के माने गये है। जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा क्रमशः लक्षणलक्षणा तथा उपादान लक्षणा के ही सदृश हैं।

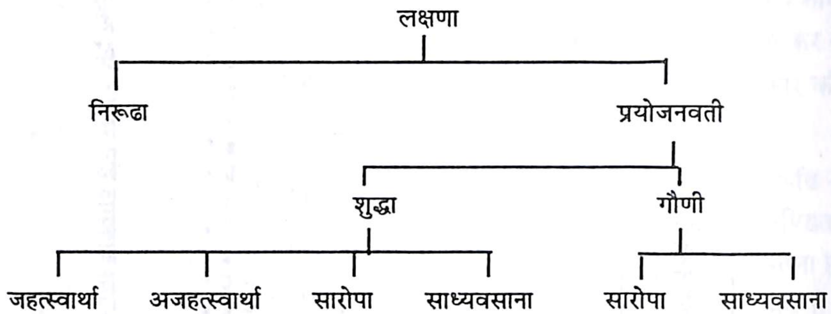
---

1. सादृश्येतरसंबन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि।
   सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः।। (सा० द०, पृ० 34-35)।
2. धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा (सा० द०, पृ० 38)।
3. तदेवं लक्षणाभेदाश्चत्वारिंशन्मता बुधैः। (सा० द०, पृ० 39)।
4. पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा। (सा० द०, पृ० 39)।
5. एवमशीतिप्रकारा लक्षणा। (सा० द०, पृ० 39)।
6. इयं तावद् द्विविधा, निरूढा प्रयोजनवती च। तत्रापि द्वितीया द्विविधा, गौणी शुद्धा च। तत्राद्या सारोपा, साध्यवसाना चेति द्विविधा। अन्त्या चतुर्विधा- जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा, साध्यवसाना चेति प्रयोजनवती षड्विधा सम्पद्यते। (र० गङ्गा०, द्वि० आ० (I), पृ० 165)



नोट : (१) ८ रूढ़िमूला+३२ प्रयोजनवती, इन ४० प्रकार की लक्षणाओं के पदगत तथा वाक्यगत होने से ८० भेद लक्षणा हो जाते हैं।
(२) गूढ़=गूढ़व्यङ्ग्य, अगूढ़=अगूढ़व्यङ्ग्य, धर्म=धर्मगत, धर्मि=धर्मिगत।

वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने सर्वप्रथम तो लक्षणा के दो भेद किये हैं केवल लक्षणा तथा लक्षितलक्षणा। केवल लक्षणा का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दिया है जिसमें गङ्गा पद से साक्षात्सम्बद्ध तट अर्थ में लक्षणा होती है। लक्षितलक्षणा में शक्यार्थ अर्थात् अभिधा से परम्परा सम्बन्ध से लक्षणा होती है। गौणी इनके अनुसार लक्षितलक्षणा है।[1]



चित्र संख्या (6) **:** पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार लक्षणा-भेद ।

उपर्युक्त दो भेदों के अतिरिक्त प्रकारान्तर से लक्षणा के तीन अन्य भेद भी माने गये हैं - जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा।[2] जहाँ शक्यार्थ का अन्तर्भाव न करके अर्थात् उसका परित्याग करके अन्यार्थ की प्रतीति होती है उसे जहल्लक्षणा कहते हैं।[3] जहाँ शक्यार्थ का अन्तर्भाव करके अन्यार्थ की प्रतीति होती है उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं।[4] तीसरी जहदजहल्लक्षणा प्रमुख रूप से वेदान्तियों की कल्पना हैं जहाँ विशिष्टवाचक शब्द विशिष्टार्थ के एक देश का परित्याग करके अन्यार्थ की प्रतीति कराता है वहाँ जहदजहल्लक्षणा होती है। अर्थात् इस लक्षणा में वाच्यार्थ के एक अंश का परित्याग करके अवशिष्ट अंश का बोध कराया जाता

---

1. लक्षणा च द्विविधा- केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति। तत्र शक्यसाक्षात्सम्बन्धः केवललक्षणा, यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र प्रवाहसाक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गङ्गापदस्य केवललक्षणा। यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा.....। (वे० परि०, पृ० 121) ।
2. प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा-जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति। (वे० परि०, पृ० 122) ।
3. तत्र शक्यमनन्तर्भाव्यं यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा, यथा विषं भुङ्क्ष्वेत्यत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिर्लक्ष्यते। (वे० परि०, पृ० 122) ।
4. यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तरप्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा, यथा शुक्लो घट इत्यत्र हि शुक्लशब्दः स्वार्थं शुक्लगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते। (वे० परि०, पृ० 123) ।

है।[1] इसे ही भागत्याग लक्षणा भी कहते हैं। वेदान्त दर्शन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या के लिए इसी लक्षणा का आश्रय लिया गया है। इस महावाक्य का वाच्यार्थ है परोक्षत्वविशिष्ट एवं अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य की एकरूपता। इसमें विरोध होने पर विरुद्धांश का परित्याग करके अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य का लक्षणा से बोध होता है। यहाँ वाक्यार्थ के एक अंश में विरोध होने से उसका त्याग किया गया है अतः जहदजहल्लक्षणा है।[2] इस महावाक्य की व्याख्या में जहल्लक्षणा एवं अजहल्लक्षणा दोनों ही अपर्याप्त हैं।[3]

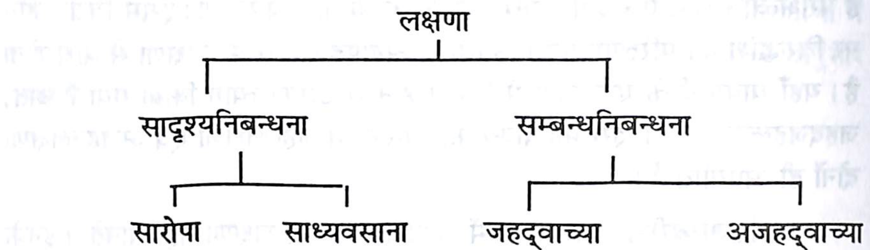
धर्मराजाध्वरीन्द्र 'तत्त्वमसि' में जहदजहल्लक्षणा लक्षणा नहीं मानते । इनके अनुसार शक्ति वृत्ति अर्थात् अभिधा से ही स्वतन्त्र रूप से उपस्थित तत् एवं त्वं पदार्थों के अभेदान्वय में बाधा न होने से यहाँ लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है। इसका उदाहरण इन्होंने 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' दिया है।[4]

विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रीय' में संक्षिप्त रूप से ही शब्द-वृत्तियों का निरूपण किया है। गौणी को इन्होंने लक्षणा का ही भेद मानते हुए[5] सादृश्यनिबन्धना तथा सम्बन्धनिबन्धना रूप से लक्षणा के पहले दो भेद किये हैं।[6] पुनः इनकी सम्बन्धनिबन्धना का जहद्वाच्या तथा अजहद्वाच्या एवं सादृश्य-निबन्धना लक्षणा के सारोपा एवं साध्यवसाना दो भेद हो जाते हैं।[7] सादृश्यनिबन्धना लक्षणा का उदाहरण इन्होंने 'अग्निर्माणवकः' तथा सम्बन्धनिबन्धना का 'गङ्गायां घोषः' दिया है। इन्होंने किसी प्रकार की लक्षणा का लक्षण नहीं प्रस्तुत किया है। सारोपा एवं साध्यवसाना लक्षणा

---

1. यत्र हि विशिष्टवाचकः शब्दः एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा, यथा सोऽयं देवदत्त इति। (वे० परि०, पृ० 123) ।
2. – – – – तथा 'तत्त्वमसि' इति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद् विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति। (वे० सा०, पृ० 179) ।
3. अत्र 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इतिवाक्यवज्जहल्लक्षणादि न सङ्गच्छते। (वे० सा०, पृ० 172)।
4. एवमेव तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि न लक्षणा। शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वंपदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात्। – – – जहदजहल्लक्षणोदाहरणं तु- काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्याद्येव। (वे० परि०, पृ० 125)
5. गौणवृत्तिरपि लक्षणाप्रभेद एव,.......। (प्र० रु०, पृ० 55-56) ।
6. अत एव सादृश्यनिबन्धना सम्बन्धनिबन्धना चेति द्विविधा लक्षणा। (प्र० रु०, पृ० 57-58)।
7. सम्बन्धनिबन्धना जहद्वाच्या अजहद्वाच्या चेति द्विविधा। सादृश्यनिबन्धना सारोपा साध्यवसाया चेति द्विविधा। एवं लक्षणा चतुर्विधा। (प्र० रु०, पृ० 58) ।

को शुद्धा लक्षणा का भेद न मानते हुए इसे केवल गौणी तक ही सीमित कर दिया है। (चित्र संख्या 7)।



चित्र संख्या (7) : आचार्य विद्यानाथ के अनुसार लक्षणा-भेद ।

वृत्तिवार्तिककार अप्पयदीक्षित ने शुद्धा तथा गौणी रूप से लक्षणा के दो भेद मानते हुए[1] उन दोनों के भी निरूढा एवं फलवती रूप से दो-दो भेद किये हैं।[2] प्रयोजन से होने वाली लक्षणा ही फलवती लक्षणा है। इन्होंने भी गौणी तथा शुद्धा का आधार सादृश्यमूलक तथा सादृश्येतर सम्बन्ध माना है। गौणी लक्षणा गुणों के आधार पर होती है। इसके लिए इन्होंने आदर सहित 'अभिधावृत्तिमातृका' की पंक्ति भी उद्धृत की है।[3]

फल लक्षणा सात प्रकार की होती है। शुद्धा फल लक्षणा के पाँच प्रकार जहत् लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा, सारोपा तथा साध्यवसाना है एवं गौणी फल लक्षणा के सारोपा एवं साध्यवसाना दो भेद हैं।[4]

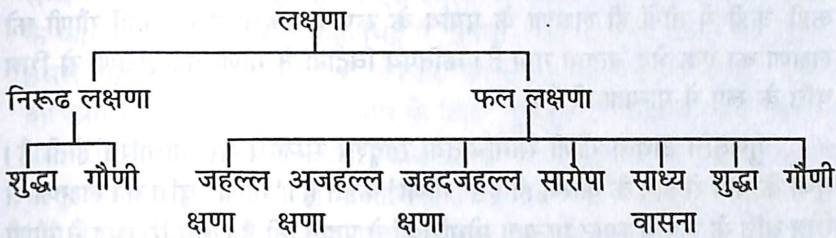
व्यतिरेक लक्षणा जिसे मम्मट ने वैपरीत्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा कहा है, उसे ये जहल्लक्षणा का ही एक भेद मानते हैं तथा इसके लिए 'उपकृतं बहु तत्र

---

1. तस्मात् सादृश्यगर्भतदन्यसम्बन्धनिमित्ततया गौणी शुद्धा चेति लक्षणाया एव द्वैविध्यम्। (वृ० वा०, पृ० 51) ।
2. इयं च द्विविधापि लक्षणा प्रत्येकं द्विविधा- निगूढलक्षणा फललक्षणा च। (वृ० वा०, पृ० 51) ।
3. इदमेवाभिसन्धायोक्तं वृद्धैः 'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्या तु गौणता' इति। (वृ० वा०, पृ० 55) ।
4. (फललक्षणा तावत्-) जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा। सारोपा साध्यवसाना च । शुद्धा गौणी च। इत्येवं सप्तविधा फललक्षणा। (वृ० वा०, पृ० 52) ।

– – –' इत्यादि पद्य प्रस्तुत करते हैं।[1] इसमें 'तुम्हारे अपकार करने पर भी मैं इस प्रकार प्रिय बोल रहा हूँ' इत्यादि रूप में स्वसाधुत्व का प्रतिपादन ही लक्षणा का प्रयोजन है।

अजहल्लक्षणा का उदाहरण अप्पयदीक्षित 'कुन्ताः प्रविशन्ति' तथा 'यष्टयः प्रविशन्ति' देते हैं[2] जिसे मम्मट ने भी उपादान लक्षणा के लिए उदाहृत किया था। जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण इन्होंने 'ग्रामो दग्धः' तथा 'पुष्पितं वनम्' दिया है। इसमें स्व अर्थ के एक देश का त्याग तथा एक देश का बोध होता है।[3] सारोपा एवं साध्यवसान का वही स्वरूप इन्हें भी मान्य था जो मुकुलभट्ट एवं मम्मट को मान्य था। (चित्र संख्या 8)।



चित्र संख्या (8) : अप्पयदीक्षित के अनुसार लक्षणा-भेद।

कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका जैसे प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के रचयिता आशाधरभट्ट ने दोनों ही ग्रन्थों में लक्षणा-भेदों की चर्चा की है किन्तु इनमें लक्षणा का व्यवस्थित एवं क्रमयुक्त विभाजन नहीं मिलता है। सर्वप्रथम जहती, अजहती तथा उभयी ये तीन भेद इनकी लक्षणा के होते हैं। इसके अतिरिक्त अभिधेयार्थ एवं लक्ष्यार्थ के मध्य सम्बन्घ के आधार पर लक्षणा के अनेक भेदों का उल्लेख भी मिलता है।[4] जहती इत्यादि उक्त तीनों भेदों का निरूढा तथा फलवती रूप से दो प्रकार

1. व्यतिरेकलक्षणापि जहल्लक्षणा प्रभेद एव। यथा– 'उपकृतं बहु तत्र – – –– ।' (वृ० वा०, पृ० 52–53)।
2. अजहल्लक्षणा यथा– 'कुन्ताः प्रविशन्ति, यष्टयश्च' इति। (वृ० वा०, पृ० 53)।
3. ग्रामैकदेशदाहादौ सति 'ग्रामो दग्धः', 'पुष्पितं वनम्' इत्यादि प्रयोगे 'ग्रामा'दि पदस्य स्वार्थैकदेशपरित्यागेन तदेकदेशे वृत्तेर्जहदजहल्लक्षणा, दग्धभूयस्त्वादिद्योतनं फलम्। (वृ० वा०, पृ० 53)।
4. प्लुतिस्तु जहती नाम प्रस्तारोऽजहती च सा।
संकोच उभयी ज्ञेया सम्बन्धादप्यनेकधा।। (कोवि०, पृ० 28)।
त्रिवेणिका में इन तीनों लक्षणाओं के नाम जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा नाम मिलते हैं। तृतीय जहदजहल्लक्षणा को ही 'भागत्यागलक्षणा' भी कहते हैं –
अथ फलवती जहदजहल्लक्षणा। इयमेव भागत्यागलक्षणेत्याहुः। (त्रिवेणिका, पृ० 13)।

स्पष्ट किया गया है।[1] फलवती लक्षणा सव्यङ्ग्य होती है। व्यङ्ग्य के गूढ तथा अगूढ होने से उसके भी दो प्रकार हो जाते हैं।[2] इसके अतिरिक्त इन लक्षणाओं के सारोपा एवं साध्यवसाना दो भेद होते हैं।[3] गौणी और शुद्धा भेद से भी लक्षणा के दो प्रकार माने हैं।[4]

उपर्युक्त विभाजन को आशाधरभट्ट ने जिस प्रकार प्रस्तुत किया है उसके अनुसार लक्षणा के भेदोपभेद की कोई निश्चित तालिका नहीं निर्मित की जा सकती।

'गुणवृत्ति', 'भक्ति' एवं 'उपचार'

लक्षणाशक्ति के अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस प्रसङ्ग में 'गुणवृत्ति' 'भक्ति' एवं 'उपचार' शब्द का प्रयोग अधिकता से उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं ये तीनों ही लक्षणा के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हैं तो कहीं गौणी को लक्षणा का एक भेद बताया गया है। कतिपय विद्वानों ने गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति के रूप में मान्यता दी है।

गुणवृत्ति अथवा गौणी सामान्यतया सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित होती है। गुणों के योग से होने के कारण ही इसे 'गौणी' कहते हैं। 'गौणी' वृत्ति को लक्षणा से भिन्न वृत्ति के रूप में स्पष्ट मान्यता मीमांसकों ने प्रदान की है। कुमारिलभट्ट ने गौणी को लक्षणा से भिन्न बताते हुए उसे लक्ष्यमाण गुणों के योग से होने वाली वृत्ति कहा है।[5] प्रभाकरमिश्र एवं उनके मतानुयायियों ने भी गौणी को लक्षणा से भिन्न ही माना है।[6]

नैयायिकों ने गौणी को लक्षणा से भिन्न नही माना है। न्यायसिद्धान्त के संस्थापक आचार्य गौतम लक्षणा को 'उपचार' कहते है।[7]

'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्धन ने अनेकशः गुणवृत्ति, भक्ति एवं उपचार शब्द का प्रयोग लक्षणा के लिए ही किया है। इस ग्रन्थ की प्रथम कारिका के 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' अंश में 'भाक्त' पद को स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन ने इसे

1. त्रिविधापि पुनर्द्वेधा निरूढा च फलान्विता। (कोवि०, पृ० 31)।
2. निरूढा भक्तिरफला गूढागूढफलाऽपरा। (कोवि०, पृ० 34)।
3. सारोपा सा मता यत्र विषयी विषयान्वितः।
   ज्ञेया साध्यवसाना सा विषयी यत्र केवलः।। (कोवि०, पृ० 35)।
4. कार्यकारणभावाद् भेदौ शुद्धाविमौ स्मृतौ।
   सादृश्ये सति गौणौ च शक्यलक्ष्यगुणाश्रयात्।। (कोवि०, पृ० 36)।
5. तं० वा०, मी० द० (2), पृ० 313.।
6. गौणवृत्तिर्लक्षणातो भिन्नेति प्राभाकराः। (प्रता० रु०, संस्कृत व्या०, पृ० 58)।
7. न्या० सू०, 2/2/63

'गुणवृत्ति' कहा है[1] इसके साथ ही 'भक्ति' के लिए इन्होंने 'उपचार' शब्द भी प्रयुक्त किया है।[2] लोचन टीका में अभिनवगुप्त ने तीनों का लक्षणा के पर्याय के रूप में ही प्रयोग किया है।[3]

मुकुलभट्ट ने भी गौणी का अन्तर्भाव लक्षणा में ही कर लिया है इन्होंने लक्षणा का वर्गीकरण करते हुए उसके शुद्धा तथा उपचारमिश्रा दो भेद किये जिनमें उपचारमिश्रा को भी शुद्ध और गौण दो भेदों में बाँटा। उपचार को परिभाषित करते हुए मुकुलभट्ट ने लिखा है – एक वस्तु पर दूसरी वस्तु के आरोप को उपचार कहते हैं। गौणोपचारमूलक लक्षणा मूलभूत उपमानोपमेयभाव पर आधारित होती है तथा शुद्धोपचार में ऐसा नहीं होता, अर्थात् वहाँ उपमानोपमेयभाव के न होने से उपमानगत गुणों के समान गुणों के सम्बन्ध से लक्षणा नहीं हो पाती। ऐसे स्थलों पर कार्य-कारणभाव इत्यादि सम्बन्धों के कारण लक्षणा होती है। मुकुलभट्ट ने 'उपचार' का जो शुद्ध नामक भेद किया है उससे यही सिद्ध होता है कि इन्हें 'उपचार' का केवल 'सादृश्यसम्बन्ध' रूप अर्थ ही अभिप्रेत नहीं था। इन्होंने गौणोपचार के लिए 'मूलभूत उपमानोपमेयभाव' शब्द का प्रयोग किया है इसका डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने यह अर्थ लिया है कि मुकुलभट्ट सादृश्यमूलक उपचार को ही वास्तविक उपचार मानते हैं। वस्तुतः यह युक्तिसङ्गत नहीं है। मुकुलभट्ट के अनुसार 'मूलभूत' शब्द का यहाँ अभिप्राय प्रतीत होता है कि शुद्ध एवं गौण दोनों उपचारों में से गौणोपचार के अन्तर्गत मूलरूप से 'उपमानोपमेयभाव' के आधार पर लक्षणा होती है अर्थात् उपमानगत गुणों का सम्बन्ध इसका आधार होता है। यही मूलभूत शब्द का अभिप्राय है। उपमानोपमेयभाव के सादृश्यमूलक होने के कारण ही गौणी लक्षणा का मूल सादृश्य-सम्बन्ध होता है तथा गुणों के आधार पर होने के कारण ही यह गौणोपचार कहलाता है। शुद्धोपचार के मूल में सादृश्यभिन्न कार्यकारण भावादि सम्बन्ध होते है।

मुकुलभट्ट के परवर्ती आलङ्कारिकों में अधिकांश ने 'उपचार' का अर्थ सादृश्ययुक्त गौण प्रयोग किया है। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थों में उपचार को गौणी तथा शुद्धा का भेदक धर्म मानते हुए इसे गौणी लक्षणा तक सीमित कर दिया है। इनके अनुसार उपचार से मिश्रित होने के कारण ही गौणी शुद्धा लक्षणा से भिन्न है। अर्थात् शुद्धा लक्षणा में उपचार का मिश्रण नहीं रहता। मम्मट ने यद्यपि 'उपचार' की कोई परिभाषा नहीं दी है तथापि इनके अनुसार इसका अर्थ सादृश्य-सम्बन्ध ही है।

1. भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 45)।
2. उपचारमात्रं तु भक्तिः' (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 262)।
3. .....तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधानिमित्तप्रयोजनमितित्रयसद्भाव उपचारबीजम्। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 49)।

शुद्धा लक्षणा को ये स्पष्ट रूप से उपचार से अमिश्रित कहते है।[1] जिसका तात्पर्य है कि गौणी में उपचार का मिश्रण रहता है। अन्यत्र मम्मट सादृश्य-सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा को गौणी कहते हैं,[2] इस प्रकार उपचार का अर्थ इनके अनुसार सादृश्य सम्बन्ध ही हुआ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में जो उपचार की परिभाषा दी है उसके अनुसार दो भिन्न-भिन्न पदार्थों का अत्यधिक सादृश्य के कारण भेद-ज्ञान का तिरोहित हो जाना ही उपचार है।[3] 'सिंहो माणवकः' इस उदाहरण में सिंह तथा बालक में भिन्नता होते हुए भी उनमें शूरता एवं क्रूरता इत्यादि गुण समान हैं। यही सादृश्य है।[4] इसी के कारण इनका भेद तिरोहित हो गया है। इसी को उपचार कहते हैं। इसके कारण होने वाली लक्षणा गौणी कहलाती है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने 'उपचार' का अर्थ मुकुलभट्ट के समान ही करते हुए इसे अन्य पर अन्य का आरोप कहा है, किन्तु इनके अनुसार 'उपचार' न तो लक्षणा का भेद है और न ही भेदक धर्म अपितु लक्षणा का ही अपर पर्याय है।[5] गौणी को इन्होंने भी लक्षणा का ही एक भेद माना है। सादृश्य अथवा गुणसाम्य से होने वाली लक्षणा ही गौणी लक्षणा है।[6]

इसी प्रकार अनेक अन्य काव्यशास्त्री हैं जिन्होंने गौणी को लक्षणा का ही एक भेद स्वीकार किया है। आचार्य विद्यानाथ के अनुसार गौणी लक्षणा का ही भेद है उससे भिन्न नहीं क्योंकि दोनों में ही सम्बन्ध की अनुपपत्ति रहती है।[7] अप्पयदीक्षित ने मीमांसकों का खण्डन करते हुए गौणी को लक्षणा में ही अन्तर्भूत माना है क्योंकि 'सादृश्य' एक प्रकार का सम्बन्ध ही होता है और सादृश्य युक्त लक्षणा ही गौणी

---

1. उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। (श० व्या० वि०, पृ० 9)।
2. भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ,.....। (श० व्या० वि०, पृ० 11)।
3. उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्। (सा० द०, पृ० 37)।
4. .....तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगतावह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यम् (न्या० सि० मु०, शक्तिसादृश्यखण्डनम्, पृ० 46)।
5. उपचरणमन्यस्मिन्नन्यस्यारोपणमुचारः स च लक्षणाऽपरपर्यायः शब्दस्य व्यापारविशेषस्तेन विचित्रता। (अ० म०, पृ० 33)।
6. द्विप्रकाराऽपि सादृश्याद् या सा गौणीति गीयते। (अ० म०, पृ० 34)।
7. गौणवृत्तिरपि लक्षणाप्रभेद एव, सम्बन्धानुपपत्तिमूलकत्वात्। (प्रता० रु०, पृ० 55-56)।

लक्षणा है।[1] आशाधरभट्ट[2] एवं नागेशभट्ट[3] ने भी सादृश्य के आधार पर होने वाली लक्षणा को गौणी कहते हुए इसे लक्षणा का ही भेद माना है।

कुछ काव्यशास्त्रियों ने गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति कहा है जिनमें हेमचन्द्र एवं भोजराज प्रमुख है। हेमचन्द्र ने चार प्रकार के शब्द माने हैं वाचक, लक्षक, गौण एवं व्यञ्जक। शृङ्गारप्रकाशकार भोजराज ने एक ही अभिधा शक्ति मानते हुए उसके मुख्या, गौणी और लक्षणा तीन भेद किये है।

1. तत्सादृश्येन प्रतिपादकत्वरूपा गौण्यपि लक्षणाप्रभेद एव, तत्सदृशेऽपि तन्निरुपितसादृश्याधिकरणत्वपरम्परासम्बन्धसत्त्वात्। (वृ० वा०, पृ० 50)।
2. सादृश्यसम्बन्धे सति गौणी.....। (त्रिवेणिका, पृ० 12)।
3. स्वनिरूपितसादृश्याधिकरणत्वसम्बन्धेन शक्यसम्बन्ध्यर्थप्रतिपादिका गौणी। (वै० सि० ल० म०, पृ० 100)।

पञ्चम अध्याय

व्यञ्जनावृत्ति-विवेचन

शब्दशक्तियों में व्यञ्जना नामक वृत्ति भी मानी गई है। मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न एक अन्य अर्थ भी होता है, इसी अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति 'व्यञ्जना' है। इससे व्यक्त अर्थ को 'व्यङ्ग्यार्थ' कहते हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में शब्द की एक शक्ति के रूप में व्यञ्जना की उद्भावना आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में ही सर्वप्रथम मिलती है। किन्तु आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में व्यञ्जना की कोई भी परिभाषा नहीं दी है।

आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' को काव्य की 'आत्मा' कहा है। जहाँ शब्द अपने अर्थ को तथा अर्थ स्वयं को गौण करके प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना कराते हैं वही 'ध्वनि' है।[1] अभिनवगुप्त ने लोचन में स्पष्ट किया है कि ध्वनि शब्द का व्यवहार पाँच अर्थों में होता है। ये पाँच अर्थ है- वाच्य अर्थ, वाचक शब्द, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार तथा इन चारों का समुदाय रूप काव्य।[2]

व्याकरण-शास्त्र सभी विद्याओं का मूल माना जाता है अतः वैयाकरण प्रथम कोटि के विद्वान् कहलाते हैं। वैयाकरणों ने मस्तिष्क में नित्य रूप से वर्तमान स्फोट के अभिव्यञ्जक वर्णों को 'ध्वनि' कहा है। इन्हीं ध्वनियों को हम लोक में सुनते हैं। आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का आधार वैयाकरणों का यह स्फोटवाद ही है।[3]

---

1. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
   व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। (ध्व०, प्र० उ०, पृ०171) ।
2. एवं घण्टानिर्ह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः। - -- -- - तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ। - - - - अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। (ध्व०, लो०, प्र० उ०, पृ० 247-250) ।
3. प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 241) ।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनिकाव्य में व्यङ्ग्य अर्थ की ही प्रधानता रहती है। व्यङ्ग्यार्थ अथवा प्रतीयमानार्थ काव्य का विलक्षण अर्थ होता है। जिस प्रकार अङ्गनाओं में लावण्य मुखादि शरीर के अवयवों से सर्वथा पृथक् होता है, उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ भी प्रसिद्ध अलङ्कारों एवं शब्दार्थों से भिन्न ही होता है।[1] व्यङ्ग्य अर्थ तथा व्यञ्जक शब्दों का महत्त्व बताते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि महाकवियों को 'महाकवित्व' पद की प्राप्ति व्यङ्ग्यव्यञ्जक से ही होती है।[2]

मम्मट के ग्रन्थों में व्यञ्जना के विभिन्न भेदों की परिभाषाएँ मिलती हैं किन्तु व्यञ्जना-शक्ति कहते किसे हैं, इसे स्पष्ट करने वाली कोई परिभाषा उपलब्ध नहीं होती हैं। मम्मट के कुछ परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने व्यञ्जना को परिभाषित करने का अवश्य प्रयास किया है। हेमचन्द्र ने मुख्य, गौण एवं लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीत होने वाले अर्थ को ही व्यङ्ग्यार्थ कहा है जिसकी पूर्वाचार्यों ने 'ध्वनि' संज्ञा दी थी।[3] व्यञ्जना-व्यापार को स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं कि अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत अर्थ सहृदय की प्रतिभा की सहायता से एक नूतन अर्थ को प्रकट करता है जिसे द्योतित करने वाली शक्ति व्यञ्जना कहलाती है।[4] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने व्यञ्जनावृत्ति की परिभाषा देने का सार्थक प्रयास किया है। व्यञ्जना शब्द तथा अर्थ दोनों में रहने वाली वृत्ति है। अपने-अपने अर्थ की प्रतीति कराने के पश्चात् अभिधा आदि वृत्तियों के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है उसे व्यञ्जना-व्यापार कहते हैं।[5] व्यञ्जना को आचार्यों ने व्यञ्जन, ध्वनन, द्योतन, गमन, प्रत्यायन आदि नामों से भी व्यवहृत होने वाली शक्ति बताया है।[6]

---

1. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
   यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 70)।
2. व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम्। तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ। व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 161)।
3. मुख्यगौणलक्ष्यार्थव्यतिरिक्तः प्रतीतिविषयो व्यङ्ग्योऽर्थः। स च ध्वन्यते द्योत्यते इति ध्वनिरिति पूर्वाचार्यैः संज्ञितः। (काव्यानुशासनम्, पृ० 31)।
4. तच्छक्त्युपजनितार्थावगमपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्व्यञ्जकत्वम्। (काव्यानुशासनम्, पृ० 41)।
5. विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।।
   सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च। (सा० द०, पृ० 39)।
6. शक्तिर्व्यञ्जनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम। (सा० द०, पृ० 40)।

व्यञ्जना-शक्ति की विवेचना के प्रसङ्ग में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ध्वनिकार के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों ने व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता को स्वीकारा था अथवा नहीं ? इस प्रश्न का समाधान भी हमें आनन्दवर्धन के ही ग्रन्थ में प्राप्त हो जाता है। इनसे पूर्व आचार्यों ने काव्य में अभिधा के अतिरिक्त 'अमुख्यवृत्ति' का भी प्रयोग किया है। आनन्दवर्धन के विचार में इन आचार्यों के द्वारा इस अमुख्यवृत्ति का प्रयोग यही दर्शाता है कि इन्होंने इसके माध्यम से ध्वनि-मार्ग का स्पर्श तो किया, किन्तु उसका लक्षण नहीं दिया।[1] 'ध्वन्यालोक' की प्रथम कारिका में ही आनन्दवर्धन ने ध्वनि-विरोधी तीन सम्भावित पक्षों को रखा है- अभाववाद, भाक्तवाद तथा अनिर्वचनीयतावाद।[2] इनमें 'भाक्तवाद' की व्याख्या करते हुए इन्होंने कहा है कि कुछ लोग ध्वनि को 'भक्ति' अथवा 'गुणवृत्ति' कहते हैं।[3] यद्यपि पूर्ववर्ती किसी भी आलङ्कारिक ने शब्दशः यह नहीं कहा कि ध्वनि गुणवृत्ति या लक्षणा ही है, किन्तु इनका अभिधा के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार को मानना यही सङ्केत करता है कि इनके 'अमुख्यव्यापार' में ही अभिधा से भिन्न सभी व्यापारों का अन्तर्भाव हो जाता है। अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में स्पष्ट किया है कि भामह के '**शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः**' सूत्र की व्याख्या में उद्भट ने लिखा था- '**शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च**'[4] इसका तात्पर्य है कि शब्दों के अभिधान का अर्थ है अभिधाव्यापार। वह मुख्य एवं गुणवृत्ति रूप से दो प्रकार का होता है। वामन ने भी सादृश्य से होने वाली लक्षणा को वक्रोक्ति कहा है।[5] इस प्रकार इन आचार्यों ने वाच्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ भी माना जिसे अमुख्यार्थ, गौणार्थ या लक्ष्यार्थ कहा। इसी से सिद्ध होता है कि इन्हें व्यङ्ग्य अर्थ का भी ज्ञान तो था किन्तु इसकी प्रतीति के लिए इन्होंने अभिधा से भिन्न कोई शब्दशक्ति नहीं मानी।

यह सत्य है कि भामह इत्यादि आचार्यों ने व्यञ्जना का कहीं उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इन पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों के ग्रन्थों में कतिपय ऐसे अलङ्कारों का वर्णन है

---

1. यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षितः......। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 51) ।
2. ध्व०, प्र० उ०, पृ०11. ।
3. भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 45) ।
4. ध्व० लो०, पृ० 52. ।
5. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। (काव्या० सू०, पृ० 172) ।

जिससे यह स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि इन आचार्यों का परिचय प्रतीयमानार्थ से अवश्य था। इस प्रसङ्ग में पण्डितराजजगन्नाथ का यह मत उल्लेखनीय है कि प्राचीन आलङ्कारिकों के 'ध्वनि' आदि शब्दों का प्रयोग न करने मात्र से यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि ये व्यङ्ग्यार्थ से परिचित नहीं थे। उन आचार्यों ने भी 'समासोक्ति', 'व्याजस्तुति', 'अप्रस्तुत प्रशंसा' आदि अलङ्कारो के वर्णन के माध्यम से गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों का निरूपण किया है। अन्य सभी व्यङ्ग्य-प्रपञ्च को पर्यायोक्त अलङ्कार में अन्तर्भूत कर लिया।[1]

आचार्य भामह ने 'काव्यालङ्कार' में 'समासोक्ति' 'पयार्योक्त', 'अप्रस्तुतप्रशंसा' इत्यादि अलङ्कारों के वर्णन में वाच्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता में स्पष्ट सङ्केत किया था। समान विशेषणों के द्वारा जहाँ अन्य अर्थ गम्य हो वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है।[2] इसी प्रकार इन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा के लक्षण में भी अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा प्रस्तुत अर्थ को गम्य मानते हुए व्यञ्जनावृत्ति को मौन स्वीकृति दी है।[3] इनके पर्यायोक्त[4] एवं दृष्टांत[5] नामक अलङ्कारों में भी व्यङ्ग्यार्थ का निर्देश देखा जा सकता है।

दण्डी ने तो उत्प्रेक्षा अलङ्कार के प्रसङ्ग में मन्ये, शङ्के इत्यादि उत्प्रेक्षा के व्यञ्जक शब्दों की चर्चा करते हुए 'व्यञ्जयते' शब्द का प्रयोग किया है।[6] इसके एक टीकाकार ने 'व्यञ्जयते' पद का अर्थ 'द्योतते' किया है।[7] पर्यायोक्त अलङ्कार की

---

1. ध्वनिकारात्प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलङ्कारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अपरश्च सर्वोऽपि व्यङ्ग्यप्रपञ्चः पर्यायकुक्षौ निक्षिप्तः। (र० गङ्गा०, द्वि० आ० (II), पृ० 360)
2. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा। (भा० काव्या०, 2/79, पृ० 60) ।
3. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा। (भा० काव्या०, 3/29, पृ० 78) ।
4. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा।। (भा० काव्या०, 3/8, पृ० 70) ।
5. यत्र दृष्टान्तमात्रेण व्यज्यते साध्यसाधने।
तमाहुः शुद्धदृष्टान्तं तन्मात्राविष्कृतेर्यथा।। (भा० काव्या०, 5/58, पृ० 138) ।
6. मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः।। (काव्यादर्शः, 2/234, पृ० 164) ।
7. तैः शब्दैरुत्प्रेक्षा उक्तलक्षणा शब्दान्तरोक्ताप्यव्यक्ता सती व्यज्यते द्योत्यते।
(काव्यलक्षण-'रत्नश्रिया' टीका, पृ० 145) ।

परिभाषा देते हुए इन्होंने 'प्रकारान्तराख्यानम्' पद का प्रयोग किया है।[1] यह प्रकारान्तरया आख्यान वाचक व्यापार से भिन्न किसी दूसरे व्यापार से कथन है और यह अन्य व्यापार व्यञ्जना ही है। उदात्त अलङ्कार के प्रसङ्ग में तो 'व्यञ्जित' शब्द का प्रयोग मिलता है।[2]

उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में भी कई ऐसे स्थल है जिनसे सिद्ध होता है कि इन्हें भी 'व्यङ्ग्यार्थ' का ज्ञान अवश्य था। पर्यायोक्त अलङ्कार के लक्षण में इन्होंने '**अन्येन प्रकारेण अभिधीयते**' कहकर अभिधा के अतिरिक्त एक 'अवगमात्मक' व्यापार को भी माना है।[3] इस अवगमकता का अभिप्राय अन्यार्थ की व्यञ्जकता ही प्रतीत होती है। अप्रस्तुतप्रशंसा[4] तथा व्याजस्तुति[5] नामक अलङ्कारों के वर्णन में भी गम्यमान अर्थ की सत्ता में ही सङ्केत मिलता है। अप्रस्तुतप्रशंसा में अन्य की स्तुति रहती है तथा व्याजस्तुति में शब्द-शक्ति के स्वभाव से तो निन्दा प्रतीत होती है किन्तु वस्तुतः स्तुति ही गम्य होती है।

रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य, वामन का उल्लेख भी लोचन टीका में मिलता है। आनन्दवर्धन का मानना है कि वामन को भी अस्फुट रूप में ध्वनि नामक काव्यतत्त्व का ज्ञान था।[6] वामन ने विशिष्ट पद रचना को रीति कहा है।[7] रचना में यह विशिष्टता गुणों के कारण ही आती है।[8] गुण ही काव्यशोभा के

---

1. इष्टमर्थमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
   यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते।। (काव्यादर्शः, 2/295, पृ० 189) ।
2. पूर्वत्राशयमहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम्।
   सुव्यञ्जितमिति प्रोक्तमुदात्तद्वयमप्यदः।। (काव्यादर्शः, 2/303, पृ० 192) ।
3. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
   वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। (काव्या० सा० सं०, पृ० 35) ।
4. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
   अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थानिबन्धिनी।। (काव्या० सा० सं०, पृ० 43) ।
5. शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्दैव गम्यते
   वस्तुतस्तु स्तुतिश्चेष्या व्याजस्तुतिरसौ मता।। (काव्या० सा० सं०, पृ० 44) ।
6. एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सदशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाञ्चाली च रीतयः प्रवर्तिताः। रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक्स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते। तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित्। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० 514) ।
7. विशिष्टा पदरचना रीतिः। (काव्या० सू०, पृ० 15) ।
8. विशेषो गुणात्मा। (काव्या० सू०, पृ० 16) ।

उत्पादक धर्म हैं, अलङ्कार तो उस शोभा का वर्धन करते हैं।[1] लोचनकार के अनुसार गुणों का पर्यवसान रस में ही होता है[2] और रस सदा व्यङ्ग्य ही होता है। इससे यह सिद्ध है कि वामन भी वाच्यार्थ से भिन्न काव्य के रमणीयार्थ से अवश्य परिचित थे। आचार्य वामन ने सादृश्य से होने वाली लक्षणा को 'वक्रोक्ति' कहा है।[3] 'अलङ्कारसर्वस्वकार' का मन्तव्य है कि वामन ने वक्रोक्ति अलङ्कार के माध्यम से ध्वनि के अविवक्षितवाच्य रूप भेद को ही कहा है।[4] वामन से पूर्व भामह ने भी वक्रोक्ति की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि कोई भी अलङ्कार वक्रोक्ति के विना नहीं रह सकता।[5] सभी अलङ्कारो के प्रयोग में एक प्रकार के उक्तिवैचित्र्य की अपेक्षा रहती है। यह तो अनुभवसिद्ध है कि किसी बात के वक्र-कथन से उसमें विलक्षणता आ जाती है। वक्र रूप से कथन कभी भी अभिधा से सम्भव नहीं है। इस उक्तिवैचित्र्य के माध्यम से भी इन आचार्यों ने व्यङ्ग्यार्थ को ही स्वीकारा है।

आचार्य रुद्रट ने 'भाव' नामक अलङ्कार का लक्षण देते हुए व्यङ्ग्य अर्थ की सत्ता का स्पष्ट सङ्केत किया है। दो प्रकार के भाव अलङ्कार इन्होंने माने हैं। इनमें प्रथम में अभिप्राय गम्य रहता है तथा दूसरे में अर्थान्तर।[6] इस प्रकार इन्होंने प्रकारान्तर से व्यञ्जना का ही उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त रुद्रट ने प्रथम भावालङ्कार का जो उदाहरण दिया है उसे मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से जो उपर्युक्त उदाहरण दिये गये हैं उनके अतिरिक्त भी अन्यान्य ऐसे स्थल उपलब्ध हो सकते हैं जिनमें व्यङ्ग्यार्थ के बीज निहित है। आनन्दवर्धन का यह कथन उचित ही है कि ध्वनि-मार्ग का स्पर्श करके भी इन आचार्यों ने इसका लक्षण नहीं दिया।

---

1. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। (काव्या० सू०, पृ० 87-88)।
2. रीतिर्हि गुणेष्वेव पर्यवसिता । यदाह-विशेषो गुणात्मा गुणाश्च रसपर्यवसायिन------।
(ध्व० लो०, तृ० उ०, पृ० 514) ।
3. काव्या० सू०, 4/3/8, पृ० 172.
4. वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलङ्कारत्वं ब्रुवता कश्चिद्ध्वनिभेदोऽलङ्कारतयैवोक्तः। (अ० सर्व०, पृ० 8) ।
5. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना। (भा० काव्या०, 2/85, पृ० 62) ।
6. यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ।। (रु० काव्या०, 7/38, पृ० 206) ।

मुकुलभट्ट एवं व्यञ्जना-शक्ति

व्यञ्जना-विरोधी आचार्यों में मुकुलभट्ट अग्रगण्य माने जाते हैं । इनकी गणना उन आचार्यों में की जाती है जिन्होंने व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में ही माना है। अर्थात् जिस अर्थ को व्यञ्जनावादी आचार्य व्यञ्जना नामक शक्तिविशेष से बोधगम्य मानते हैं उसकी प्रतीति ये लक्षणा से ही मान लेते हैं। मुकुलभट्ट के अनुसार तो लक्षणा भी शब्द की पृथक् शक्ति नहीं है। 'इत्येतदभिधावृत्तं दशधाऽत्र विवेचितम्' कह कर अभिधा के जो दस भेद इन्होंने माने हैं उनमें ही अन्तिम छः को लाक्षणिक अर्थ की अभिधा कहते हैं। इस लाक्षणिक अर्थ को 'अमुख्य' भी कहा जा सकता है क्योंकि उसकी प्रतीति मुख्य अर्थ की पर्यालोचना से ही होती है। इसी 'अमुख्य' अर्थ में इन्होंने व्यङ्ग्यार्थ को भी समाविष्ट कर लिया है।

मुकुलभट्ट के समय तक ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना तथा व्यङ्ग्यार्थ की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। जिस प्रकार आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों ने व्यञ्जनाशक्ति को न मानते हुए भी व्यङ्ग्यार्थ को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है उसी प्रकार मुकुलभट्ट के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि इन्हें ध्वनि-सिद्धान्त एवं प्रतीयमानार्थ का ज्ञान अवश्य था। इनके ग्रन्थ में तो इस बात के स्पष्ट प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं कि ये आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त से पूर्णरूपेण परिचित थे।

मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ में किसी 'सहृदय' नामक विद्वान् के जिन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है वे 'ध्वन्यालोक' से ही समानता रखते हैं। इस ग्रन्थ के अन्तिम भाग में तो इन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'सहृदय' नामक विद्वान् के द्वारा नवीन स्थापना के रूप में वर्णित ध्वनि का लक्षणा में ही समावेश हो जाता है।[1]

लक्षणा पर विचार के प्रसङ्ग में मुकुलभट्ट ने लक्ष्यार्थ को वक्ता, वाक्य तथा वाच्य अर्थ से सापेक्ष बताया है। वक्ता आदि कारण-सामग्रियों के होने पर ही लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है।[2] इसके लिए इन्होंने जो उदाहरण दिये हैं उससे भी इनके व्यञ्जनाविरोधी होने का ही सङ्केत मिलता है । इन उदाहरणों को मम्मट जैसे ध्वनिवादी आचार्य ने व्यञ्जना का उदाहरण माना है। इनके तीनों उदाहरणों में मम्मट ने क्रमशः वस्तु, अलङ्कार एवं रस की व्यञ्जना मानी है।[3]

---

1. लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 66) ।
2. अ० वृ० मा०, पृ० 24. ।
3. श० व्या० वि०, पृ० 18. ।

आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने ध्वनि के अनेक भेद माने हैं। ध्वनि की यह अनेक प्रकारता वस्तु, अलङ्कार एवं रसादि के भेद से होती है। व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न बताते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है कि प्रतीयमानार्थ वस्तु, अलङ्कार एवं रसादि से होने वाले अपने सभी भेदों में वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न ही होता है।[1] मम्मट ने भी 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य के संक्षेप में तीन भेद किये हैं। इस भेद का आधार व्यङ्ग्य का तीन रूपों वाला होना है। इन भेदों में कोई वाच्यता को सहन करने वाला होता है तो कोई वाच्यता सहन न करने वाला होता है। प्रथम कोटि में वस्तुध्वनि एवं अलङ्कारध्वनि की गणना होती है जिन्हें क्रमशः अविचित्र एवं विचित्र भी कहते है।[2] तृतीय प्रकार रसादि ध्वनि का है जो कभी भी वाच्यता को सहन नहीं कर सकता।[3] यहाँ वाच्यता को सहन करने का अभिप्राय यह है कि वस्तु तथा अलङ्कार रूप ध्वनि में जिस अर्थ की व्यङ्ग्य रूप से प्रतीति होती है वह अन्य दशा में वाच्य भी हो सकता है किन्तु रसादि ध्वनि में अर्थ कभी भी वाच्य नहीं होता। इसके लिए आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने यह तर्क दिया है कि - रस रूप अर्थ की अभिव्यञ्जना विभाव, अनुभावादि के द्वारा ही होती है। रस, भाव अथवा शृङ्गार आदि शब्द से अभिधा के द्वारा इसकी प्रतीति नहीं होती क्योंकि यह देखा जाता है कि जब कभी रस, शृङ्गार, भावादि शब्दों का प्रयोग होता है और विभावादि का प्रयोग नहीं होता तो रस की प्रतीति नहीं होती, किन्तु इसके विपरीत शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग न होने पर भी विभाव, अनुभावादि का कथन होने से रस-प्रतीति हो जाती है। इस अन्वयव्यतिरेक से यही सिद्ध होता है कि रस सदा व्यङ्ग्य होता है तथा विभावानुभावादि ही रस के व्यञ्जक होते हैं।[4]

रसादि की प्रतीति लक्षणाशक्ति से भी नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ लक्षणा के तीनों हेतु मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा रूढि अथवा प्रयोजन में से कोई भी नहीं

---

1. स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम् । (ध्व०, प्र० उ०, 73) ।
2. सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथा हि-किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रम्, विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। (का० प्र०, पृ० 237-238) ।
3. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। (का० प्र०, पृ० 238) ।
4. (क) - - -तत्प्रयोगे विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते, इति निश्चीयते, तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव। (का० प्र०, पृ० 238) ।

है।[1] विभावादि में किसी प्रकार की मुख्यार्थबाधा नहीं होती, विभावादि का रस के साथ ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। यहाँ कोई प्रयोजन भी नहीं है क्योंकि रसास्वादन तो स्वयं काव्य का अन्तिम प्रयोजन है। इसे आचार्य मम्मट ने **'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्'** कहा है।

मुकुलभट्ट ने वक्ता आदि की सापेक्षता से होने वाली तीनों लक्षणाओं के जो उदाहरण दिये हैं उनमें **'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि - - -'** उदाहरण में उनके अनुसार भावी रति का अपह्नव लक्ष्यार्थ है। मम्मट के अनुसार यहाँ वस्तु से वस्तु की व्यञ्जना है। इन्होंने 'काव्यप्रकाश' में वस्तु से वस्तु की व्यञ्जना होने पर 'वस्तुमात्रध्वनि' नामक भेद माना है जो कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का एक भेद है।[2]

'प्राप्तश्रीरेष कस्मात् - - -' इत्यादि में मुकुलभट्ट ने राजा में भगवान् वासुदेव के स्वरूप का अध्यवसान मानते हुए अतिशयोक्ति अलङ्कार को लक्ष्य कहा है।[3] मम्मट ने यहाँ अतिशयोक्ति के स्थान पर रूपक माना है तथा उसके 'लक्ष्य' होने का निषेध किया है।[4] 'ध्वन्यालोक' में भी यह उदाहरण अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य रूपक ध्वनि के लिए प्रस्तुत किया गया है।[5]

'दुर्वारामदनेषवो दिशि दिशि- - - -' रूप तृतीय उदाहरण में मुकुलभट्ट ने वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त विप्रलम्भ शृङ्गार माना है। इस प्रकार इन्होंने रस को भी लक्ष्य कह दिया है। यहाँ काम के बाणादि पाँचों पदार्थों पर अग्नित्व के आरोप से प्रधानरूप से उनका असह्य होना ही प्रकट होता है, यही वाच्य है, इसी से विप्रलम्भ शृङ्गार का आक्षेप होता है।

इस प्रकार इन तीनों उदाहरणों के माध्यम से मुकुलभट्ट ने वस्तु, अलङ्कार तथा

(ख) - - -यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयं कथञ्चित्,......। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० 131) ।

1. मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः। (का० प्र०, पृ० 238) ।
2. काव्यप्रकाश में मम्मट ने वस्तुमात्र ध्वनि का उदाहरण दिया है-
   'पथिक, नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
   उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस।।'
   यहाँ वक्तृवैशिष्ट्य से वस्तु रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति है। (का० प्र०, पृ० 173) ।
3. - - - नृपतेर्भगवद्वासुदेवताऽऽक्षिप्ता- - । (अ० वृ० मा०, पृ० 34) ।
4. श० व्या० वि०, पृ० 18।
5. ध्व०, द्वि उ०, पृ० 230।

रस रूप ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में ही दर्शाया है। उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में इनके अनुसार लक्ष्यार्थ की प्रतीति उपादान लक्षणा से ही होती है।[1] आक्षेप को ही मुकुल ने उपादान लक्षणा कहा है, इससे प्रतीत होता है कि व्यङ्ग्यार्थ को ये आक्षेपलभ्य ही मानते हैं।

मम्मट ने तीनों उदाहरणों में मुख्यार्थबाध का अभाव दिखाते हुए लक्षणा का निषेध किया है।[2] मम्मट एवं मुकुलभट्ट की लक्षणा में मौलिक अन्तर है। यद्यपि मुकुलभट्ट ने भी लक्षणा के 'मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय' को स्वीकारा है किन्तु इसे उस परम्परागत रूप में नहीं माना है जैसा कि मम्मट ने। मुख्यार्थबाधादि हेतु मम्मट की लक्षणा के आधार हैं किन्तु मुकुलभट्ट की लक्षणा का आधार है किसी न किसी अर्थ की सापेक्षता। इनका लक्षणीय अर्थ अर्थावसेय है अर्थात् उसकी प्रतीति मुख्यार्थ की पर्यालोचना के बाद ही होती है। इस प्रकार मुख्यार्थ के अनन्तर प्रतीत होने वाले सभी अर्थ लक्ष्य अर्थ ही कहलाते हैं। कहीं-कहीं इस लक्ष्य अर्थ की वाच्यार्थ से प्रधानता भी रहती है। जैसे रस-रूप लक्ष्यार्थ आक्षेपलभ्य होते हुए भी वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान होता है क्योंकि उसमें सहृदयहृदयाह्लादकता होती है।[3] स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट अर्थों का प्रधानाप्रधान भाव भी मानते हैं जैसा कि व्यञ्जनावादियों ने माना है। अन्तर यही है कि इन्होंने हृदयाह्लादक अर्थों को भी आक्षेप अर्थात् लक्षणा से ही प्रतीत मान लिया है। इसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना नामक शक्तिविशेष को नहीं माना। व्यञ्जना तथा व्यङ्ग्यार्थ को न मानने के कारण ही इन्होंने लक्षणा के प्रसङ्ग में ही वाच्यार्थ की विवक्षा, अविवक्षा तथा उसके अत्यन्त तिरस्कार रूप तीन स्थितियों का वर्णन किया है, जिसकी विवेचना 'ध्वन्यालोक' एवं 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि-काव्य के भेदों के प्रसङ्ग में की गई है। आनन्दवर्धन ने अभिधामूलक ध्वनि में वाच्य की विवक्षा मानी है, लक्षणामूलक ध्वनि में तो उसका सर्वथा परित्याग ही रहता किन्तु मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा के क्षेत्र में भी कहीं-कहीं वाच्य की विवक्षा रहती है।

---

1. (क) तेनात्र वक्तृविशेषपर्यालोचनया सत्यार्थे निष्ठाया उपादानात्मिकाया लक्षणायाः प्रतिपत्तिः। (अ० वृ० मा०, पृ० 32)।
   (ख) तेनात्रोपादानात्मिका लक्षणा (अ० वृ० मा०, पृ० 34)।
   (ग) -----विप्रलम्भश‍ृङ्गाराक्षेपादुपादानात्मिका लक्षणा वाच्यनिबन्धना (अ० वृ० मा०, पृ० 38)।
2. ------लक्ष्यत इति नोदाहार्यम्, मुख्यार्थस्य बाधाभावात्। (श० व्या० वि०, पृ० 18)।
3. विप्रलम्भश‍ृङ्गारस्य चाक्षिप्यमाणस्यापि वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, सहृदयहृदयाह्लादहेतुतया प्राधान्येनाक्षेपात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 38)।

लक्षणलक्षणा में मुकुलभट्ट के अनुसार वाच्य की अविवक्षा रहती है। **'स्निग्धश्यामल- - -'** इत्यादि पद्य में 'राम' शब्द का वाच्यार्थ 'दशरथ-पुत्र' अविवक्षित है। यह वाच्यार्थ उससे व्यङ्ग्य अन्य धर्म के रूप में परिणत हो जाता है यही उसकी अविवक्षा है किन्तु यहाँ उसका अत्यन्त तिरस्कार नहीं होता क्योंकि 'अत्यन्तकष्टसहिष्णुत्व' रूप जो व्यङ्ग्यधर्मान्तर है उससे वाच्यार्थ का सम्बन्ध तो रहता ही है।[1] इस उदाहरण में आनन्दवर्धन ने अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि माना है।[2] स्पष्ट है आनन्दवर्धन की यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता ही मुकुलभट्ट के वाच्यार्थ की अविवक्षा है।

यहाँ मुकुलभट्ट ने स्पष्ट रूप से 'व्यङ्ग्य' शब्द का प्रयोग किया है। व्यञ्जनाशक्ति से गम्य अर्थ ही व्यङ्ग्य या व्यङ्ग्यार्थ है। ध्वनि का स्पष्ट शब्दों से लक्षणा में अन्तर्भाव दर्शाते हुए भी इन्होंने 'व्यङ्ग्य' शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुतः इस प्रसङ्ग पर चर्चा आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को आधार बनाकर ही की गई है। सम्भवतः इसी कारण मुकुलभट्ट उन्हीं की भाषा का प्रयोग कर गये हैं। आनन्दवर्धन ने भी 'व्यङ्ग्यधर्मान्तर' पद का प्रयोग किया है।[3] इस प्रकार 'व्यञ्जना' को न मानते हुए भी मुकुलभट्ट अपने विचारों को व्यङ्ग्यार्थ से मुक्त नहीं कर पाए हैं। जिसे व्यञ्जनावादियों ने व्यङ्ग्यार्थ कहा है उससे ये भली-भाँति परिचित थे किन्तु इसकी प्रतीति हेतु 'व्यञ्जना' नाम की पृथक् शब्दशक्ति को नहीं मानना चाहते थे।

मुकुलभट्ट की लक्षणा भी अभिधा का ही एक अङ्ग है। इस प्रकार वह भी अभिधा से पृथक् शब्द की शक्ति नहीं है किन्तु क्रियायोगनिबन्धना लक्षणा में वाच्यार्थ की स्थिति बताते हुए इन्होंने लक्षणा के लिए 'शब्दशक्त्यन्तर' पद का प्रयोग किया है।[4]

इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि मुकुलभट्ट ने लक्षणा को अर्थव्यापार माना है। यद्यपि लक्ष्यार्थबोध में शब्द का भी ज्ञान रहता है तथापि वह लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से

---

1. अत्र हि रामशब्दवाच्यं दाशरथिरूपं व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतत्वात् स्वपरत्वेनानुपात्तम्, तस्मादविवक्षितम्, नत्वत्यन्तं तिरस्कृतम्, व्यङ्ग्यधर्मद्वारेण वाक्यार्थे कथञ्चिदन्वितत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० 63)
2. तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा-
'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाकाघनाः - - - - ।(ध्व०, द्वि० उ०, पृ० 5)।
3. अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम्। (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० 10)
4. यत्र तु निमित्तसद्भावाद् वाच्येऽर्थे विवक्षित एव तस्यार्थान्तरस्य शब्दशक्त्यन्तरमूलतया- - - ।(अ० वृ० मा०, पृ० 65-66) ।

ही प्रतीत होता है। क्रियायोगनिबन्धना लक्षणा में शब्दगत अवयवों की शक्ति का भी ग्रहण होता है। अत: वहाँ लक्ष्यमाण अर्थ की शब्दशक्तिमूलता रहती है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट ने ध्वनिसिद्धान्त, व्यञ्जनाशक्ति, व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता से परिचित होते हुए भी अभिधा में ही समस्त ध्वनिप्रपञ्च का समावेश कर लिया है। व्यङ्ग्यार्थ को भी लक्ष्यार्थ ही कहा है तथा इसके बोधन के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं मानी, इसका बोध भी अभिधा के लक्षणा वाले भेद से ही हो जाता है।

अन्ततः इन्होंने पारमार्थिक स्तर पर एकमात्र शब्द की ही सत्ता मानते हुए अभिधा के दस भेदों को भी असम्भव बताया है। किसी भी प्रकार के विषय-विभाग की स्थिति के पूर्व शब्दतत्त्व जब रज्जुसर्प की भाँति शब्द, अर्थ, और उसके सम्बन्ध रूप तीन विवर्तों को प्राप्त होता है तभी अभिधा के दस भेद दृष्टिगोचर होते हैं। इसके विपरीत जब अविभक्त रूप में वह समस्त क्रम-भेदों को अपने में समाहित कर लेता है तब उस स्थिति में अभिधा के दस भेदों को भी अवकाश नहीं रहता।[2]

'विवर्तवाद' अद्वैत वेदान्त का पारिभाषिक शब्द है। विवर्त का अर्थ है अपने स्वरूप का परित्याग किये विना ही अपने से भिन्न रूप को प्रदर्शित करना। जैसे अंधकार में रज्जु को देखकर सर्प का भ्रम होने पर व्यक्ति तदनुसार ही व्यवहार करने लगता है। वस्तुतः रज्जु के विवर्त सर्प की रज्जु से पृथक् अपनी कोई सत्ता नहीं होती। आकाशादि समस्त जगत् ब्रह्म की माया शक्ति से भाषित होने वाले तथा ब्रह्म का विवर्त हैं। ब्रह्म का विवर्त होने से जगत् की अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं होती।

मुकुलभट्ट के अनुसार शब्द तत्त्व प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमिति इन चार रूपों में आकर वाच्य-वाचक तथा उसके सम्बन्ध के सम्पूर्ण प्रपञ्च को अपनाता हुआ रज्जु-सर्प के समान उसमें विवर्तित होता है। पारमार्थिक स्तर पर इस विवर्त की कोई सत्ता नहीं होती।

1. क्रियायोगनिबन्धनायां तु लक्षणायां शब्दगतावयवशक्त्यनुसरणे शब्दशक्तिमूलता लक्ष्यमाणस्यार्थस्य। (अ० वृ० मा०, पृ० 65)।
2. (क) इदानीं 'सकलशब्दाविभागात्मकस्य शब्दतत्त्वस्य यदा शब्दार्थसम्बन्धत्रितयरूपतया रज्जुसर्पतया विवर्त्तमानत्वं तदैतदभिधावृत्तं दशविधव्यवहारोपारोहितयोपपद्यते, - - -। (अ० वृ० मा०, पृ० 69)।
(ख) विवर्त्तमानं वाक्तत्त्वं दशधैवं विलोक्यते।
संहृतक्रमभेदे तु तस्मिंस्तेषां कुतो गतिः।। (अ० वृ० मा०, पृ० 69)।

यहाँ मुकुलभट्ट आचार्य भर्तृहरि के 'शब्दब्रह्म' से प्रभावित हो गये हैं जिन्होंने शब्द को ब्रह्म स्वरूप माना है तथा अर्थ को उसका विवर्त-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।

(वा० प०, ब्र० का०, पृ० 1)।

मुकुभट्ट के शिष्य प्रतीहारेन्दुराज की प्रसिद्धि उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' पर 'लघुवृत्ति' नामक टीका के रचयिता के रूप में है। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में केवल अलङ्कारों का ही वर्णन है किन्तु 'लघुवृत्ति' के अन्त में प्रतीहारेन्दुराज ने अपने ध्वनि-विरोधी विचार भी प्रस्तुत किये हैं। इनके अनुसार उद्भट भी ध्वनि-सिद्धान्त से परिचित थे किन्तु उस ध्वनि का अलङ्कारों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण उन्होंने इसकी चर्चा नहीं की है।[1]

अलङ्कारों की व्याख्या करके अन्त में प्रतीहारेन्दुराज की ध्वनि-विरोधी चर्चा अप्रासङ्गिक ही प्रतीत होती है। सम्भवतः मुकुलभट्ट एवं उनके शिष्य में परस्पर ध्वनि-विरोधी चर्चा भी अवश्य हुई होगी। इसी के परिणामस्वरूप प्रतीहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति में प्रसङ्ग न होते हुए भी ध्वनि-चर्चा करके उसका विरोध किया है। जिस ध्वनि को मुकुलभट्ट लक्षणा में अन्तर्भूत मानते हैं उसका अन्तर्भाव इन्होंने अलङ्कारों में, विशेषकर पर्यायोक्त अलङ्कार में ही मान लिया है।

प्रतीहारेन्दुराज ने ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त अलङ्कार में किस प्रकार किया है यह प्रस्तुत प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है।

मुख्य रूप से ध्वनि के वस्तु, अलङ्कार एवं रस रूप जो तीन भेद होते हैं उसका अन्तर्भाव पर्यायोक्त अलङ्कार में ही हो जाता है। प्रतीहारेन्दुराज ने वस्तुध्वनि का उदाहरण दिया है-

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासबंध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्।।[2]

---

1. ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिनः प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वलङ्कारेष्वन्तर्भावात्। तथाहि। (काव्या० ल० वृ०, पृ० 418)।

2. प्रतीयमानैकरूपस्य वस्तुनस्त्रैविध्यं तैरुक्तं वस्तुमात्रालङ्काररसादिभेदेन । तत्र वस्तुमात्रं तावत्प्रतीयते। यथा-
चक्राभिघात - - - । (काव्या० ल० वृ०, पृ० 418)।

उद्भट ने पर्यायोक्त अलङ्कार का जो लक्षण दिया है उसके अनुसार जहाँ वाच्य तथा वाचक व्यापार से रहित अवगमात्मक व्यापार के द्वारा किसी वस्तु का कथन अन्य रूप से किया जाता है वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। इस प्रकार पर्यायोक्त में व्यङ्ग्य की सत्ता रहती है।[1]

प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में वस्तु व्यङ्ग्य की प्रधानता है और प्रधानता होते हुए भी यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार है। यद्यपि प्रधान होने के कारण वस्तु-व्यङ्ग्य यहाँ अलङ्कार्य होना चाहिए उसे अलङ्कार नहीं कहा जा सकता, किन्तु इस विषय में प्रतीहारेन्दुराज का यह तर्क है कि अप्रधान ही सदा प्रधान को अलङ्कृत करे यह आवश्यक नहीं है। कभी-कभी प्रधान भी अप्रधान के सौन्दर्य का कारण होने से अलङ्कार बन जाता है।[2] अतः पर्यायोक्त अलङ्कार में वस्तु व्यङ्ग्य की प्रधानता होते हुए भी उसकी अलङ्कारता नष्ट नहीं होती।

आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त उदाहरण में पर्यायोक्त अलङ्कार की प्रधानता मानी है। कभी-कभी रस में तात्पर्य होते हुए भी अलङ्कार की प्रधान रूप से सत्ता रहती है। **'चक्राभिघात- - -'** इत्यादि उदाहरण में रस का ही तात्पर्य है किन्तु इसमें पर्यायोक्त ही अङ्गीरूप में विवक्षित है।[3]

वस्तुध्वनि की भाँति अलङ्कारध्वनि का भी अन्तर्भाव अलङ्कार में ही हो जाता है-

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः।।

इस उदाहरण में रूपक अलङ्कार की प्रतीति व्यङ्ग्य अर्थात् प्रतीयमान रूप से है। प्रतीयमान होने के कारण यहाँ रूपक ध्वनि होना चाहिए, किन्तु प्रतीहारेन्दुराज

1. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।। (काव्या० सा० सं०, पृ० 35) ।

2. तच्चेह प्रतीयमानं प्रधानत्वादलङ्कार्यतया वक्तुं युक्तं, नत्वलङ्कृतिकारणतया । अतः कथं तस्यालङ्कारव्यपदेशः। उच्यते। प्रधानमपि गुणानां सौन्दर्यहेतुत्वादलङ्कृतौ साधनत्वं भजति। (काव्या० ल० वृ०, पृ० 419-420) ।

3. कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि ह्यलङ्कारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते। यथा-
चकाभिघात- - - - ।
अत्र ही पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० 139) ।

यहाँ रूपक अलङ्कार ही मानते हैं । इनके अनुसार यहाँ रूपक अलङ्कार प्रकारान्तर से उपस्थापित किया गया है। अतः यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार भी माना जा सकता है। इसी प्रकार अन्य अलङ्कारध्वनि का अन्तर्भाव भी अलङ्कार में ही हो जाता है।[1]

'लावण्यकान्ति- - -' इत्यादि पद्य को आनन्दवर्धन ने रूपकध्वनि के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया था। इसमें रूपक अलङ्कार के आश्रय से ही काव्य में चारुत्व की व्यवस्था है, अतः यहाँ रूपक ध्वनि है।[2]

प्रतीहारेन्दुराज ने रसादि ध्वनि का अन्तर्भाव भी अलङ्कारों में ही दर्शाया है। उद्भट ने रसवदादि को अलङ्कार ही माना है। भावध्वनि, रसाभास, भावाभास तथा भावप्रशम नामक ध्वनियों का अन्तर्भावः क्रमशः रसवत् प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वित् तथा समाहित नामक अलङ्कारों में हो जाता है। रस के अप्रधान होने की दशा में उसका अन्तर्भाव उदात्त अलङ्कार में ही हो जाता है।[3]

इस प्रकार तीनों प्रकार की ध्वनियों का अन्तर्भाव प्रतीहारेन्दुराज ने अलङ्कारों में ही दर्शाते हुए उनसे भिन्न ध्वनि के अस्तित्व को अस्वीकार किया है।

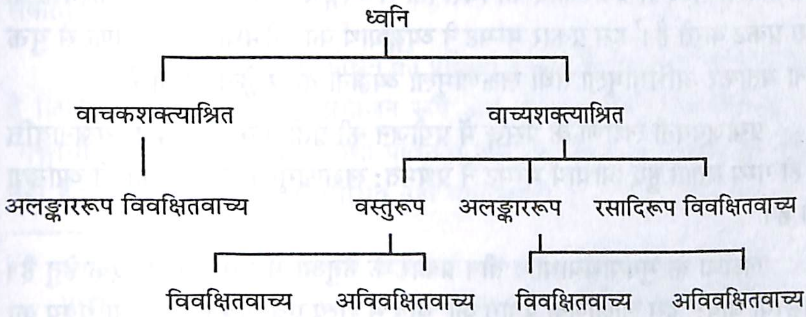
प्रतीहारेन्दुराज ने यद्यपि ध्वनि का विरोध किया है तथापि इन्होंने अपने ढङ्ग से ध्वनि-भेदों का निरूपण भी किया है-

वाचक शक्ति का आश्रय लेने वाले अलङ्कार में वाच्य विवक्षित होता है। वाच्यशक्ति के आश्रित वस्तु एवं अलङ्कार में वाच्य विवक्षित तथा अविवक्षित दोनों ही रहता है। जहाँ शब्दशक्तिमूलक रस विषय होता है वहाँ वाच्य विवक्षित रहता है। इस प्रकार वाच्य की विवक्षा-अविवक्षा की दृष्टि से ध्वनि के छः भेद होते है।[4]

1. न च यस्यालङ्कारस्य प्रतीयमानरूपता तस्येहालङ्कारत्वं केनचिन्निवारितमिति प्रतीयमानरूपतया रूपकाख्योऽलङ्कारो भविष्यति। अथवा पर्यायोक्तया रूपकस्यात्रावसितत्वात् पर्यायोक्तमलङ्कारः। (काव्या० ल० वृ०, पृ० 422) ।
2. यथा वा ममैव -
   लावण्यकान्तिपूरि---------
   इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद्रूपकध्वनिरितिव्यपदेशो न्याय्यः। (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० 235) ।
3. यत्रापि भावास्तथा रसभावाभासा रसभावतदाभासप्रशमाश्च प्रतीयमानास्तत्रापि यथाक्रमं प्रेयस्वदूर्जस्वित्समाहितलक्षणालङ्कारयोगो वाच्यः। एवमेतत्प्रधानभूतेषु रसादीषूक्तम्। गुणभूतेष्वपि च रसेषूदात्तालङ्कारः प्रतिपादितः- - - - । (काव्या० ल० वृ०, पृ० 425)।
4. एवं च त्रिविधेऽपि प्रतीयमानेऽर्थे यच्छब्दानां व्यञ्जकत्वमनन्तरोपवर्णितेषूदाहरणेषु षट्प्रकारतयोपदर्शितं तस्योक्तेष्वलङ्कारेष्वन्तर्भावात् व्याप्तिः षट् प्रकारता - - - । (काव्या० ल० वृ०, पृ० 425) ।

1. वाचकशक्त्याश्रित विवक्षितवाच्य अलङ्कार रूप
2. वाच्यशक्त्याश्रित विवक्षित वाच्य वस्तु रूप
3. वाच्यशक्त्याश्रित अविवक्षित वाच्य वस्तु रूप
4. वाच्यशक्त्याश्रित विवक्षित वाच्य अलङ्कार रूप
5. वाच्यशक्त्याश्रित अविवक्षित वाच्य अलङ्कार रूप
6. वाच्य शक्त्याश्रित विवक्षितवाच्य रसादि रूप[1] (चित्र संख्या 9)।

इनमें चार प्रकार के विवक्षित वाच्य रूप भेदों के स्वतः सम्भावी तथा कविप्रतिभानिर्मित रूप से आठ प्रकार हो जाते हैं। इनमें अविवक्षित वाच्य रूप में दो भेदों को मिलाकर कुल दस भेद होते हैं। ये ही कभी पदप्रकाश्य होते हैं और कभी वाक्यप्रकाश्य। अतः इस दृष्टि से ध्वनि के कुल 20 भेद होते हैं।[2]



चित्र संख्या 9 : प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार ध्वनि के भेद ।

1. (क) द्विविधं व्यञ्जकत्वम् – वाचकशक्त्याश्रयं वाच्यशक्त्याश्रयञ्च ।(काव्या० ल० वृ०, पृ० 426) ।
(ख) तत्र वाचकशक्त्याश्रयमलङ्काराणामेव व्यङ्ग्यत्वादेकप्रकारम्। तत्र ह्यलङ्कारा एव व्यज्यन्ते न तु वस्तुमात्रं नापि रसादयः ।(काव्या० ल० वृ०, पृ० 426) ।
(ग) वाच्यशक्त्याश्रयं तु रसादिवस्तुमात्रालङ्काराभिव्यक्तिहेतुत्वात् त्रिविधम् – – – –।(काव्या० ल० वृ०, पृ० 426) ।
(घ) तदेवं वाचकशक्तिमूलेऽलङ्कारैकनियते वाच्यशक्तिमूले च रसादिविषये व्यञ्जकत्वे वाच्यस्य विवक्षितत्वैकरूपत्वम्। वस्त्वलङ्कारविषये तु वाच्यशक्तिमूले व्यञ्जकत्वे प्रत्येकं वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षित्वाभ्यां द्विभेदता।(काव्या० ल० वृ०, पृ० 431) ।
2. एतेषां च षण्णां भेदानां मध्याद्द्वयोर्भेदयोर्वाच्यस्याविवक्षोक्ता चतुर्षु विवक्षितत्वम् । यत्र च विवक्षितत्वं तत्र वाच्यस्य स्वतः संभवित्वात्प्रौढोक्तिमात्रनिष्पादितशरीरत्वाच्च द्वैविध्यम्। अतस्तत्र

मम्मट के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति-विवेचन

शब्द की एक शक्ति के रूप में व्यञ्जना का व्यवस्थित रूप से विवेचन आचार्य मम्मट के ग्रन्थों में ही मिलता है। यद्यपि इन्होंने व्यञ्जना- शक्ति की कोई परिभाषा नहीं दी है किन्तु इसके विभिन्न भेदों की सविस्तार चर्चा की है। 'काव्यप्रकाश' में शाब्दी तथा आर्थी व्यञ्जना का वर्णन है। जिनमें शाब्दी व्यञ्जना के लक्षणामूलक तथा अभिधामूलक दो भेद होते हैं।

मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' में 'काव्यप्रकाश' की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ का सामान्य किन्तु स्पष्ट विवेचन किया है। जिस प्रकार सङ्केत एवं मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय की सहायता से शब्द को अभिधायक और लक्षक कहा जाता है और वही शब्द पक्षधर्मता एवं अन्वयव्यतिरेक के सहयोग से वक्ता की विवक्षा का अनुमापक भी कहलाता है। उसी प्रकार प्रज्ञानैर्मल्य, वैदग्ध्य तथा प्रकरणादि की विशेषता से युक्त शब्द का एक अन्य अर्थ भी होता है जो व्यङ्ग्य अर्थ कहलाता है। अर्थात् वाचक तथा लक्षक शब्द ही प्रकरणादि की विशेषता से व्यङ्ग्य अर्थ को भी व्यञ्जनाशक्ति के द्वारा प्रकट करते हैं।[1] इस प्रकार मम्मट ने व्यङ्ग्यार्थ का अभिधा तथा लक्षणा से युक्त होना बताकर अभिधामूला तथा लक्षणामूला व्यञ्जना का सङ्केत किया है।

प्रयोजनवती लक्षणा के प्रसङ्ग में प्रयोजन की प्रतीति को एकमात्र व्यञ्जनावृत्ति से ही गम्य बताते हुए आचार्य मम्मट ने प्रथमतः लक्षणामूला व्यञ्जना की ही व्याख्या की है।

लक्षणा के मुख्यार्थबाधादि तीन प्रकार के हेतुओं में प्रयोजन भी एक हेतु है। 'गङ्गायां घोषः' इस लाक्षणिक प्रयोग का घोष में शैत्य एवं पावनत्व के आधिक्य का प्रतिपादन ही प्रयोजन है। इस प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना नामक व्यापार से ही हो

तस्याष्टौ भेदा भवन्ति। एते चाष्टौ भेदा वाच्यस्य यत्राविवक्षा तद्विषयाभ्यां पूर्वोदिताभ्यां द्वाभ्यां भेदाभ्यां सङ्कलिताः सन्तो दश संपद्यन्ते। एत एव तु पदवाक्यप्रकाश्यतया द्वैगुण्यं भजमाना विंशतिर्भवन्ति.........। (काव्या० ल० वृ०, पृ० 431) ।

1. यथा सङ्केतेन मुख्यार्थबाधादित्रितयेन च सहायेनाभिधायको लक्षकश्च, यथा वा पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकसहगतो विवक्षया अनुमापकः तथा प्रतिभानैर्मल्यविदग्धपरिचयप्रकरणादिज्ञानसापेक्षो वाचको लक्षकश्च व्यङ्ग्यमर्थं ध्वनिशब्दो व्यनक्ति।
प्रज्ञानैर्मल्यवैदग्ध्यप्रस्तावादिविधायुजः।
अभिधालक्षणायोगी व्यङ्ग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः।। (श० व्या० वि०, पृ० 33) ।

सकती है जिसे ध्वनन, अवगमन, प्रकाशन, द्योतन आदि शब्दों से कहा जा सकता है।[1]

लक्षणाओं में प्रयोजन की प्रतीति शब्द प्रमाण से ही होती है। शब्द प्रमाण से बोधित होने वाले अर्थ में न तो प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति होती है और न ही अनुमान की क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है। इसके अतिरिक्त उसमें न ही कोई दूसरा अनुमान माना जा सकता है क्योंकि उससे अनवस्था दोष हो जाएगा। यहाँ स्मृति भी नही हो सकती[2] क्योंकि ज्ञात विषय को ही स्मृति कहते हैं[3] और प्रयोजन का अनुभव पहले से तो हुआ नहीं रहता। यदि किसी भी प्रकार से यहाँ स्मृति को स्वीकार कर भी लिया जाये तब भी यह सम्भव नहीं कि प्रयोजन रूप अर्थ नियत रूप से स्मृति का विषय बने।[4] इस प्रकार प्रयोजन की प्रतीति को शब्द प्रमाण से ही मानना होगा। कोई भी शब्द अर्थ की प्रतीति किसी न किसी व्यापार से ही कराता है।[5] इस प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति अभिधा एवं लक्षणा नामक शब्द व्यापार से नहीं हो सकती।

अभिधा व्यापार से अर्थ बोधन की प्रक्रिया में शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है जिसमें उसका सङ्केत हो। प्रयोजन रूप अर्थ में शब्द का सङ्केत नहीं रहता।[6] 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में शैत्य तथा पावनत्व रूप प्रयोजन में गङ्गा शब्द का सङ्केत नहीं है। अतः इसे अभिधा से बोधित नहीं मान सकते ।

---

1. (क) सप्रयोजनायां च लक्षणायां तदतिरिक्तो व्यापारोऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्यः। तथा च, सति प्रयोजने लक्षणा,- - -- । ततः प्रयोजनविषयो व्यापारोऽभ्युपगन्तव्यः। स च ध्वननावगमनप्रकाशनद्योतनादिशब्दव्यवहार्यः। (श० व्या० वि०, पृ० 18) ।
   (ख) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।।
   फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया। (का० प्र०, पृ० 81) ।
2. न खलु शाब्देऽर्थे प्रत्यक्षं क्रमते, नापि तत्पूर्वकमनुमानम्। नानुमानान्तरम्, अनवस्थापत्तेः । न स्मृतिः, तदनुभवाभावात् (श० व्या० वि०, पृ० 18) ।
3. ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः (त० भा०, पृ० 13) ।
4. सत्यामपि वा तस्यां नियतस्मरणं न स्यात्। (श० व्या० वि०, पृ० 18) ।
5. तस्माच्छब्द एव तत्र प्रमाणम्। निर्व्यापारश्च शब्दो नार्थप्रतीतिकृत्। (श० व्या० वि०, पृ० 18) ।
6. (क) व्यापारश्च नाभिधा, तत्र सङ्केताभावात्। (श० व्या० वि०, पृ० 18) ।
   (ख) नाभिधा समयाभावात्। गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः। (का० प्र०, द्वि उ०, पृ० 82)।

यहाँ लक्षणा भी नही हो सकती क्योंकि प्रयोजन तो स्वयं लक्षणा का हेतु है, उसी के होने पर लक्षणा होती है।[1] प्रयोजन लक्षणा का विषय नहीं होता। यदि प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा से मानी जाये तो यहाँ उसके तीनों हेतुओं में से एक भी नहीं उपस्थित होगा।[2] उदाहरणस्वरूप 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा के मुख्यार्थ जल-प्रवाह तथा घोष में आधाराधेय सम्बन्ध का बाध होने पर लक्षणा से गङ्गा का 'तट' अर्थ बोधित होता है। यहाँ तट रूप लक्ष्यार्थ, मुख्यार्थ गङ्गा से सामीप्य सम्बन्ध से सम्बन्धित है तथा इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग का प्रयोजन है तट में शैत्य एवं पावनत्व की प्रतीति कराना। किन्तु यदि प्रयोजन को लक्ष्य माना जाये तब गङ्गा का मुख्यार्थ 'तट' को मानना होगा किन्तु ऐसा मानने पर मुख्यार्थ का बाध नही होगा, क्योंकि तट का घोष के साथ आधाराधेय सम्बन्ध अनुपपन्न नहीं है। यहाँ मुख्यार्थ से सम्बन्ध रूप लक्षणा का दूसरा हेतु भी घटित नहीं होता क्योंकि शैत्य और पावनत्व का तट से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध तो गङ्गा-प्रवाह से है। इसके अतिरिक्त प्रयोजन की प्रतीति में लक्षणा मानने पर उसके लिए एक अन्य प्रयोजन मानना होगा तथा उसके लिए भी लक्षणा मानते हुए अनन्त लक्षणा की कल्पना करनी होगी जिससे अनवस्था दोष हो जाएगा। इस प्रकार लक्षणा के तीनों हेतु के अनुपस्थित होने से प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा से भिन्न किसी अन्य व्यापार से ही होती है यह मानना ही होगा। इसी अन्य व्यापार को व्यञ्जना कहते हैं।[3]

'गङ्गातटे घोषः' कहने पर अभिधा से जिस प्रकार के अर्थ की प्रतीति नहीं होती वैसे अर्थ की प्रतीति कराने के लिए ही 'गङ्गायां घोषः' यह लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है, यही प्रयोजन है। यहाँ पर कहा जा सकता है कि प्रयोजन से विशिष्ट अर्थ में लक्षणा मान लेने पर उस प्रयोजन की प्रतीति के लिए अन्य व्यापार की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि शैत्य एवं पावनत्वादि धर्मों से विशिष्ट तट में ही लक्षणा मान ली जानी चाहिए।[4] अविशिष्ट में लक्षणा होने पर तट एवं

---

1. न लक्षणा, तस्मिन् सति हि सा, न तु तद्विषयता। (श० व्या० वि०, पृ० 18) ।
2. हेत्वभावान्न लक्षणा। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 83) ।
3. (क) नाप्यस्या लक्ष्ये बाधोऽस्ति। लक्ष्यप्रयोजनयोश्च सम्बन्धस्य, प्रयोजनस्य चाभावात्। तस्यापि लक्षणेऽनवस्थापत्तिरिति न लक्षणा। (श० व्या० वि०, पृ० 18) ।
   (ख) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
   न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 83) ।
4. गङ्गातटे घोष इत्यादिस्वशब्दाद् यादृगर्थप्रतीतिर्न भवति तादृशी 'गङ्गायां घोष' इत्यादेः, तदेव प्रयोजनम्, पावनत्वादिधर्माक्रान्तं च तटादि लक्ष्यत इति विशिष्टे लक्षणा, न तु लक्षिते विशेषाः,. ......। (श० व्या० वि०, पृ० 20) ।

प्रयोजन में धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए एक चौथे व्यापार की भी कल्पना करनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त प्रयोजन तो लक्षणा से उत्पन्न होता है उसे किसी अन्य व्यापार से उत्पन्न कैसे माना जा सकता है?[1] इस प्रकार प्रयोजनविशिष्ट अर्थ की ही लक्षणा द्वारा प्रतीति माननी चाहिए।

मम्मट ने इस शङ्का का समाधान भी तर्कपूर्ण ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। इनके मतानुसार लक्षणा का विषय होता है लक्ष्य अर्थ, उसमें पावनत्वादि होते नहीं[2] जैसे उपर्युक्त उदाहरण में तटादि लक्षणा का विषय है । उसमें पावनत्व आदि धर्म नहीं होते। एकमात्र सङ्केतितार्थ का बोध कराने के कारण अभिधा सामान्यनिष्ठ ही होती है। लक्षणा भी हेतुत्रयात्मिका होती है। तीन हेतुओं के होने पर ही लक्षणा होती है अन्यथा नहीं। अतः वह भी सङ्केत से अभिन्न ही है। अर्थात् लक्षणा से जो अर्थ निकलता है वह दूसरा सङ्केत है। इस प्रकार लक्षणा भी विशिष्ट अर्थ को अपना विषय नहीं बना सकती।[3] व्यञ्जना असङ्केतित अर्थ का ही बोध कराती है[4] अतः उससे प्रयोजन रूप विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। लक्षणा का विषय लक्ष्य ही होता है, प्रयोजन नहीं। जिस प्रकार ज्ञान से उसका विषय भिन्न होता है उसी प्रकार ज्ञान से उसका फल भी भिन्न ही होता है। जैसे प्रत्यक्षादि ज्ञान का विषय नीलादि होता है तथा उसका फल प्रकटता अथवा संवित्ति होता है,[5] उसी प्रकार लक्षणा का विषय लक्ष्यार्थ होता है तथा प्रयोजन उसका फल होता है। लक्ष्यार्थ के ज्ञान को भी लक्षणा का फल कह दिया जाता है। वस्तुतः वह लक्ष्य उसका विषय ही होता है फल नहीं। लक्षणा से लक्ष्य-ज्ञान विना व्यभिचार के होता है इसीलिए उसे ही फल भी कह दिया जाता है।[6]

---

1. ......एवं हि तटादेः पावनत्वादीनां च धर्मधर्मिभावकल्पकश्चतुर्थो व्यापार उररीकर्तव्यः। लक्षणाफलं च कथमन्येन क्रियते । (श० व्या० वि०, पृ० 20) ।
2. लक्षणायास्तटादिर्विषयः। न च तत्र पावनत्वादयः सन्ति। तत्, कथं विशिष्टे लक्षणा । (श० व्या० वि०, पृ० 21)
3. सामान्यनिष्ठश्च सङ्केत इति त्रितयात्मना सङ्केतभेदेन लक्षणा सा कथं विशिष्टं गोचरीकुर्यात्। (श० व्या० वि०, पृ० 21)।
4. व्यज्यते त्वसङ्केतित एव। (श० व्या० वि०, पृ० 21) ।
5. (क) किं च लक्षणाया गोचरो लक्ष्यः, न प्रयोजनम्। प्रत्यक्षस्य हि नीलं विषयः, प्रकटता संवित्तिर्वा फलम्। (श० व्या० वि०, पृ० 21) ।

   (ख) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् । (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 86) ।
6. अव्यभिचाराच्च लक्ष्यसंवित् फलत्वेनोक्ता,.......। (श० व्या० वि०, पृ० 21) ।

इस प्रसङ्ग में आचार्य मम्मट ने प्रत्यक्ष ज्ञान के फल को प्रकटता अथवा संवित्ति कहा है। इन्द्रिय के प्रति उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं [1] जो कि इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है।[2] अध्वरमीमांसकों के अनुसार इस प्रत्यक्ष ज्ञान का फल होता है प्रकटता अथवा ज्ञातता। 'अयं घट:' इस प्रकार के प्रत्यक्ष से घट-ज्ञान हो जाने के अनन्तर 'ज्ञातो घट:' या 'मया घटो ज्ञात:' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इससे पूर्व उस ज्ञान द्वारा घट में ज्ञातता अथवा प्रकटता उत्पन्न हो जाती है।[3]

नैयायिकों के अनुसार घट के प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात् 'घटमहं जानामि' यह प्रतीति होती है जिसे संवित्ति अथवा अनुव्यवसाय कहा जाता है।[4] इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार प्रकटता मानें अथवा नैयायिकों के अनुसार संवित्ति दोनों के ही अनुसार ज्ञान का विषय एवं फल भिन्न-भिन्न ही होता है। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने कुमारिलभट्ट के मत में प्रकटता को ज्ञान का फल कहा है तथा संवित्ति को प्रभाकर का मत माना है। इनके अनुसार प्रकटता वस्तु का धर्म है तथा संवित्ति आत्मा का।[5]

वाचक शब्द का फल भी ज्ञान ही होता है और वह फल भी विना किसी व्यापार के नहीं हो सकता अत: उसके लिए किसी व्यापार की कल्पना करनी ही पड़ती है।[6] फल की प्रतीति कराने वाला व्यापार शब्द में ही रहता है किसी दूसरे व्यापार में नहीं। अत: व्यापार का आश्रय शब्द ही सिद्ध होता है।[7]

फल अथवा प्रयोजन को तथा उसके जनक व्यञ्जनाव्यापार को भी मम्मट

---

1. साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। (त० भा०, पृ० 51) ।
2. इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानमित्यर्थ: (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 61) ।
3. घटज्ञानानन्तरं 'ज्ञातो घट:' इति प्रत्ययात् तज्ज्ञानेन तस्मिन् घटे ज्ञाततापरनाम्नी प्रकटता जायते, इति अध्वरमीमांसकमीमांसा। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 61) ।
4. सति च घटज्ञाने 'घटमहं जानामि' इति प्रत्ययरूपा, अनुव्यवसायापरपर्याया संवित्तिर्घटज्ञानात् जायते, इति तार्किकतर्क:। एवं च ज्ञातृधर्म: संवित्तिस्तार्किकै: प्रत्यक्षादिज्ञानस्य फलमित्युच्यत इति भाव:। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 62)।
5. प्रकटत्वं भट्टमते। संवित्ति: प्रभाकरे। प्रकटत्वं वस्तुनो धर्म: संवित्तिस्तु आत्मन:। (का० प्र०, 16. टीकाओं सहित, सङ्केत, पृ० 361) ।
6. शब्दस्य च वाचकस्य संविदेव फलम्। तच्च विना व्यापारान्न सम्भवति। (श० व्या० वि०, पृ० 21) ।
7. न च व्यापारस्य व्यापार इति शब्दस्यैवासौ वाच्य:। (श० व्या० वि०, पृ० 21) ।

लक्षणा का ही कार्य कहते हैं क्योंकि लक्षणा के होने पर ही वह होता है तथा न होने पर नहीं होता । कार्य को ही फल कहा जाता है।[1] यद्यपि यह फल व्यञ्जनाशक्ति से उत्पन्न होता है किन्तु उसे लक्षणा का भी फल कह दिया जाता है। जिस प्रकार अदृष्ट आदि से प्राप्त स्वार्गादि की प्राप्ति को यज्ञ का फल कह दिया जाता है उसी प्रकार शैत्य एवं पावनत्वादि धर्मों का ज्ञान व्यञ्जना से होता है इस कारण वह व्यञ्जना का फल है तथापि उसे लक्षणा का भी फल मान लिया जाता है।[2]

इसके अतिरिक्त मम्मट ने यह भी स्पष्ट किया है कि लक्षणा द्वारा जो ज्ञान होता है उसके विषय (तट) तथा उसके फल (शैत्य एवं पावनत्व) में धर्मधर्मिभाव सिद्ध करने के लिए किसी अन्य व्यापार को मानने की भी आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नील गुण होता है और उसका फल जो ज्ञान है वह भी उसी नील विषय में उत्पन्न होता है, इसी प्रकार लक्षणा का फल भी लक्षणा के विषय में ही होता है। इस कारण से धर्मधर्मिभाव की सिद्धि कराने वाले व्यापारान्तर की कल्पना करने की अवश्यकता नहीं होगी।[3]

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने लक्षणा में प्रयोजन की प्रतीति में अभिधा तथा लक्षणाशक्ति को असमर्थ बताते हुए व्यञ्जनाशक्ति की तार्किक स्थापना की है। ऐसा नहीं है कि व्यञ्जनाशक्ति की आवश्यकता मात्र लक्षणा के क्षेत्र में प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए ही है। इसका क्षेत्र तो अत्यन्त विस्तृत है। लक्षणा के क्षेत्र में जो व्यञ्जना प्रवृत्त होती है वह व्यञ्जना का एक भेद है जिसे लक्षणामूला व्यञ्जना कहते हैं।

मम्मट ने लक्षणामूला व्यञ्जना का उदाहरण दिया है-

रविणा हृतसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निश्श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।।

इसमें 'अत्यधिक कान्तिहीनता' का प्रतिपादन ही लक्षणा का प्रयोजन है जिसकी प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति से ही होती है।[4]

1. लक्षणान्वयव्यतिरेकानुविधानं च सव्यापारस्य फलस्येति तस्याः तत् कार्यम्, कार्यं च फलमुच्यते। (श० व्या० वि०, पृ० 22)।
2. क्रियान्तरप्राप्तस्य यागफलत्वमिव व्यञ्जनाशक्तिनिर्वर्त्यस्य प्रयोजनस्य लक्षणाफलत्वम्। (श० व्या० वि०, पृ० 22) ।
3. नीलविषयस्य प्रमाणस्य यथा नीलनिष्ठैव प्रकटता संविद् वा फलं तद्वल्लक्षणायास्तद्विषयनिष्ठमेव प्रयोजनम्। तेन धर्मधर्मिभावकल्पकं नोपयुज्यते व्यापारान्तरम्। (श० व्या० वि०, पृ० 22) ।
4. लक्षणामूलं यथा- 'निश्श्वासान्ध इवादर्श' इत्युदाहृतम्। (श० व्या० वि०, पृ० 34) । इत्यादावन्धादिशब्देषु अनुपपद्यमानत्वाद् वाच्यमत्यन्ततिरस्कृतम् इति विच्छायत्वस्य लक्षितस्यासामान्यत्वं व्यङ्ग्यम्। (श० व्या० वि०, पृ० 24) ।

जिस प्रकार लाक्षणिक शब्द व्यञ्जना द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं उसी प्रकार वाचक शब्दों से भी व्यञ्जना द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। इसी दृष्टि से आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना के अभिधामूला एवं लक्षणामूला भेद किये हैं। 'शब्दव्यापारविचार' में लक्षणामूला व्यञ्जना की विस्तृत विवेचना की गई है किन्तु अभिधामूला व्यञ्जना के दो उदाहरण मात्र दिये हैं।

अभिधामूला, लक्षणामूला तथा आर्थी व्यञ्जना की विस्तृत व्याख्या 'काव्यप्रकाश' में प्राप्त होती है। इनमें अभिधामूला तथा लक्षणामूला व्यञ्जनाएँ शाब्दी व्यञ्जना हैं किन्तु आचार्य मम्मट ने कहीं भी इन्हें शब्दतः 'शाब्दी व्यञ्जना' नहीं कहा है। व्यञ्जना के शाब्दी अथवा आर्थी होने का कारण उसका 'शब्दपरिवृत्त्यसहत्व' तथा 'शब्दपरिवृत्तिसहत्व' ही है। यही सिद्धान्त शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार शब्ददोष तथा अर्थदोष की शब्दगतता एवं अर्थगतता में भी घटित होता है।

अभिधामूला व्यञ्जना में व्यञ्जक शब्द के स्थान पर उसके पर्याय का प्रयोग करने पर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती यही शब्दपरिवृत्त्यसहत्व है। इसी कारण इसे शाब्दी माना गया है।

लक्षणामूला व्यञ्जना आपाततः आर्थी ही प्रतीत होती है क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' जैसे लाक्षणिक प्रयोग में 'गङ्गा' के स्थान पर 'भागीरथ्याम्' इस पर्याय शब्द को रख देने पर भी लक्षणा की स्थिति रहेगी ही, अतः यहाँ शब्दपरिवृत्त्यसहत्व नहीं है। इसका समाधान करते हुए 'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों ने लिखा है कि लक्षणामूला व्यञ्जना भी शाब्दी ही है क्योंकि उपर्युक्त उदाहरण में 'गङ्गा' शब्द का पर्याय 'भागीरथी' वाचक शब्द का परिवर्तन है न कि लाक्षणिक शब्द का । 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा पद का वाच्यार्थ जलप्रवाह है तथा लक्ष्यार्थ तट है। यदि लाक्षणिक शब्द का पर्याय रखने पर भी लक्षणा यथावत् रहे तब उस स्थल पर प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में शाब्दी व्यञ्जना नहीं मानी जा सकती । किन्तु यहाँ वाचक गङ्गा शब्द का परिवृत्तिसहत्व होते हुए भी लाक्षणिक शब्द का परिवृत्त्यसहत्व है ही, अतः यहाँ शाब्दी व्यञ्जना है। अर्थात् 'गङ्गायां घोषः' कहने पर ही तट में शैत्य एवं पावनत्व की प्रतीति होगी 'गङ्गा तटे घोषः' कहने पर नहीं।[1]

1. अभिधामूलव्यञ्जनावत् लक्षणामूलव्यञ्जनापि शब्दपरिवृत्त्यसहा। गङ्गादिशब्दपरिवृत्तिसहत्वेऽपि लाक्षणिकगङ्गादिशब्दपरिवृत्त्यसहत्वात्। 'गङ्गायां घोषः' इत्यस्मादेव तीरे शैत्यपावनत्वादिकं प्रतीयते । न तु 'गङ्गातीरे घोषः' इत्यादिवाचकशब्दघटितवाक्यात्। एतदेवोक्तं मूले 'गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगात्' इत्यादि 'गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ' इत्यादि च। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 70) ।

'काव्यप्रकाश' में वर्णित अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना

कभी-कभी किसी शब्द के दो या उससे अधिक अर्थ होते हैं। ऐसे शब्द अनेकार्थक कहलाते हैं। इन अनेकार्थक शब्दों में वक्ता के तात्पर्य के अनुसार संयोग इत्यादि के द्वारा नियन्त्रित होकर अभिधा किसी एक अर्थ का ही बोध कराती है। अभिधा के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर अन्य अर्थों की प्रतीति व्यञ्जनाव्यापार से ही होती है। इसे ही अभिधामूला व्यञ्जना कहते हैं।[1]

मम्मट ने संयोगादि चौदह अभिधानियामकों की व्याख्या की है जिससे अभिधा का एक अर्थ में निर्णय होता है। इसके लिए उन्होंने भर्तृहरि की कारिका उद्धृत की है-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

1. संयोग :- किसी प्रसिद्ध सम्बन्ध के आधार पर वाचकता का नियमन संयोग कहलाता हैं जैसे 'सशङ्खचक्रो हरिः' यहाँ 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी शङ्ख एवं चक्र का संयोग होने से अभिधा द्वारा 'हरि' शब्द का वाच्यार्थ 'विष्णु' होता है।

2. विप्रयोग :- प्रसिद्ध सम्बन्ध का अभाव ही विप्रयोग कहलाता है। 'अशङ्खचक्रो हरिः' वाक्य में 'हरि' शब्द विष्णु का वाचक है क्योंकि शङ्ख तथा चक्र से विष्णु का ही सम्बन्ध प्रसिद्ध है जिसका यहाँ अभाव बताया गया है।

3. साहचर्य :- साथ-साथ रहना ही साहचर्य कहलाता है। 'रामलक्ष्मणौ' में राम शब्द के परशुराम, दशरथ पुत्र राम, इत्यादि अनेक अर्थ होते हुए भी लक्ष्मण के साथ साहचर्य के कारण दशरथ-पुत्र राम का ही अभिधा से बोध होता है।

4. विरोधिता :- प्रसिद्ध वैर या सहानवस्थान ही विरोधिता है जैसे 'रामार्जुनगतिस्तयोः' में राम एवं अर्जुन का अनेक अर्थ होते हुए भी इनका वाच्यार्थ

---

1. अभिधामूलं त्वाह-
अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्। (का० प्र०, द्वि उ०, पृ० 88)।

परशुराम तथा कार्त्तवीर्य होता है क्योंकि परशुराम तथा कार्त्तवीर्य का विरोध ही इतिहास प्रसिद्ध है।

5. अर्थ :- अर्थ का तात्पर्य है प्रयोजन अर्थात् ऐसा फल जो किसी अन्य प्रकार से साध्य न हो। '**स्थाणुं भज भवच्छिदे**' वाक्य में स्थाणु के ठूँठ, शङ्कु, रुद्र, शिव आदि अनेक अर्थ होते हैं किन्तु भवबाधाहरणरूप प्रयोजन के लिए शिव का ही भजन सम्भव है। अतः 'स्थाणु' शब्द यहाँ अभिधा से शिव का बोध कराता है।

6. प्रकरण :- वक्ता तथा श्रोता की बुद्धि में किसी बात का होना ही प्रकरण है। किसी राजा को सम्बोधित करके कहे गये 'सर्वं जानाति देव' वाक्य में प्रकरणवशात् देव शब्द का अर्थ राजा ही होगा क्योंकि यही अर्थ वक्ता एवं श्रोता की बुद्धि में है। यद्यपि देव शब्द के मेघ, सुर आदि अन्य अनेक अर्थ होते हैं। अर्थ तथा प्रकरण में यही अन्तर है कि प्रकरण केवल बुद्धि में स्थित रहता है किन्तु अर्थ शब्दों द्वारा कहा जाता है।[1]

7. लिङ्ग :- संयोग से भिन्न सम्बन्ध के द्वारा पर पक्ष की व्यावृत्ति कराने वाला धर्म ही लिङ्ग है। साधारण शब्दों में इसे चिह्न अथवा पहचान कहा जा सकता है। जैसे '**कुपितो मकरध्वजः**'। यहाँ मकरध्वज का अर्थ है मकर के आकार की ध्वजा है जिसकी अर्थात् कामदेव। विग्रह से मकरध्वज का अन्य अर्थ भी होता है जैसे मकर ही ध्वजा है जिसकी अर्थात् समुद्र, किन्तु कोप रूप लिङ्ग से मकरध्वज का वाच्यार्थ कामदेव होता है क्योंकि समुद्र में कोप रहता नहीं।

8. अन्य शब्द की सन्निधि :- जहाँ अनेकार्थक शब्द के साथ किसी नियत अर्थ वाले शब्द का समानाधिकरण्य होता है वहाँ वह अनेकार्थक शब्द उस अन्य नियत अर्थ वाले पद के सान्निध्य से किसी एक अर्थ का वाचक हो जाता है। जैसे - '**देवस्य पुराराते:**' यहाँ देव शब्द के राजा, मेघ आदि अनेक अर्थ होते हैं किन्तु 'त्रिपुराराति' शब्द की सन्निधि से देव शब्द का वाच्यार्थ शिव होता है।

9. सामर्थ्य :- कारणता को सामर्थ्य कहते है '**मधुना मत्तः कोकिलः**' वाक्य में मधु शब्द के वसन्त, मकरन्द, शहद, मदिरा आदि अर्थों के होते हुए भी कोयल को मत्त करने का सामर्थ्य वसन्त में ही है। अतः सामर्थ्य से मधु शब्द का अभिधेयार्थ यहाँ वसन्त ऋतु होता है।

10. औचिति :- औचित्य अथवा योग्यता औचिति कहलाती है। '**पातु वो**

1. प्रकरणमशब्दम् अर्थस्तु शब्दवानित्यनयोर्भेदः। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 65)।

दयितामुखम्' वाक्य में मुख शब्द का वाच्यार्थ है साम्मुख्य। यहाँ अर्थ निर्धारण औचिति से ही होता है। मुख शब्द के वदन, प्रारम्भ, साम्मुख्य आदि कई अर्थ होते हैं।

11. देश :- देशविशेष के कारण भी किसी शब्द का अर्थ नियन्त्रित हो जाता है। जैसे '**भात्यत्र परमेश्वरः**' में परमेश्वर शब्द का अर्थ राजा विष्णु, शिव आदि है किन्तु राजधानी रूप देश विशेष में राजा ही शोभित होता है, अतः उसका वाच्यार्थ राजा होगा। विष्णु तो वैकुण्ठ में तथा शिव कैलाश में शोभायमान होते हैं।

12. काल :- कहीं-कहीं कालविशेष भी वाच्यार्थ का नियामक होता है। जैसे- '**चित्रभानुर्विभाति**' इस उदाहरण में चित्रभानु शब्द का अर्थ सूर्य एवं अग्नि है। यदि रात्रि में इस वाक्य का प्रयोग होता है तब '**चित्रभानु**' का अर्थ अग्नि होगा तथा दिन में प्रयोग होने पर वह सूर्य अर्थ का वाचक होगा।

13. व्यक्ति :- पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग इत्यादि के द्वारा भी अनेकार्थक शब्द किसी एक अर्थ के वाचक हो जाते हैं। जैसे मित्र शब्द यदि नपुंसक लिङ्ग में होता है तब उसका अर्थ मित्र होगा तथा पुल्लिङ्ग में होने पर वह सूर्य अर्थ का वाचक होगा। इस प्रकार व्यक्ति अर्थात् लिङ्गादि के द्वारा भी वाचकता नियन्त्रित होती है।

14. स्वर : - उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों के आधार पर भी अनेकार्थक शब्दों की वाचकता नियन्त्रित हो सकती है। लोक में स्वरों के आधार पर अर्थ का नियमन नहीं होता। वेदों में ही स्वर की नियामकता मानी जाती है। इसका उदाहरण है, '**इन्द्रशत्रु**' यहाँ '**इन्द्रः शत्रुः यस्य**' इस बहुव्रीहि समास से इन्द्र शब्द का अर्थ होगा इन्द्र है नाशक जिसका। इसमें पूर्वपद उदात्त होता है। '**इन्द्रस्य शत्रुः**' इस तत्पुरुष समास से इसका अर्थ होगा इन्द्र का शत्रु। इसका अन्तिम पद उदात्त होता है।[1]

भर्तृहरि की कारिका के अन्त में '**स्वरादयः**' से जो '**आदि**' पद का कथन किया गया है उससे अभिनय, अपदेश इत्यादि का ग्रहण होता है। अपदेश का अर्थ है

---

1. इत्युक्तदिशा सशङ्खचक्रो हरिः अशङ्खचक्रो हरिरित्युच्यते। रामलक्ष्मणाविति दाशरथी। रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गवकार्त्तवीर्ययोः। स्थाणुं भज भवच्छिदे, इति हरे। सर्वं जानाति देव इति युष्मदर्थे। कुपितो मकरध्वज इति कामे। देवस्य पुरारातेरिति शम्भौ। मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते। पातु वो दयितामुखमिति साम्मुख्ये। भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपाद्देशाद्राजनि। चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ। मित्रं भातीति सुहृदि, मित्रो भातीति रवौ। इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेदे एव, न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 90)।

विवक्षित अर्थ का हाथ से निर्देश[1] मम्मट ने अभिनय से अर्थ के निर्णय का उदाहरण दिया है –

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं।
एद्दहमेत्तवत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं ।।[2]

इस प्रकार अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग होने पर उनके किसी एक ही अर्थ में वक्ता का तात्पर्य होता है, ऐसी दशा में संयोगादि से वाच्यार्थ उसी अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। अन्य प्रतीत होने वाले अर्थों का बोध व्यञ्जनावृत्ति द्वारा ही होता है।[3] उदाहरण स्वरूप –

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्।।[4]

इस सम्पूर्ण पद्य के दो अर्थ निकले हैं – राजा के पक्ष में तथा गज के पक्ष में प्रकरण के अनुसार राजा के पक्ष वाला अर्थ वाच्यार्थ है, किन्तु विदग्धजनों को जो गज विषयक अर्थ की भी प्रतीति होती है, व्यञ्जनावृत्ति द्वारा ही होती है। यह अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना का उदाहरण है।

शक्तिग्रह के नियामक कारणों की चर्चा काव्यशास्त्र के अतिरिक्त व्याकरण तथा न्याय-दर्शन में भी की गई है। नागेशभट्ट ने भी भर्तृहरि की कारिका उद्धृत करते हुए संयोगादि कारणों की विस्तार से चर्चा की है।[5]

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना की परिभाषा में मम्मट ने शब्द की अनेकार्थता को स्वीकार किया है किन्तु श्लेष अलङ्कार के प्रसङ्ग में '**अर्थभेदेन शब्दभेदः**' इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थों का भेद होने पर शब्दों की भिन्नता भी मानी है। यहाँ मम्मट के विचारों में परस्पर विरोध है क्योंकि श्लेष अलङ्कार में तो मम्मट यह मान रहे हैं कि एक शब्द एक ही अर्थ का प्रतिपादक होता है किन्तु अभिधामूला व्यञ्जना में शब्दों को अनेकार्थक मानते हुए उसके एक अर्थ में अभिधा के नियंत्रित हो जाने पर दूसरे

---

1. अभिनयादयः, इत्यादिपदेन, अपदेशो ग्राह्यः। अपदेशो नाम हृदयनिहितहस्तादिनाभिमतनिर्देशः। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 67-68) ।
2. का० प्र०, पृ० 94. ।
3. इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे- - -- व्यञ्जनमेव व्यापारः। (का० प्र०, पृ० 95) ।
4. का० प्र०, पृ० 95.।
5. सैषा शक्तिः संयोगादिभिर्नानार्थशब्देषु नियम्यते तदुक्तं हरिणा-
संसर्गो विप्रयोगश्च - - -- । (वै० सि० ल० म०, पृ० 90) ।

अर्थ को व्यङ्ग्य कह रहे हैं। यहाँ भी '**अर्थभेदेन शब्दभेदः**' न्याय से दो अभिधायक शब्द मानना चाहिए अतः यहाँ व्यञ्जना का अवसर ही नहीं है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाशदर्पण' टीका में इसका समाधान किया है - 'भद्रात्मन' इत्यादि उदाहरण में राजा पक्ष वाला अर्थ प्राकरणिक है तथा गजपक्षीय अर्थ अप्राकरणिक। यहाँ भी यदि दोनों अर्थों के लिए दो शब्दों की कल्पना की जाये तो प्रकृत अर्थ की प्रथम प्रतीति नहीं हो सकेगी। क्योंकि शब्दद्वय मानने पर दोनों ही अर्थों की अभिधेयता होने से दोनों समकक्ष होंगे। ऐसी स्थिति में उनके पूर्वपश्चाद्भाव का निर्णय नहीं हो सकेगा। इस प्रकार अप्राकरणिक द्वितीय अर्थ की प्रतीति में व्यञ्जनाव्यापार को मानना ही होगा।[1]

आर्थी व्यञ्जना

अभिधामूला व्यञ्जना की ही भाँति आर्थी व्यञ्जना की भी विस्तृत व्याख्या 'काव्यप्रकाश' में की गई है।

कभी-कभी अर्थ भी वक्तृ, बोधव्यादि की विशेषता के कारण सहृदयों को अन्य अर्थ की प्रतीति कराते हैं। यही आर्थी व्यञ्जना है। शब्दों के साथ-साथ मम्मट अर्थों की भी व्यञ्जकता को स्वीकार करते हैं।[2] वाच्य तथा लक्ष्य अर्थ के साथ-साथ व्यङ्ग्य अर्थ भी अन्य अर्थ की प्रतीति कराते हैं। जिस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना में शब्द व्यञ्जक होते हैं किन्तु उनमें अर्थ की भी सहकारिता होती है[3] उसी प्रकार आर्थी व्यञ्जना में भी यद्यपि अर्थ ही अन्यार्थ के व्यञ्जक होते हैं किन्तु उनमें भी शब्द की सहकारिता अवश्य रहती है क्योंकि जिन अर्थों से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है वे शब्दों द्वारा ही जाने जाते हैं।[4]

आर्थी-व्यञ्जना में प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को, जिन्हें सहृदय कहा जाता है,

---

1. अत्र हि शब्दद्वयकल्पने कथं प्रकृतार्थस्य प्रथमं प्रतीतिः द्वयोरभिधेयत्वेन पूर्वपश्चाद्भावनैयत्यासम्भवात्। (का० प्र०, 16. टीकाओं सहित, दर्पण, पृ० 397)।
2. सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते। (का० प्र०, प्र० उ०, पृ० 38)।
3. यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा।
   अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः।। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 97)।
4. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
   अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता।। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० 109)।

वक्ता आदि की विलक्षणता से व्यङ्ग्यार्थ-बोध होता है। नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है।[1] इस प्रकार काव्यवासना से परिपक्व बुद्धि वाले व्यक्तियों को ही सहृदय कहा जाता है।

मम्मट ने निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया है जिसके वैशिष्ट्य से सहृदयों को व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है-[2]

(1) वक्ता:

जो दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए वाक्य का उच्चारण करता है उसे वक्ता कहते हैं वक्तृवैशिष्ट्य से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का उदाहरण है -

अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम्
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम्।।[3]

इस उदाहरण में वक्तृ के द्वारा विशाल घट को लाने के कारण होने वाली अपनी परिश्रान्ति का वर्णन ही वाच्यार्थ है, किन्तु सहृदय को यह ज्ञात है कि कहने वाली स्त्री दुराचारिणी है अतः वक्तृवैशिष्ट्य से यहाँ चौर्यरतिगोपन रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है।

(2) बोद्धव्य:

जिससे वाक्य कहा जाता है वही बोद्धव्य है।[4] कभी-कभी बोद्धव्य के स्वभाव को जानते हुए सहृदय को उसकी विशिष्टता से व्यङ्ग्यार्थबोध होता है। जैसे -

ओण्णिदद्दं दोब्बल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम्
मह मन्दभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवइ ।।

इस उदाहरण में नायिका की दूती सखी बोधव्य है जो कि असाध्वी है। उसका यह स्वभाव पूर्वज्ञात होने से बोद्धव्य वैशिष्ट्य के कारण नायिका द्वारा अपनी सखी के विरुद्ध आचरण का वर्णन व्यङ्ग्यार्थरूप में प्रतीत हो रहा है।

---

1. ----प्रतिभा वासना, नवनवोन्मोषशालिनी प्रज्ञेति यावत्। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 72) ।
2. वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।।
   प्रस्तावदेशकालादेवैंशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
   योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा।। (का० प्र०, पृ० 99) ।
3. यः परप्रतिपत्तये वाक्यमुच्चारयति स वक्ता । (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 72) ।
4. बोधनीयः पुरुषो बोद्धव्यः। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 72) ।

(3) काकुः

भिन्न कण्ठध्वनि को ही काकु कहते है। काकु के वैशिष्ट्य से भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।[1] जैसे -

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ।।

यहाँ काकु की विशेषता से ही इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है 'मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं है अपितु कौरवों पर क्रोध करना उचित है।'

मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों में 'काक्वाक्षिप्त' नामक एक भेद भी माना है जहाँ काकु से प्रतीत अर्थ ही वाच्यार्थ को पूर्ण बनाता है[2] वहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान होता है। प्रस्तुत उदाहरण में ध्वनिकाव्य है। यहाँ काकु से प्रकट होने वाला व्यङ्ग्यार्थ वाच्यसिद्धि का अङ्ग नहीं अपितु प्रधान है।[3]

4. वाक्यः

साकाङ्क्षा पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।[4] कहीं-कहीं प्रयुक्त वाक्य की विलक्षणता से वाच्यार्थ से भिन्न एक अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उसे ही वाक्य-वैशिष्ट्य कहते हैं। जैसे -

तइआ मह गण्डत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो।
एण्हिं सच्चेअ अहं ते अ कवोला ण सा दिट्ठी।।

इस उदाहरण में नायिका की सखी के प्रति नायक का प्रच्छन्न अनुराग व्यङ्ग्य है जो कि वाक्य के वैशिष्ट्य से ही प्रतीत हो रहा है।

---

1. तदुक्तं भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते, इति। उक्तं च, अमरेणापि 'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः इति। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 72) ।
2. का० प्र०, पृ० 219) ।
3. अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते। न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यं प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः। (का० प्र०, पृ० 102) ।
4. ....साकाङ्क्षाणां पदानां समूहो वाक्यम् । (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 72) ।

5. वाच्यः

मुख्यार्थ ही वाच्य कहलाता है ।[1] कभी-कभी वाच्यार्थ के विशेषणों से व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जना होती है-

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी,
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ।
किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाताः
येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभूः ।।

इस उदाहरण में वाच्यार्थ के विशेषणो से ही नायक की सुरतेच्छा रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है।

6. अन्यसन्निधिः

वक्ता आदि के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति की समीपता से भी कभी-कभी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है-

णोल्लेइ अणद्दमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ।।

यह वाक्य नायिका अपनी सखी या प्रतिवेशिनी से कह रही है किन्तु किसी उदासीन व्यक्ति या उपनायक की उपस्थिति से सहृदय को यह व्यङ्ग्यार्थ-बोध होता है कि नायिका सन्ध्या के समय अपने अवकाश का कथन करके सङ्केत के योग्य समय को व्यक्त कर रही है।

7. प्रस्तावः

प्रकरण को ही प्रस्ताव कहा जाता है-

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण।
एमे अ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ।।

यहाँ प्रकरण से अर्थ-व्यञ्जना हो रही है। उपपति के प्रति अभिसरण को तत्पर नायिका के लिए उसकी सखी का कथन है जिससे अभिसरण का निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है।

---

1. शक्योऽर्थो वाच्यः। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० 72) ।

8 देशः

किसी विशिष्ट देश के कारण भी अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है-

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ।।

इस उदाहरण में नायिका द्वारा सखियों को अन्यत्र पुष्पचयनार्थ प्रेषित कर निर्जन बनाये गये देश के कारण इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है कि नायिका अपनी विश्वसनीय सखी से नायक के प्रेषण का आग्रह कर रही है।

9. कालः

काल अथवा किसी विशिष्ट समय का ज्ञान हो जाने पर भी अन्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है-

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुइ मंदभाइणी अहकम् ।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम् ।।

यहाँ 'अज्ज' (अद्य) का तात्पर्य वसन्त ऋतु है। इसके वैशिष्ट्य से ही यहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है।

कभी-कभी चेष्टा भी किसी अन्य अर्थ की व्यञ्जना में सहायक होता है। वक्त्रादि सहकारी कारणों की व्याख्या में मम्मट द्वारा प्रयुक्त 'कालादि' के 'आदि' पद का तात्पर्य चेष्टा ही है।[1]

आचार्य मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' में इस प्रकार से न तो अभिधामूला व्यञ्जना का विस्तृत विवेचन किया है और न ही आर्थी व्यञ्जना की चर्चा है। वहाँ लक्षणामूला व्यञ्जना की व्याख्या के अनन्तर अभिधामूला के दो उदाहरण दिये गये हैं-

पदप्रकाश्य -
वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अह्माणं वग्घकित्ती अ ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुण्हा ।।
वाक्यप्रकाश्य -
अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ।।[2]

---

1. आदिग्रहणाच्चेष्टादेः। (का० प्र०, पृ० 108) ।
2. श० व्या० वि०, पृ० 33-34।

मम्मट ने इन दोनों उदाहरणों में अभिधामूला व्यञ्जना मानी है। अभिधामूला व्यञ्जना शाब्दी व्यञ्जना है जबकि उपर्युक्त उदाहरणों में अर्थ से अर्थ की व्यञ्जना होने से यहाँ आर्थी व्यञ्जना है। शब्दों का पर्याय रख देने पर भी यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होगी ही।

इस प्रसङ्ग में मम्मट का सिद्धान्त अस्पष्ट हो गया है। इस विवेचन के आधार पर अभिधामूला व्यञ्जना को केवल 'शाब्दी' नहीं कहा जा सकता। वह आर्थी भी हो सकती है।

वस्तुतः उपर्युक्त दोनों उदाहरण ध्वनिकाव्य के हैं। मम्मट ने ध्वनि के अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि नामक जो दो भेद किये हैं वे लक्षणामूला एवं अभिधामूला ध्वनि ही हैं। इनमें लक्षणामूला तो केवल शाब्दी है किन्तु अभिधामूलाध्वनि के संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य नामक भेद के शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक तथा उभयशक्तिमूलक नामक अवान्तर भेदों[1] से सिद्ध होता है कि अभिधामूला ध्वनि शब्दगत एवं अर्थगत दोनों ही हो सकती है।

ध्वन्यालोककार ने भी 'वणिअअ - - -' इत्यादि पद्य को पद से प्रकाशित होने वाले स्वतः सम्भाविशरीरार्थशक्त्युद्भव नामक ध्वनि के एक भेद के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[2]

ध्वनिकाव्य में व्यङ्ग्य अर्थ की ही प्रधानता होती है। मम्मट ने अभिधामूला व्यञ्जना का 'वणिअअ - - -' इत्यादि जो उदाहरण दिया है उसे ही काव्यप्रकाश में उत्तरालङ्कार के उदाहरणस्वरूप भी प्रस्तुत किया है।[3] यहाँ मम्मट का मत विसङ्गतिपूर्ण हो गया है। एक ही उदाहरण को ध्वनि काव्य तथा अलङ्कार दोनों का नहीं माना जा सकता। प्रस्तुत उदाहरण में अलङ्कार मान लेने पर यद्यपि उसमें व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता तो हो सकती है किन्तु उसकी प्रधानता नहीं, क्योंकि व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर वहाँ ध्वनि काव्य हो जाएगा, अलङ्कार नहीं। अलङ्कार में चमत्कार का पर्यवसान वाच्यार्थ में ही होता है।

जहाँ काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता तो होती है किन्तु चमत्कार का पर्यवसान

---

1. अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः।।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः। (का० प्र०, पृ० 167)।
2. स्वतः सम्भविशरीरार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा-
वणिअअ- - - - - । (ध्व०, तृ० उ०, पृ० 26)।
3. प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्यं यत्र कल्प्यते तदेकं तावदुत्तरम्। उदाहरणम् -
वणिअअ- - -- । (का० प्र०, पृ० 572)।

वाच्यार्थ में ही होता है, व्यङ्ग्य किसी न किसी रूप में वाच्य का उपस्कारक होता है वाच्यातिशायी नहीं, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य माना जाता है। इसे मम्मट ने 'मध्यम काव्य' की संज्ञा दी है। 'काव्यप्रकाश' में गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ भेद मानते हुए उसकी सोदाहरण व्याख्या की गई है[1] किन्तु 'शब्दव्यापारविचार' में तो उसके दो उदाहरण दे दिये गये हैं।[2]

पद से प्रकाशित –

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः।।[3]

वाक्य से प्रकाशित

वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइ।।[4]

इन दोनो उदाहरणों में व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता तो है किन्तु वह वाच्यातिशायी नहीं है। वाच्यार्थ ही यहाँ चमत्कारपर्यवसायी है, अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य का 'असुन्दर' नामक भेद है।

मम्मट द्वारा व्यञ्जना विरोधी मतों का खण्डन

आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित ध्वनि-सिद्धान्त की सुदृढ स्थापना आचार्य मम्मट के ग्रन्थों में ही मिलती है। मम्मट के सिद्धान्तों में व्यञ्जनावृत्ति का न केवल प्रतिष्ठापन हुआ है अपितु इसके विरोधी विचारधाराओं का सशक्त तर्कों से खण्डन भी हुआ है। ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के प्रयास में जहाँ हम आनन्दवर्धन को एक विचारक मान सकते हैं, वहीं मम्मट की छवि एक तार्किक के रूप में स्पष्ट होती है।

1. अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाःस्मृताः। (का० प्र०, पृ० 219) ।
2. श० व्या० वि०, पृ० 35. ।
3. अत्रैते वराका दासभावं गताः किं करिष्यन्ति, अस्मदेकशरणाः परिभविष्यन्ति इत्यादि द्यूतकाले भवद्भिश्चिन्तितमासीन्नास्माकं विस्मृतम्। तत्र काचित् प्रतिक्रिया निर्व्यूढा, न कि निर्व्यूढा, इत्यादिकं तमर्थमभिव्यज्य सर्वैरेव कर्ता द्यूतच्छलानामित्यादिभिर्वाच्च एवार्थे विश्रम्यते। (श० व्या० वि०, पृ० 35-36) ।
4. अत्र दत्तसङ्केतः पुरुषो वानीरलतागृहं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यमर्थमवगमय्य वाच्योऽर्थः स्वप्राधान्येनास्ति। (श० व्या० वि, पृ० 36)।

'शब्दव्यापारविचार' में व्यञ्जना-विरोधी पक्षों की अत्यन्त संक्षेप में ही अवतारणा कर उनका खण्डन मम्मट ने किया है। इसका कारण भी उन्होंने दिया है-

एतच्चान्यत्र विस्तरेण विचारितमिति संक्षेपेणेहोक्तमिति।

वस्तुत: 'काव्यप्रकाश' में विशद रूप से विचारित व्यञ्जना-विरोधी प्रसङ्ग का पुन: उन्हीं तर्कों से 'शब्दव्यापारविचार' में भी खण्डन करना पिष्टपेषण मात्र ही होता। 'शब्दव्यापारविचार' में विरोधियों का खण्डन एवं व्यञ्जना की स्थापना हेतु जो तर्क दिये गये हैं उसे 'काव्यप्रकाश' का संक्षिप्त रूप कहा जा सकता है। अत: 'काव्यप्रकाश' के व्यञ्जना-विरोधी प्रसङ्ग की पृष्ठभूमि में ही उन्हें स्पष्ट किया जा सकता है।

व्यञ्जना-विरोधियों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए मम्मट ने किसी भी आचार्य का नाम नहीं उल्लिखित किया है। इन्होंने ध्वनि के विभिन्न भेदों में पृथक्-पृथक् रूप से व्यञ्जना की अपरिहार्यता को दर्शाते हुए सिद्ध किया है कि व्यञ्जना का कार्य अभिधा, लक्षणा या तात्पर्य से नहीं लिया जा सकता ।

रसादि ध्वनि की व्यङ्ग्यता सिद्ध ही है। रस भावादि को वाच्य नहीं माना जा सकता। विभाव अनुभाव इत्यादि ही रस के अभिव्यञ्जक होते हैं। रस के साक्षात् शब्द द्वारा अथवा शृङ्गार आदि शब्दों द्वारा प्रतीत होने पर ही रस को अभिधेय कहा जा सकता है किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। शृङ्गारादि शब्दों का ग्रहण न होने पर विभाव, अनुभावादि के ग्रहण से रस प्रतीति होती ही है। अत: रस को वाच्य नहीं कहा जा सकता। मुख्यार्थबाधादि के अभाव में यहाँ लक्षणा भी नहीं मानी जा सकती। अत: यह मानना ही होगा कि रस सदा व्यङ्ग्य होता है।[1]

लक्षणामूलक ध्वनि के दोनों भेदों अर्थान्तर संक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि में जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है उसकी प्रतीति व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार से नही हो सकती।[2]

अभिधा से व्यञ्जना का भेद

अभिधामूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के शब्द शक्तिमूलक भेद में अनेकार्थक शब्दों के प्रसङ्ग में जब अभिधा एकार्थ में नियन्त्रित हो जाती है तब जो दूसरा अर्थ

---

1. रसादिलक्षणस्त्वर्थ: स्वप्नेऽपि न वाच्य:। (का० प्र०, पृ० 238) ।
2. अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यं विना लक्षणैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम्। (का० प्र०, पृ० 240) ।

प्रतीत होता है, वह व्यङ्ग्य ही होता है तथा उसका वाच्यार्थ के साथ प्रतीत होने वाला उपमानोपमेयभाव भी व्यञ्जनालभ्य ही होता है।

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के अर्थशक्तिमूलक ध्वनि नामक भेद में शब्द की अपेक्षा वाच्यार्थ प्रभावी रहता है। वाच्यार्थ प्रतीति के पश्चात् ही व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि में पहले वाक्यार्थज्ञान की आवश्यकता होती है।[1] वाक्यार्थबोध के लिए मीमांसकों में दो विचारधाराएँ मिलती हैं – अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद। इन दोनों ही सिद्धान्तों में मम्मट ने व्यङ्ग्यार्थ के अवबोधन में व्यञ्जनाव्यापार की अनिवार्यता को सिद्ध किया है।

अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के अनुसार व्यक्तिरूप विशेष में सङ्केत मानने से आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष उपस्थित हो जाता है अतः जाति रूप सामान्य में ही सङ्केतग्रह होता है। इन सामान्यरूप पदार्थों की प्रतीति कराकर अभिधा विरत हो जाती है। उसके पश्चात् आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि से उन सामान्य पदार्थों का परस्पर अन्वय होकर वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। यह वाक्यार्थबोध भी तात्पर्य नामक शक्ति से होता है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद में वाक्यार्थ की उपस्थिति में भी अभिधा असमर्थ है तब उस वाक्यार्थ के भी अनन्तर प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ का बोध अभिधा से कैसे माना जा सकता है ?[2]

अन्विताभिधानवादी मानते हैं कि विशिष्ट अर्थात् परस्परान्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होता है। पदार्थों की उपस्थिति के पश्चात् उसका अन्वय नहीं होता। इस प्रकार अन्विताभिधानवादी वाक्यार्थ बोध के लिए तात्पर्य नामक शक्ति को नहीं मानते।

सङ्केतग्रह के व्याकरणोपमान आदि उपायों में व्यवहार एक प्रमुख साधन है। अन्विताभिधानवाद के अनुसार बालक को वृद्धव्यवहार से ही अर्थ-बोध होता है। वाक्य द्वारा ही व्यवहार होता है। कोई अज्ञ बालक माता-पिता आदि (प्रयोजकवृद्ध) के आदेशानुसार कार्य करने वाले अग्रज (प्रयोज्यवृद्ध) के व्यवहार को देखकर ही विविध शब्दों का अर्थ जानता है। मम्मट ने व्यवहार से होने वाले सङ्केतग्रह में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं अर्थापत्ति प्रमाणों को सहायक माना है। जैसे कोई बालक प्रयोजक वृद्ध

1. शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम्। (का० प्र०, पृ० 240)।
3. -- - - - -यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्त्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्। (का० प्र०, पृ० 241)।

द्वारा उच्चरित 'गामानय' वाक्य का श्रावणप्रत्यक्ष कर प्रयोज्यवृद्ध की गवानयन क्रिया का चाक्षुष प्रत्यक्ष करता है। इससे वह अनुमान करता है कि अमुक वाक्य का अमुक अर्थ है क्योंकि वाक्य सुनकर ही प्रयोज्यवृद्ध ने यह कार्य किया है। इसके पश्चात् 'अर्थापत्ति' प्रमाण से उसे यह ज्ञात होता है कि 'गामानय' इस वाक्य का 'गवानयन' रूप क्रिया के साथ वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है क्योंकि यदि ऐसा कोई सम्बन्ध न होता तो अर्थावबोध भी नही हो सकता था। इसके पश्चात् बालक 'गां नय' 'अश्वमानय' इत्यादि वाक्यों को सुनकर तथा तदनुसार व्यवहार देखकर पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ जानता है। इससे यही सिद्ध होता है कि व्यवहार वाक्य द्वारा ही होता है पदों द्वारा नहीं।

अन्विताभिधानवादियों के सङ्केतग्रह की इस प्रक्रिया में बालक को अश्वमानय, गामानय आदि वाक्यों में 'आनय' पद से जिस व्यापार का बोध होता है वह सामान्य रूप वाला ही होता है। किन्तु **'निर्विशेषं न सामान्यम्'** इस नियम के अनुसार वह सामान्य होते हुए भी किसी विशिष्ट वाक्य में प्रयुक्त होने पर किसी विशिष्ट कर्म से युक्त होकर सामान्यावच्छादित विशेष रूप वाला हो जाता है। ऐसी दशा में इनके अनुसार सामान्यविशेष रूप पदार्थ ही सङ्केत का विषय होता है, वाक्यान्तर्गत अतिविशेष रूप में प्रयुक्त 'गो', 'अश्व' आदि असङ्केतित ही रहते हैं अतः वे अभिधा से बोधित नहीं हो सकते। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद में अभिधा की सीमा सामान्यावच्छादित विशेष तक ही रहती है। जब अभिधा से विशिष्टवाक्य में प्रयुक्त अतिविशेष रूप अर्थ का ही बोध नहीं सम्भव है तब उसके भी बाद प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे हो सकती है? [1]

कतिपय मीमांसक व्यङ्ग्यार्थबोध में निमित्तनैमित्तिक भाव की कल्पना कर शब्द को निमित्त तथा व्यङ्ग्यार्थ को उसका नैमित्तिक मानते हैं। उनके अनुसार व्यङ्ग्यार्थ का शब्द के अतिरिक्त और कोई निमित्त उपलब्ध नहीं होता। शब्द तथा व्यङ्ग्यार्थ का निमित्तनैमित्तिकभाव विना किसी शक्ति के नहीं हो सकता और यह

---

1. (क) तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा। (का० प्र०, पं० उ०, पृ० 245)।
(ख) अनन्वितः पदार्थोऽभिहितान्वये अन्वितमात्रं त्वन्विताभिधाने, तत्रैव सङ्केतोपपत्तेः, अन्वितविशेषस्तूभयमतेऽप्यवाच्य एव। एवं च वाच्यत्वे का वार्त्ता वाच्यविपरीतात्मनो व्यङ्ग्यस्य। (श० व्या० वि०, पृ० 37)।

शक्ति अभिधा ही है। अतः व्यङ्ग्यार्थबोध अभिधाशक्ति से ही हो जाता है उसके लिए दूसरी शक्ति को मानने की आवश्यकता ही क्या है?

मम्मट ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि निमित्त दो प्रकार का होता है – कारक तथा ज्ञापक निमित्त। शब्द व्यङ्ग्यार्थ को उत्पन्न नहीं करता अतः वह उसका कारक निमित्त नहीं हो सकता । शब्द अर्थ का बोधक होता है उत्पादक नहीं । शब्द व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञापक निमित्त भी नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञात विषय का ही ज्ञापक निमित्त होता है। शब्द-श्रवण के पूर्व तो व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान रहता नहीं। शब्द की ज्ञातता सङ्केतग्रह के पश्चात् ही होती है। मीमांसकों के अनुसार सङ्केतग्रह अन्वितसामान्य में ही होता है अतः उसके बाद प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ के साथ निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं उपपन्न हो सकता।[1]

भरतमुनि के रस-सूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार भट्टलोल्लट कुमारिलभट्ट मतानुयायी मीमांसक थे। इन्होंने भी व्यञ्जनावृत्ति को नहीं माना । ये दीर्घ-दीर्घतर-अभिधावादी कहे जाते हैं।[2] इसका आशय है कि जैसे एक ही बार छोड़े गये बाण से पहले शत्रु का कवच-भेदन होता है उसके पश्चात् वह बाण उसके वक्षस्थल में प्रविष्ट होता हुआ प्राणों का हरण कर लेता है। उसी प्रकार एक ही बार उच्चरित शब्द एक ही अभिधा शक्ति से सभी अर्थों का बोध करा देता है। एक अर्थ की प्रतीति के अनन्तर शब्दशक्ति का तब तक विराम नहीं होता जब तक वह विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं करा लेता। मीमांसकों की एक उक्ति है- 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' । दीर्घदीर्घतर अभिधावादियों के अनुसार इसका अर्थ यह है कि शब्द का वही अर्थ होता है जिसमें वक्ता का तात्पर्य हो।[3]

मम्मट ने इस मत के खण्डन के लिए मीमांसकों के सिद्धान्त का ही आश्रय लिया है। इनके अनुसार दीर्घदीर्घतर व्यापार को मानने वाले मीमांसक 'यत्परः- -

---

1. – – – शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं ज्ञापकत्वं तु अज्ञातस्य कथं ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव स चान्वितमात्रे, एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम्। (का० प्र०, प्र० उ०, पृ० 247) ।
2. ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति, – – – । (का० प्र०, पृ० 248) ।
3. 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति व्यङ्ग्याभिमतोऽपि तात्पर्यात् कथं न वाच्यः। (श० व्या० वि०, पृ० 37) ।

–' इत्यादि उक्ति का यथोचित अर्थ नहीं समझते हैं।[1] मीमांसकों का यह मत है कि जहाँ सिद्ध (कारक या भूत) और साध्य (क्रिया या भव्य) एक साथ प्रयुक्त हों वहाँ सिद्ध पदार्थ साध्य अर्थात् क्रिया के लिए माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विधि वाक्यों में जितना अंश पहले से अप्राप्त रहता है उतना ही अंश विधेय होता है अर्थात् उस वाक्य का उसी में तात्पर्य रहता है। उदाहरण स्वरूप श्येनयाग ज्योतिष्टोम याग का विकृति याग है जिसमें **'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'** यह विधि वाक्य मिलता है। इस वाक्य में लोहितोष्णीषत्व ही विधेय है क्योंकि प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में **'सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति'** वाक्य द्वारा उष्णीषत्व तथा ऋत्विक्प्रचरण का विधान पहले ही हो चुका है। इसी प्रकार **'दध्ना जुहोति'** वाक्य में दधि मात्र का विधान है क्योंकि हवन–क्रिया 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य में विहित होने से पूर्व प्राप्त है। कभी–कभी एक वाक्य के सभी अर्थ पहले से अप्राप्त होने के कारण विधेय होते है। जैसे **'रक्तं पटं वय'** इस लौकिक वाक्य को किसी जुलाहे से पहली बार ही कहा जाये तो इसमें रक्तत्व, पटत्व तथा वयनव्यापार तीनों ही विधेय होंगे।[2]

इस प्रकार **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** इस उक्ति का मीमांसा–शास्त्र के अनुसार यही निर्गलितार्थ है कि वाक्य के विधेय अंश में ही उसका तात्पर्य होता है।[3] और वह वाक्योपात्त शब्द में ही होता है। अर्थात् जिस अर्थ में तात्पर्य होता है उसका वाचक शब्द वाक्य में अवश्य उपात्त होता है। व्यङ्ग्यार्थ का बोधक कोई भी शब्द वाक्य में गृहीत नहीं होता अतः उसे तात्पर्यार्थ नही माना जा सकता। यदि वाचक शब्द का ग्रहण किये विना किसी प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थ मात्र में तात्पर्य मान

1. – – – तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रियाः। (का० प्र०, पृ० 248)।
2. (क) .....'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्त्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति। ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते। यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धेलोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती' त्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयम्, हवनस्यान्यतः सिद्धेः 'दध्ना जुहोती' त्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्। क्वचिदुभयविधिः क्वचित् त्रिविधिरपि यथा रक्तं पटं वयेत्यादौ एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा। (का० प्र०, प्र० उ०, पृ० 248–249)।

   (ख) इह सर्वाण्येव कारकाणि कारकत्वात् सव्यापाराणीति साध्यायमानानि, अतो 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यत' इत्यदग्धदहनन्यायेन यावदविहितं तावद् विधीयते इति क्वचित् कारकपदार्थोऽपि विषयो भवति। यथा 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोती'–ति। (श० व्या० वि०, पृ० 37)।
3. ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यन्न तु प्रतीतमात्रे। एवं हि पूर्वो धावतीत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात्। (का० प्र०, पृ० 249)।

लिया जाये तब 'पूर्वो धावति' कहने पर 'अपर' इस अर्थ की भी प्रतीति होने लगेगी। अर्थात् अनभिप्रेत अर्थ में भी तात्पर्य होने लगेगा। अतः व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्य का विषय मानकर उसे वाच्यार्थ मान लेना युक्तिसङ्गत नहीं है।

दीर्घदीर्घतरअभिधावादियों का खण्डन करते हुए लोचनकार एक प्रश्न उठाते हैं कि यदि शब्द का ही दीर्घदीर्घतर व्यापार होता है तो सब व्यापारों को हम एक ही व्यापार कैसे मान सकते हैं ? क्योंकि समस्त व्यापारों में उनके विषय बदल जाते हैं। विषय के साथ-साथ उनके सहकारी भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं अर्थात् अभिधा का सहकारी सङ्केतग्रह होता है, लक्षणा का मुख्यार्थबाध तथा व्यञ्जना का वक्तृवैशिष्ट आदि । इस प्रकार उसमें भी विभिन्न व्यापारों को असजातीय ही मानना होगा और असजातीयता स्वीकार कर लेने पर शब्द की पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ सिद्ध हो जाती हैं।[1]

मीमांसकों की ओर से मम्मट ने पुनः एक शङ्का उठाई है कि 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस वाक्य का तात्पर्य है 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' किन्तु इस अर्थ का वाचक कोई भी शब्द वाक्य में नहीं है। अतः उपात्त शब्द के ही अर्थ में तात्पर्य नहीं होता। मम्मट ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि 'विषं भक्षय- - -' वाक्य का तात्पर्य 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस उपात्त शब्दों के अर्थ में ही है। किसी मित्र का वाक्य होने से पूरे वाक्य का यही अर्थ निकलता है कि 'इसके घर भोजन करना विष भक्षण से भी अधिक दोषयुक्त है अतः 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिए' यह अर्थ उपात्त शब्दों से ही निकलता है।

उपर्युक्त दोनों वाक्यों को भिन्न-भिन्न वाक्य भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि दोनों वाक्यों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव रूप अन्वय छिपा है जो कि 'च' इस समुच्चय बोधक पद द्वारा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।[2]

दीर्घदीर्घतर-अभिधावादियों के खण्डन में मम्मट ने एक यह भी तर्क दिया है कि यदि शब्द के श्रवणान्तर प्रतीत होने वाले सभी अर्थों की प्रतीति में अभिधा

---

1. योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिः निषिद्धः। असजातीये चास्मन्नय एव। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० 94) ।
2. यत्तु 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्यत्र 'एतद्गृहे न भोक्तव्यमित्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ' इति । (का० प्र०, पृ० 250) ।

व्यापार ही माना जाये तब '**ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः कन्या ते गर्भिणी**', इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न हर्ष एवं शोक को भी वाच्यार्थ क्यों नहीं मान लिया जाता ? व्यञ्जनावादी यहाँ हर्ष, शोकादि की प्रतीति व्यञ्जना से मानेंगे। मुकुलभट्ट ने इसकी प्रतीति आक्षेप से दर्शाया है।[1]

इसके अतिरिक्त यदि दीर्घदीर्घतरअभिधा से ही सभी अर्थों का बोध हो सके तब लक्षणा को भी मानना निरर्थक है। मीमांसको ने व्यञ्जना को न मानते हुए भी लक्षणा को तो माना ही है।[2]

मीमांसा-दर्शन में श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्या इन छः प्रमाणों के एक साथ उपस्थित होने तथा उनमें विरोध का अवसर आने पर पूर्व-पूर्व प्रमाण की अपेक्षा पर प्रमाण दुर्बल माने जाते हैं। सभी अर्थों को अभिधेय मानने पर उन्हें समकक्ष मानना पड़ेगा ओर बलाबल का निर्धारण सम्भव नहीं हो सकेगा। अतः सभी अर्थों को अभिधेय नहीं माना जा सकता।[3]

मीमांसा-दर्शन को मान्य उत्पत्ति, विनियोग, अधिकार तथा प्रयोग, इन चार प्रकार की विधियों में अङ्ग एवं अङ्गी के सम्बन्ध की बोधक विधि को ही विनियोग विधि कहते हैं। श्रुति इत्यादि इसी विनियोग विधि के सहायक छः प्रमाण हैं। इस प्रसङ्ग में यह जैमिनि सूत्र है - '**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्।**' (जै० सू०, 3 .3 .14)। इसका तात्पर्य यह है कि इन श्रुति आदि के एक साथ प्राप्त होने पर पूर्व प्रमाण परवर्ती प्रमाण की अपेक्षा प्रबल माना जाएगा। उदाहरणार्थ - अग्निहोत्र प्रकरण में एक ऋचा है- '**कदाचन स्तरीरसी नेन्द्र सश्चसि दाशुषे**' यहाँ यह सन्देह होता है कि इसका विनियोग इन्द्र के उपस्थापन में हो अथवा गार्हपत्याग्नि में? '**ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते**' इस श्रुति प्रमाण से उपर्युक्त ऋचा का विनियोग गार्हपत्याग्नि के उपस्थापन में प्राप्त होता है, किन्तु लिङ्ग प्रमाण के अनुसार इसका विनियोग इन्द्रोपस्थापन में होना चाहिए।

---

1. यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' त्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम् ? (का० प्र०, पृ० 251)।
2. कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेऽप्यर्थे? दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। (का० प्र०, पृ० 251-252)।
3. किमिति च श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-सामाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम् ? इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम्। (का० प्र०, पृ० 252)।

'गार्हपत्य' पद का लक्षणा से 'गार्हपत्यसमीपे' यह अर्थ होगा। इस प्रकार से दोनों श्रुतियों में विरोध उपस्थित होने पर श्रुति प्रमाण से लिङ्ग प्रमाण परवर्ती होने के कारण बाधित हो जाता है तथा गार्हपत्याग्नि का ही उपस्थापन होता है।[1]

व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्यविषयीभूत मानकर उसे वाच्यार्थ सिद्ध करने वाले मीमांसकों के खण्डन में मम्मट ने एक यह भी तर्क उपस्थित किया कि असुन्दर नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद में वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारयुक्त होता। वहाँ व्यङ्ग्यार्थ की उपस्थिति तो रहती है किन्तु वाच्यार्थ में ही चमत्कार की चरम विश्रान्ति होती है। ऐसे स्थलों में व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्यविषयीभूत मानकर अभिधेय नहीं कहा जा सकता। अतः अभिधा से भिन्न व्यञ्जना -शक्ति को मानना ही होगा।[2] उपर्युक्त सभी तर्कों में यह तर्क सर्वाधिक सशक्त है।

मम्मट ने साहित्यशास्त्र में भी व्यञ्जना की अनिवार्यता को सिद्ध किया है। काव्य में शब्दों के परस्पर परिवर्तन से कभी-कभी दोष आ जाता है। अतः ऐसे शब्दों के प्रयोग त्याज्य होते हैं। जैसे-'कुरु रुचिम्' इन दोनों पदों को परस्पर परिवर्तित कर देने से जिस असभ्यार्थ की प्रतीति होती है वह अभिधेय नहीं है। यदि अभिधा के अतिरिक्त और कोई व्यापार न होता तब इस प्रकार का अर्थ कभी भी प्रतीत नहीं होता तथा ऐसे प्रयोग काव्य में वर्जित न होते।[3]

साहित्यशास्त्र में नित्य एवं अनित्य दो प्रकार के दोष माने गये हैं। दोष रस के ही अपकर्षक होते हैं और रस सदा ही व्यङ्ग्य होता है। असाधुत्वादि दोष प्रत्येक रस के अपकर्षक होने के कारण नित्य दोष कहे जाते हैं तथा 'श्रुति कटुत्वादि' दोष शृङ्गार-करुण आदि कोमल रसों में तो दोष माने जाते हैं किन्तु रौद्र, भयानक आदि रसों में नहीं, अतः इन्हें अनित्य दोष कहा जाता है। दोषों के इस नित्यानित्य-विभाग को भी मम्मट व्यञ्जना सिद्धि में सहायक मानते हैं । इनके अनुसार यदि वाच्यवाचक भाव के अतिरिक्त व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव न माना जाए तो दोषों का यह नित्य एवं अनित्य का विभाग उपपन्न नहीं हो सकता।[4] कष्टत्वादि दोष नित्य ही दोष अथवा

---

1. का० प्र०, बा० बो०, पृ० 234.।
2. किं च वाणीरकुडंग्वित्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं स्वरूपे एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति। (का० प्र०, पृ० 262-263)।
3. किञ्च 'कुरु रुचिम् इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम्, न ह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि, अपरित्याज्यं स्यात्। (का० प्र०, पृ० 256)।
4. यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्। (का० प्र०, पृ० 256)।

नित्य ही अदोष होंगे। व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को मान लेने पर व्यञ्जना से द्योतित भिन्न-भिन्न रसों के अनुकूल या प्रतिकूल होने से दोषों को प्रसङ्गवश नित्य अथवा अनित्य कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति को न मानने पर वाचक रूप से सभी शब्दों का समान स्थान होने से किसी विशेष पद के प्रयोग से काव्य में विलक्षणता नहीं उत्पन्न हो सकती। मम्मट ने कुमारसंभव के एक श्लोक का अंश उद्धृत किया है –

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः। (कु० सं०, 78/5)

इस श्लोक में शिव के अनेक पर्यायवाची पदों के होते हुए भी 'कपाली' पद से ही काव्य में चमत्कार उत्पन्न हो रहा है। इसी पद से उक्त प्रसङ्ग के अनुकूल जुगुप्सा भाव की व्यञ्जना हो रही है। अभिधेयता की दृष्टि से तो 'पिनाकी' 'कपाली' दोनों ही शब्द समान है।

वाच्य अर्थ से व्यङ्ग्यार्थ की विलक्षणता सिद्ध करते हुए मम्मट यह तर्क भी देते हैं कि वाच्यार्थ तो सभी ज्ञाताओं के प्रति एकरूप होता है। अर्थात् उसका स्वरूप निश्चित होता है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ तत् तत् प्रकरण के वक्ताबोद्धव्यादि की सहायता से नानाविध हो जाता है। जैसे-'**गतोऽस्तमर्कः**' इत्यादि वाक्य का वाच्यार्थ हर दशा में एक ही होगा किन्तु इसके व्यङ्ग्यार्थ अनेक हो सकते हैं।[1]

वाच्य से व्यङ्ग्य का भेद निम्नलिखित कारणों से भी सिद्ध किया जा सकता है-

1. वाच्य से व्यङ्ग्य का स्वरूप भिन्न होता है। जैसे कहीं वाच्यार्थ निषेध रूप होता है, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ विधि रूप। कहीं वाच्यार्थ संशय रूप होता है तो व्यङ्ग्यार्थ निश्चय रूप। इसी प्रकार कभी कभी वाच्य के निन्दा रूप होने पर व्यङ्ग्य का स्वरूप स्तुतिरूप होता है, जैसे व्याजस्तुति अलङ्कार में।

2. काल की दृष्टि से भी वाच्य व्यङ्ग्य में भेद होता क्योंकि वाच्यार्थ पहले प्रतीत होता है और व्यङ्ग्यार्थ बाद में ।

3. वाच्यार्थ केवल शब्दाश्रित होता है और व्यङ्ग्यार्थ शब्द, उसके एकदेश, अर्थ, वर्ण, संघटना आदि के आश्रित होता है, अतः दोनों के आश्रय भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

1. अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति, एकरूप एवेति नियतोऽसौ। न हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेष-सहायतया नानात्वं भजते। (का० प्र०, पृ० 258)।

4. वाच्य एवं व्यङ्ग्य में निमित्त का भी भेद होता है क्योंकि वाच्यार्थ ज्ञान शब्दानुशासन से होता है तथा व्यङ्ग्यार्थ -प्रतीति प्रकरणादि की सहायता तथा प्रज्ञानैर्मल्यादि से होती है।

5. वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थो का कार्य भी भिन्न-भिन्न होता है क्योंकि वाच्यार्थ प्रतीतिमात्र का जनक होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ सहृदय के हृदय में चमत्कारोत्पादन भी करता है।

6. वाच्यार्थ के ज्ञाता को बोद्धा तथा व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपत्ता को विदग्ध कहा जाता है। ये भिन्न संज्ञाएँ भी वाच्य व व्यङ्ग्य-भेद को सिद्ध करती है।

7. वाच्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ में संख्या का भी भेद होता है। जैसे 'गतोऽस्तमर्क' में वाच्यार्थ तो एक है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ अनेक।

8. कभी-कभी व्यङ्ग्य का विषय वाच्य के विषय से सर्वथा भिन्न होता है। जैसे-

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं ।
सभमरपडमग्घाइणि वरिअवामे सहसु एण्हिं ।।[1]

इस उदाहरण में वाच्य का विषय नायिका है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के पति, उपपति, सखी इत्यादि अनेक विषय हो सकते हैं।

इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता को स्वीकार करना ही होगा क्योंकि यदि इनमें कोई भेद न माना जाये तो संसार में किसी भी वस्तु का दूसरी वस्तु से कोई भेद नहीं माना जा सकता। नील एवं पीत में भी एक दूसरे से भिन्नता नहीं रहेगी। दो वस्तुओं में विरुद्ध धर्मों की प्रतीति तथा उनके कारणों में भेद ही उन दोनों की भिन्नता का हेतु है।[2]

वाचकों को सङ्केतित अर्थ की अपेक्षा होती है किन्तु व्यञ्जकों को उस अर्थ की अपेक्षा नहीं होती इसलिए वाचकता को ही व्यञ्जकता नहीं कहा जा सकता।

लक्षणा से व्यञ्जना का भेद

जिस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ अभिधा से बोधित नहीं हो सकता उसी प्रकार उसे

---

1. का० प्र०, पृ० 258-260.।
2. - - -तत्क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्तं हि- 'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च'-इति। (का० प्र०, पृ० 261)।

लक्षणा से भी बोधगम्य नहीं माना जा सकता। किन्तु लक्षणा में ही व्यञ्जना का अन्तर्भाव मानने वाले लक्षणावादियों का यह तर्क हो सकता है कि संख्या, प्रतीति, कालादि की दृष्टि से व्यञ्जना अभिधा से तो भिन्न है किन्तु व्यञ्जकता में पायी जाने वाले ये सभी हेतु लक्षणा में भी उपलब्ध हैं, अत: व्यञ्जना को लक्षणा से भिन्न नहीं माना जा सकता।

व्यङ्ग्यार्थ की ही भाँति लक्षणीय अर्थ भी अनेक प्रकार का हो सकता है। जैसे – '**रामोऽस्मि सर्वं सहे,' 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्', 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्**' इत्यादि उदाहरणों में 'राम' शब्द का वाच्यार्थ तो एक ही है – दशरथ-पुत्र राम। किन्तु इनके लक्ष्यार्थ भिन्न-भिन्न है। व्यङ्ग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ में भी इस प्रकार की नानारूपता रहती ही है।[1]

पूर्वपक्षी के इस तर्क के उत्तर में मम्मट कहते हैं कि यद्यपि लक्ष्यार्थ में भी अनेकरूपता रहती है किन्तु वह भी वाच्यार्थ की भाँति प्राय: नियतस्वरूप वाला ही होता है। उसकी यह नियतता इसलिए है कि मुख्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ लक्ष्यार्थ नहीं हो सकता। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ प्रकरणवशात् कहीं नियत सम्बन्ध वाला होता है, कहीं अनियत तो कहीं परम्परित सम्बन्ध वाला होता है।[2]

लक्ष्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थबाध होना आवश्यक है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के लिए मुख्यार्थबाध की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे '**अत्त एत्थ** – – –' इत्यादि उदाहरण में मुख्यार्थ के बाद सीधे व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है। इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में लक्षणा के न होने पर भी अभिधा के पश्चात् व्यञ्जना होती ही है। उपर्युक्त उदाहरण में अभिधेयार्थ के बाद प्रतीत होने वाले विधि रूप अर्थ की प्रतीति में व्यञ्जना को मानना ही होगा।[3]

---

1. ननु 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति, 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति। 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' इत्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ? (का० प्र०, पृ० 264)।
2. उच्यते, लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽपि, अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव न खलु मुख्येनार्थेनाऽनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते। प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविषयवशेन नियतसम्बन्धः, अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते। (का० प्र०, पृ० 264-265)।
3. न च 'अत्ता एत्थ – – – –' इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः। तत्कथमत्र लक्षणा? (का० प्र०, पृ० 265)।

लक्षणा में भी प्रयोजन की प्रतीति हेतु व्यञ्जना का अनिवार्यरूप से आश्रय लेना ही पड़ता है, इस दृष्टि से भी लक्षणा से व्यञ्जना की पृथकता सिद्ध होती है।[1]

लक्षणा भी यद्यपि व्यञ्जना की ही भाँति शब्द एवं अर्थ दोनों का, आश्रय लेती है किन्तु लक्षणा 'अभिधा-पुच्छभूता' होती है क्योंकि जिस प्रकार अभिधा सङ्केतग्रह की अपेक्षा रखती है उसी प्रकार लक्षणा भी मुख्यार्थबाधादि हेतुओं के अधीन है। यह भी एक प्रकार के सङ्केत के समान ही है।

व्यञ्जना की प्रवृत्ति लक्षणा के बाद ही होती है अतः व्यञ्जना-व्यापार को लक्षणात्मक नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त व्यञ्जना सदा लक्षणा से अनुगत नहीं होती क्योंकि अनेकार्थक शब्दों के स्थल में वह केवल अभिधा के बाद ही होती है। कहीं-कहीं व्यञ्जना ऐसे स्थलों पर भी होती है जहाँ अभिधा एवं लक्षणा का प्रसङ्ग नहीं होता। जैसे निरर्थक वर्णों, नेत्र कटाक्षादि के द्वारा होने वाली व्यञ्जना।[2] इस प्रकार मम्मट ने विभिन्न तर्कों से यह सिद्ध किया कि अभिधा लक्षणा तथा तात्पर्य से भिन्न व्यञ्जना शक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मम्मट से पूर्व आचार्य आनन्दवर्धन ने भी भाँति-भाँति के तर्कों से व्यञ्जना की लक्षणा से पृथकता सिद्ध की।[3] इस विषय में मम्मट का मत पूर्णतः आनन्दवर्धन के मत पर ही आधारित है।

अखण्डार्थवादियों का खण्डन

ब्रह्म को ही परम् तत्त्व मानने वाले वेदान्तियों के अनुसार वाक्य अखण्ड होता है। सम्पूर्ण वाक्य ही वाचक होता है तथा उसका वाक्यार्थ ही वाच्य कहलाता है। वेदान्तियों को **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि'** इत्यादि

---

1. लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम्। (का० प्र०, पृ० 265)।
2. न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्, तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। न च तदनुगतमेव, अभिधालम्बनेनापि तस्य भावात्। न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः। न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेः। (का० प्र०, पृ० 265.-266)।
3. (क) रूपभेदस्तावदयम्-यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा। व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः - - -। अयं चान्यः स्वरूपभेदः-यद्गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वमेवोच्यते। व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० 316-317)।

   (ख) विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव। यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयोऽलङ्कारविशेषा व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० 321)।

वाक्य अखण्ड रूप से ही अखण्ड ब्रह्म का बोध कराते हैं। इस अखण्डबुद्धि के उत्पन्न होने पर वाक्य में पृथक्-पृथक् पद एवं उसके अर्थ का कोई महत्त्व नहीं होता। अर्थात् वाक्य में इनका कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं होता। पद-पदार्थादि की कल्पना मिथ्या है। वह अविद्या के कारण ही प्रतीत होते हैं। अखण्डवाक्य ही पारमार्थिक सत्य है।

अखण्ड-वाक्यार्थवाद के इस सिद्धान्त के अनुसार अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना आदि की भी कोई सत्ता नहीं मानी जा सकती। किन्तु मम्मट के अनुसार वेदान्तियों की यह अखण्ड बुद्धि व्यवहार के स्तर पर नहीं हो सकती। अविद्या दशा में आकर पद पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है। इस प्रकार जहाँ पद-पदार्थ का प्रसङ्ग आएगा वहाँ '**निःशेषच्युत- - -** ' इत्यादि उदाहरण में विधि रूप प्रतीयमानार्थ के बोध में अभिधा, लक्षणा के अक्षम रहते हुए व्यञ्जनावृत्ति की सत्ता को भी अवश्य स्वीकार करना होगा।[1] आचार्य भतृहरि ने भी वाक्य तथा वाक्यार्थ की आखण्डता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि वर्णस्फोट तथा वाक्यस्फोट के रूप में वर्ण तथा पद भी अर्थवान् माने जाते हैं। किन्तु वाक्यस्फोट में ही अर्थों के प्रतिपादन का सामर्थ्य होता है। वाक्यार्थ ही अखण्ड इकाई है। जैसे 'ब्राह्मणकम्बल' कहने पर ब्राह्मणसम्बन्धी कम्बल की प्रतीति होती है, ब्राह्मणरूप अर्थ की नहीं । उससे सम्बन्धित विशिष्टकम्बल की अखण्डरूप से प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'देवदत्तो गच्छति' वाक्य में देवदत्तसम्बन्धी गमन की अखण्डप्रतीति होती है। खण्डभूत देवदत्त आदि वाक्य में अनर्थक होते हैं। इसी प्रकार वाक्यार्थ भी अखण्ड ही होता है।

'ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः।' (वा० प०, 2/14)

वाक्यार्थ की इस अखण्डता का प्रतिपादन करते हुए भी भर्तृहरि ने लोकव्यवहार के निर्वाह के लिए वाक्य का वर्णों एवं पदों में विभाजन स्वीकार किया है -

अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते।
वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते।। (वा० प०, 2/88)

'काव्यप्रकाश' की प्रदीप, सारबोधिनी, बालबोधिनी इत्यादि टीकाओं में

---

1. 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्' इति येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव। (का० प्र०, पृ० 267)।

मम्मटकृत अखण्डवाक्यार्थवाद की आलोचना को वेदान्तियों का खण्डन माना गया है, तो 'प्रभा' आदि टीकाओं में इसे शब्दब्रह्मवादी वैयाकरणों की आलोचना मानी गई है।

वस्तुतः मम्मट की यह आलोचना सामान्य रूप से अखण्डवाक्यार्थवाद की है। चूँकि इस सिद्धान्त को वेदान्तियों के साथ-साथ वैयाकरणों ने भी माना है अतः इसे दोनों का खण्डन मानने में कोई विरोध नहीं है।

अनुमितिवाद का खण्डन

अभिधावादी मीमांसकों, लक्षणावादियों तथा वैयाकरणों के मत से सम्भावित व्यञ्जना-विरोधी युक्तियों का खण्डन कर मम्मट ने अन्त में अनुमितिवादी उस मान्यता का खण्डन किया है जिसमें शब्द की व्यञ्जकता को लिङ्गतारूप मान कर व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति को अनुमेय सिद्ध किया गया है।

कुछ टीकाकार मम्मट के इस खण्डन को नैयायिक महिमभट्ट के मत का खण्डन मानते हैं।[1] महिमभट्ट आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्य थे। आनन्दवर्धन ने भी अपने ग्रन्थ में व्यङ्ग्यार्थ को अनुमानगम्य मानने का खण्डन किया है।[2] इससे सिद्ध है कि महिमभट्ट के पूर्व भी व्यङ्ग्यार्थ को अनुमानगम्य मानने के मत की उद्भावना हो चुकी थी। मम्मट के खण्डन की तो यह शैली ही रही है कि इन्होंने किसी भी आचार्य अथवा परम्परा का विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया है। इसी कारण सम्भवतः महिमभट्ट के ही विचारों का खण्डन करते हुए भी मम्मट ने अनुमितिवाद के प्रसङ्ग में इनका उल्लेख नहीं किया है। चूँकि 'अनुमानवाद' महिमभट्ट के नाम से ही जाना जाता है, अतः मम्मटकृत खण्डन इन्हीं का माना जा सकता है।

महिमभट्ट ने **'वाच्यो हि अर्थो न तथा स्वदते यथा स एव प्रतीयमानः'** कहकर प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को तो स्वीकृति दी है किन्तु उसे ये व्यञ्जना नामक

---

1. अथ 'अनुमानाद्व्यङ्ग्यप्रतीतिः' इति न्यायाचार्यव्यक्तिविवेकग्रन्थकृन्महिमभट्टमतं निराकर्तुमाशङ्कते नन्वित्यादिना 'विरुद्धोपलब्धिः' इत्यन्तेन। (का० प्र०, बा० बो० पृ० 252)।
2. (क) ब्रूयात्-अस्त्यतिसन्धानावसरः व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वमतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गिलिङ्गभाव एव- -- । (ध्व०, तृ० उ०, पृ० 360) ।
(ख) तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० 369) ।

शब्दशक्तिविशेष से बोधित न मानकर अनुमान प्रमाण का विषय मानते हैं।[1] इन्होंने अभिधा को ही एकमात्र शब्द की शक्ति मानी है।[2] वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीत होने वाला सभी अर्थ अनुमेय होता है।

अनुमान वह प्रमाण है जिसमें किसी प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होता है।[3] अनुमान की प्रक्रिया में व्याप्ति एवं पक्षधर्मता दो मुख्य अंश होते हैं। जिस प्रत्यक्ष वस्तु द्वारा अनुमान कराया जाता है वह हेतु अथवा लिङ्ग कहलाता है[4] तथा जिसका अनुमान होता है वह साध्य है। इसी हेतु तथा साध्य के नियत साहचर्य को व्याप्ति कहते हैं।[5] जहाँ-जहाँ धुँआ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती यही नियत साहचर्य है। व्याप्ति-ज्ञान के विना अनुमान नहीं हो सकता। अनुमान का दूसरा मुख्य अंश है पक्षधर्मता। सन्दिग्धसाध्यवान् पक्ष कहलाता है और पक्ष में हेतु की उपस्थिति को ही पक्षधर्मता कहते हैं।

मम्मट ने अनुमानवादियों के खण्डन की प्रक्रिया में सर्वप्रथम उनका पक्ष रखा है- वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा होने पर किसी शब्द से किसी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। अतः यह मानना ही होगा कि व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बद्ध ही होता है। इस प्रकार व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव भी व्याप्ति पर ही आधारित होता है। व्याप्तियुक्त होने तथा नियतधर्मी में रहने से व्यञ्जना का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[6] जैसे -

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सणुओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण।।

इस उदाहरण में वाच्यार्थ विधि रूप है किन्तु निषेध रूप अर्थ प्रतीयमान है। प्रकट में तो नायिका धार्मिक से कुत्ते के मारे जाने की घटना बताकर निःशङ्क भ्रमण

---

1. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
   व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।। (व्य० वि०, 1/1, पृ० 1) ।
2. नापि शब्दस्याभिधाव्यतिरेकेण व्यञ्जकत्वं व्यापारान्तरमुपपद्यते,- - -। (व्य० वि०, पृ० 127)।
3. लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। (त० भा०, पृ० 78) ।
4. व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम्। (त० भा०, पृ० 79) ।
5. यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। (त० भा०, पृ० 79) ।
6. ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गाद्।- - - व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति। (का० प्र०, पृ० 268-269) ।

के लिए कह रही है, यही विधिरूप अर्थ वाच्यार्थ है, किन्तु वस्तुतः वह कुत्ते से भयभीत होने वाले धार्मिक को गोदावरी तट पर सिंह की उपस्थिति की सूचना देकर भ्रमण का निषेध कर रही है। यही अर्थ प्रतीयमान है।

महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' में ध्वनि के अनेक उदाहरणों की समीक्षा करते हुए उनमें प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय सिद्ध किया है। उपर्युक्त उदाहरण को सर्वप्रथम उद्धृत किया गया है।[1]

अनुमानवादी के अनुसार इस पद्य में विधिरूप वाच्य तथा निषेध रूप प्रतीयमान अर्थों में धूम और अग्नि के समान ही साध्य-साधन भाव है।[2] इस अनुमान में 'गोदावरी का तट सिंह की उपस्थिति के कारण धार्मिक के भ्रमण के योग्य नहीं है' यह साध्य है तथा सिंह की उपस्थिति उसका हेतु है। जो जो स्थान भीरुओं के भ्रमण के योग्य होता है वह-वह भयकारण के अभाव के ज्ञानपूर्वक होता है, उदाहरण-स्वरूप घर, जहाँ भय का कारण न रहने से भ्रमण होता है। इस व्याप्ति से तट पर सिंह की उपलब्धि के ज्ञान द्वारा भ्रमण के अभाव का ज्ञान होता है। इसलिए व्यतिरेकी अनुमान से निषेध रूप अर्थ की प्रतीति हो जाने से उसके लिए व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं है।

मम्मट ने इस प्रकार के अनुमान में हेत्वाभास दर्शाते हुए इसे दोषपूर्ण माना है। 'सिंह की उपस्थिति रूप हेतु में 'अनैकान्तिक' 'विरुद्ध' एवं 'असिद्ध' नामक हेत्वाभास है।

जहाँ-जहाँ भीरु -भ्रमण होता है वहाँ-वहाँ भय के कारण का अभाव होता ही है ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है। कई स्थानों पर भय-जनक कारणों के उपस्थित रहते हुए भी भीरु व्यक्ति गुरु या स्वामी की आज्ञा अथवा प्रियानुराग के कारण भ्रमण करता ही है। इस प्रकार यहाँ हेतु के 'विपक्ष' में भी पाये जाने के कारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है।[3]

---

1. तदेवं ध्वनिलक्षणस्य तद्भेदानां चानुमानेऽन्तर्भावमुपपाद्य सम्प्रति तदुदाहरणानां यथायोगं क्रमेणासावुपदर्श्यते। तत्र वस्तुमात्रस्य तावत् - भम धम्मिअ - - - - (व्य० वि०, तृ० वि०, पृ० 399)।
2. अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः तयोर्धूमाग्न्योरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात्। - (व्य० वि०, तृ० वि०, पृ० 400)।
3. (क) अत्रोच्यते भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः। (का० प्र०, पृ० 271)।
(ख) सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। - - - -तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः। (त० भा०, पृ० 115)।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो कुत्ते से डरते हैं किन्तु सिंह से नहीं अतः यह 'विरुद्ध' हेतु भी है।[1]

इसके अतिरिक्त गोदावरी के तट पर सिंह की उपस्थिति का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। नायिका के वचन से ही सिंहोपस्थिति की सूचना मिल रही है। वचन का अर्थ के साथ कोई प्रतिबन्ध निश्चित न होने से उसकी प्रामाणिकता नहीं होती। इस प्रकार पक्ष में हेतु की उपस्थिति ही संदिग्ध होने से यहाँ 'असिद्ध' हेत्वाभास भी है।[2]

दोषयुक्त हेतु द्वारा '**भम धम्मिअ**- -- ' इत्यादि उदाहरण में निषेध रूप अर्थ को अनुमान द्वारा नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसी प्रकार ध्वनि के अन्य उदाहरण भी हैं जिनमें प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति को अनुमेय नहीं कहा जा सकता।

'**निःशेषच्युतचन्दनं** - --- - ' इत्यादि उदाहरण में भी चन्दन-च्यवन आदि कारणों को उपभोग का अनुमापक नहीं सिद्ध किया जा सकता क्योंकि चन्दनच्यवनादि स्नान के कारण भी हो सकता है इसे अनुमान का हेतु मानने पर 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास हो जाएगा।[3]

व्यञ्जनावादियों के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में विधि रूप अर्थ की प्रतीति 'अधम' पद की सहायता द्वारा होती है। इस पद को अनुमिति का सहायक नहीं माना जा सकता क्योंकि इसका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाण से नहीं हुआ है। कोपाकुलिता नायिका के कथन में कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ हेतु असिद्ध भी है। सम्भावना मात्र से व्यङ्ग्य प्रतीति तो हो सकती है किन्तु अनुमान नहीं किया जा सकता।[4]

'शब्दव्यापारविचार' में मम्मट ने अनुमानवादियों का अतिसंक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित खण्डन किया है-

व्यङ्ग्यार्थ को अनुमेय नहीं कहा जा सकता क्योंकि वाच्य एवं व्यङ्ग्य अर्थ के

---

1. (क) शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। (का० प्र०, पृ० 271)।
   (ख) साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। (त० भा०, पृ० 115)।
2. (क) गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपितु वचनात्, न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति, अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः। - (का० प्र०, पृ० 271)।
   (ख) तत्र लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्धः। (त० भा०, पृ० 111)।
3. तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि। (का० प्र०, पृ० 272)।

मध्य व्याप्ति-ग्रहण का कोई प्रमाण नहीं होता। जिन प्रकरणादि सामग्री से व्यङ्ग्य प्रतीति होती है उसे किसी प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। ऐसा होना व्यङ्ग्य मानने वालों के लिए कोई दोष नहीं है। इसका तात्पर्य यही है कि व्यञ्जना शब्द की शक्ति है इसे अनुमान में अन्तर्भावित नहीं किया जा सकता। जहाँ अनुमान एवं प्रत्यक्ष कार्य नहीं करता वहीं शब्द की उपयोगिता होती है।[1]

इस प्रकार मम्मट ने व्यञ्जना-विरोधी जितने भी पक्ष सम्भव हो सकते थे, सबका सूक्ष्मता से विश्लेषण कर उनका खण्डन किया और शब्द की एक शक्ति के रूप में व्यञ्जनावृत्ति की सुदृढ स्थापना की। विश्वनाथ, हेमचन्द्र, पण्डितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने भी इनके विचारों से प्रभावित होते हुए व्यञ्जना को ही काव्य की उत्कृष्टता का कारण माना। विश्वनाथ ने रस को ही काव्य की आत्मा कहा है। रस की व्यङ्ग्यता का तो कथमपि निषेध नहीं किया जा सकता। मम्मट ने व्यङ्ग्य की प्रधानता, अप्रधानता को आधार बनाकर काव्य के उत्तम, मध्यम एवं अधम भेद किये हैं। विश्वनाथ ने ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य के नाम से काव्य की दो श्रेणियाँ मानी है। पण्डितराजजगन्नाथ ने काव्य की चार कोटियाँ मानीं जिनमें उत्कृष्ट व्यङ्ग्यार्थ युक्त ध्वनि नामक काव्य उत्तमोत्तम काव्य कहलाता है। गुणीभूतव्यङ्ग्य को इन्होंने उत्तमकोटि का काव्य कहा है तथा मम्मट के अधम काव्य के शब्दचित्र एवं अर्थचित्र नामक भेद को पण्डितराज ने क्रमशः मध्यम एवं अधम काव्य कहा है।

---

1. व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्। एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते, इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम्। (का० प्र०, पृ० 272)।
2. न तु व्यङ्ग्यमनुमेयमिति शक्यं वक्तुम्, न हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्रतिबन्धग्रहे किञ्चित् प्रमाणं क्रमते। प्रकरणादिसामग्रीमन्तरेण हि न व्यङ्ग्यम्। न च सा प्रमाणगोचरा। (श० व्या० वि०, पृ० 38)।

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

मुकुलभट्ट की 'अभिधवृत्तिमातृका' एवं आचार्य मम्मट के 'शब्दव्यापारविचार' की तुलनात्मक समीक्षा के अनन्तर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'अभिधावृत्तिमातृका' शब्दशक्तिविषयक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें मीमांसा, व्याकरण आदि शास्त्रों से सम्बन्धित विचारों का समावेश होते हुए भी मुकुलभट्ट ने सबसे पृथक् अपना अलग ही मत स्थापित किया है। 'शब्दव्यापारविचार' को 'अभिधावृत्तिमातृका' की प्रतिक्रिया में बना हुआ आलोचनात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही मम्मट ने इसका उद्‌देश्य स्पष्ट किया है-

'शब्दस्य चार्थप्रतिपत्तिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्त्या कारकत्वात् कल्प्यमानो व्यापारोऽभिधादिशब्दप्रतिपाद्यो नानाप्रकार इति तत्परीक्षार्थं शब्दव्यापारविचारात्मकं प्रकरणमिदमारभ्यते।'

इस प्रकार मम्मट ने मुकुलभट्ट का नाम न लेते हुए भी इनका सङ्केत कर दिया है क्योंकि इनसे पूर्व मुकुलभट्ट ने ही प्रबल रूप से अभिधा की नानाप्रकारता को सिद्ध किया है।

मुख्य रूप से तो मम्मट ने मुकुलभट्ट का खण्डन ही किया है किन्तु इस प्रक्रिया में ये मुकुलभट्ट के कई सिद्धान्तों को अपनाते भी गये हैं, कहीं शब्दतः तो कहीं तात्पर्यरूपेण। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जहाँ मम्मट एवं मुकुलभट्ट के विचारों में कहीं वैषम्य है तो कहीं-कहीं दोनों में साम्य भी पाया जाता है। कहीं-कहीं तो दोनों ही ग्रन्थों में एक-सी पंक्तियाँ भी मिलती हैं।

आचार्य मुकुलभट्ट तथा मम्मट दोनों ने ही निश्चयात्मक ज्ञान पर बल देते हुए ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है। पदार्थों के निश्चय से ही संसार का व्यवहार सम्पन्न होता है।[1] निश्चय का विषय अर्थ होता है जिसमें शब्द का भी सहभाव रहता

1. (क) इह खलु भोगापवर्गसाधनभूतानां तद्विपर्ययपरिवर्जनप्रयोजनानां च पदार्थानां निश्चयमन्तरेण व्यवहारोपारोहिता नोपपद्यते। (आ० वृ० मा०, पृ० 1)।
(ख) इह हेयोपादेयानां हानोपादाने प्रमाणादेव। तच्च निश्चयात्मतया प्रामाण्यं भजते। - (श० व्या० वि०, पृ० 1)।

है।[1] शब्द द्वारा अर्थप्रतीति के लिए उसमें किसी न किसी व्यापार की कल्पना आवश्यक है। मुकुलभट्ट ने शब्द का एक ही व्यापार माना है किन्तु मम्मट ने तीन व्यापार माने हैं अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना। इनमें अभिधा वाचक में तथा लक्षणा वाच्य में रहने वाला व्यापार है।[2] इन दोनों से भिन्न एक अन्य व्यापार भी शब्द में पाया जाता है जिसे ध्वनन, अवगमन, प्रकाशन, द्योतनादि शब्दों से कहा जाता है।[3]

मुकुलभट्ट की अभिधा मुख्य एवं लाक्षणिक दो प्रकार की है। इनमें मुख्य अभिधाव्यापार के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा ये चार भेद होते हैं। शब्दों की प्रवृत्ति उपाधिमूलक होने से ही इनमें यह भेद होता है। आचार्य मम्मट ने भी शब्दों की उपाधियों में ही सङ्केत माना है जो कि जाति, गुण इत्यादि चार प्रकार की ही हैं। इस प्रसङ्ग में दोनों ही ग्रन्थों में प्रमाण के रूप में महाभाष्य को उद्धृत किया गया है।[4]

उपाधिचतुष्टय का वर्णन करने के अनन्तर मुकुलभट्ट एवं मम्मट दोनों ने ही जातिवादियों के मत को पूर्व पक्ष के रूप में रखते हुए समान तर्कों से यह मत प्रस्तुत किया है कि गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों में अनुभूत होने वाली भिन्नता के आधार पर उनमें भी जाति मानते हुए गुण, क्रिया एवं यदृच्छा शब्दों को जाति नहीं कहना चाहिए।[5] गुण आदि में भिन्नता का कारण आश्रय-भेद ही है। अर्थात् गुण, क्रिया, यदृच्छा शब्दों में जाति मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि विभिन्न प्रकार की शुक्लवस्तुओं में अनुभूत होने वाली भिन्न-भिन्न शुक्लता वस्तुतः भिन्न नहीं है। यह भेद तो शुक्ल गुण के आधार की भिन्नता के कारण है। व्यक्तियों की अनेकता का जहाँ प्रसङ्ग आएगा वहाँ जाति होगी।

---

1. (क) निश्चयश्च शब्दसंभेदेनार्थं गोचरीकरोति। (अ० वृ० मा०, पृ० 1) ।
(ख) निश्चयश्च शब्दसाहित्येनार्थं विषयीकरोति। (श० व्या० वि०, पृ० 1) ।
2. एवं वाच्यवाचकार्थनिष्ठौ व्यापारावभिधालक्षणे। (श० व्या० वि०, पृ० 7) ।
3. - -- स च ध्वननावगमनप्रकाशनद्योतनादिशब्दव्यवहार्यः। (श० व्या० वि०, पृ० 18) ।
4. (क) चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिर्भगवता महाभाष्यकारेणोपवर्णिता......। (अ० वृ० मा०, पृ० 4-5) ।
(ख) गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्भाष्ये कथिता। (श० व्या० वि०, पृ० 4) ।
5. (क) - -- गुणक्रियायदृच्छानामिति नैतासां भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुः जातिर्घटत इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि। (श० व्या० वि०, पृ० 5) ।
(ख) अत्राभिधीयते-गुणक्रियाशब्दसंज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजुषामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्वम्,......। (अ० वृ० मा० पृ० 10) ।

मुकुलभट्ट ने जिस प्रकार 'लक्षणा षट्प्रकारैषा' कहते हुए छः प्रकार की लक्षणा का समर्थन किया है उसी प्रकार मम्मट ने भी 'लक्षणा तेन षड्विधा' कहते हुए छः प्रकार की लक्षणाएँ मानी हैं। यद्यपि इन भेदों के विषय में, तथा इसके कतिपय उदाहरणों में दोनों में मतभेद रहा है, किन्तु 'गङ्गायां घोषः' 'आयुर्घृतम्' 'गौर्वाहीकः' आदि लक्षणा के उदाहरण दोनों ग्रन्थों में समान रूप से ही मिलते हैं।

कुमारिलभट्ट की कारिका उद्धृत करते हुए मुकुलभट्ट ने तीन प्रकार की लक्षणाओं की चर्चा की है- निरूढा, वृद्धव्यवहार के आधार पर होने वाली लक्षणा तथा ऐसी लक्षणाएँ जो अर्थज्ञान की शक्ति से रहित होने के कारण त्याज्य होती है। इसी के समान मम्मट ने भी निरूढा, कार्या तथा उसके विपरीत अर्थात् अकार्या लक्षणाओं की विवेचना की है।

अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, दोनों का समुच्चय तथा अखण्डार्थवाद की विवेचना करते हुए मुकुलभट्ट ने इन चारों वादों में लक्षणा की स्थिति पर विचार किया है। इसके अनुसार अभिहितान्वयवाद में लक्षणा अभिधा के पश्चात् होती है, अन्विताभिधानवाद में अभिधा के पूर्व तथा दोनों के समुच्चय में अर्थात् जहाँ पद की अपेक्षा से अभिहितान्वयवाद होता है तथा वाक्य की अपेक्षा से अन्विताभिधानवाद वहाँ लक्षणा अभिधा के पश्चात् एवं पूर्व दोनों ही होती है। अखण्डार्थवाद में जहाँ वाक्य तथा वाक्यार्थ दोनों ही अखण्ड होते हैं वहाँ न तो अभिहितान्वयवाद होता है और न ही अन्विताभिधानवाद। वहाँ भिन्न-भिन्न पदार्थों का अस्तित्व न होने से उनकी अभिधेयता सिद्ध नहीं होती फलतः उस पर आश्रित लक्षणा भी नहीं होती। मम्मट ने भी उपर्युक्त चारो वादों के अन्तर्गत लक्षणा की वही स्थिति मानी है जो मुकुलभट्ट ने। यहाँ दोनों में भाषागत समानता भी है।[1]

लक्षणा के मुख्यार्थबाधादि त्रिविध कारणों में लक्ष्यार्थ के मुख्यार्थ से सम्बन्ध रूप हेतु के विषय में मम्मट ने सादृश्य एवं सादृश्येतर कार्य-कारण आदि सम्बन्धों पर विचार किया है, किन्तु 'शब्दव्यापारविचार' में इसके लिए मुकुलभट्ट के समान भर्तृमित्र की कारिका भी उद्धृत की है।[2]

1. (क) - - पदापेक्षयाभिहितान्वयः, वाक्यापेक्षया तु अन्विताभिधानम्। (अ० वृ० मा०, पृ० 45)।
(ख) पदापेक्षयाभिहितान्वयः वाक्यापेक्षया त्वन्विताभिधानमिति---- । (श० व्या० वि०, पृ० 29) ।
2. यश्चसम्बन्धो लक्षणाया निमित्तं तं पञ्चविधमाहुः। यथोक्तम् -
अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता।। (श० व्या० वि०, पृ० 30) ।

सम्बन्धों पर विचार अपेक्षित प्रसङ्ग में करने के पश्चात् भी मम्मट ने पुनः जो इस प्रसङ्ग को उठाया है इसका उद्देश्य कदाचित् मुकुलभट्ट की मान्यता को स्वीकृति प्रदान करना ही है। क्योंकि कुछ परिवर्तनों को छोड़कर यह प्रसङ्ग 'अभिधावृत्तिमातृका' के अनुरूप ही है। पाँचों सम्बन्धों में अभिधेय से सम्बन्ध के सन्दर्भ में मुकुलभट्ट ने उदाहरण दिया है 'गङ्गायां घोषः' मम्मट ने उसके स्थान पर 'द्विरेफ' उदाहरण प्रस्तुत किया है।

समवाय सम्बन्ध का अर्थ मुकुलभट्ट ने साहचर्य सम्बन्ध माना है और उसका उदाहरण दिया है 'छत्रिणो यान्ति'। 'शब्दव्यापारविचार' में इस सम्बन्ध को 'सादृश्य' एवं 'सम्बन्ध' से भिन्न बताया गया है। उसी के साथ सामीप्य तथा साहचर्य सम्बन्ध के उदाहरण दिये हैं- 'गङ्गायां घोषः' तथा 'छत्रिणो यान्ति'। इससे प्रतीत होता है कि समवाय के अन्तर्गत सामीप्य एवं साहचर्य सम्बन्ध आते हैं। वैपरीत्य लक्षणा के जो उदाहरण इन आचार्यों ने दिये हैं उनका भाव एक ही है तथा क्रियायोग लक्षणा का समान उदाहरण ही दिया है-'**महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्**'।

मुकुलभट्ट एवं आचार्य मम्मट के विचारों में विषमता भी है। इसका मुख्य कारण व्यञ्जनाव्यापार ही है। मुकुलभट्ट ने व्यञ्जना को नहीं माना है। जिस अर्थ को ध्वनिवादियों ने व्यङ्ग्यार्थ कहा है तथा जिसकी प्रतीति में व्यञ्जना नामक एक पृथक् वृत्ति की स्थापना की, उस अर्थ की प्रतीति भी इन्होंने लाक्षणिक अर्थ की अभिधा से ही मानी है। ये ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में ही मानते हैं। लक्षणा एवं उसके भेदों का निरूपण तो इन्होंने किया है किन्तु उसे भी अभिधा का ही एक अङ्ग मानते हुए। मम्मट व्यञ्जनावादी आचार्य थे। फलतः जिन्होंने व्यञ्जना नहीं मानी उसका इन्होंने विरोध किया तथा विभिन्न तर्कों से व्यञ्जना की अपरिहार्यता को सिद्ध किया।

वक्ता आदि की सापेक्षता से होने वाली लक्षणा के मुकुलभट्ट ने तीन उदाहरण दिये हैं जिनमें मम्मट के अनुसार लक्षणा हो ही नहीं सकती। मुकुलभट्ट प्रदत्त तीनों उदाहरणों में मम्मट ने वस्तु, अलङ्कार एवं रस की व्यङ्ग्यता सिद्ध की है। मुकुलभट्ट ने ध्वनि को लक्षणा में ही अन्तर्भूत माना है जबकि मम्मट ने लक्षणा से व्यञ्जना का पार्थक्य सिद्ध करते हुए प्रयोजनवती लक्षणा में भी उसकी आवश्यकता दर्शायी है। 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'कन्या ते गर्भिणी' इत्यादि वाक्यों से जिस हर्ष एवं शोक की प्रतीति होती है उसे मुकुलभट्ट ने आक्षेप-लभ्य माना है। यह आक्षेप इनके अनुसार लक्षणा ही है। व्यञ्जनावादियों को इस अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से ही होगी।

इस प्रकार दोनों आचार्यों में मतवैभिन्य का मुख्य कारण व्यञ्जना की सत्ता ही है, किन्तु अन्य विषयों में भी इनमें विरोध रहा है।

मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा के दो उदाहरण दिये हैं 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' । इनमें प्रथम उदाहरण में व्यक्तिरूप अर्थ तथा द्वितीय में रात्रिभोजन का आक्षेप होने से उपादान लक्षणा है।

मम्मट ने इस दोनों ही उदाहरणों का खण्डन किया है। 'गौरनुबन्ध्यः' में रूढि अथवा प्रयोजन रूप हेतु न होने से इसे लक्षणा का उदाहरण नहीं मानना चाहिए। जाति से व्यक्ति का जो आक्षेप होता है वह इसलिए क्योंकि जाति एवं व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध है। जाति कहते ही व्यक्ति का तत्काल बोध हो जाता है क्योंकि जाति व्यक्ति के विना नहीं रह सकती। किन्तु मुकुलभट्ट पर यहाँ मीमांसकों का प्रभाव है। जाति को मुख्यार्थ मानते हुए इन्होंने शब्द का पर्यवसान उसी में मान लिया है। इसके लिए मीमांसको का सिद्धान्त भी प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया है – '**विशेष्यं नाभिधागच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।**'

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' में मुकुलभट्ट ने अनिवार्य रूप से उपादान लक्षणा माना है। अर्थात् वहाँ श्रुतार्थापत्ति माने या अर्थापत्ति, लक्षणा होगी ही; किन्तु मम्मट इस स्थल में मीमांसकों को मान्य अर्थापत्ति प्रमाण ही मानते हैं।

मुकुलभट्ट के अन्य जिस मत का मम्मट ने खण्डन किया है वह है इनका 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त'। मुकुलभट्ट ने शुद्धा तथा उपचारमिश्रा रूप से लक्षणा के दो भेद किये हैं। शुद्धा लक्षणा में लक्ष्य का लक्षक से भेद रहता है[1] और उपचार में एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप रहता है। इसके भी शुद्ध एवं गौण दो भेद होते हैं जिनमें सादृश्य के आधार पर होने वाला गौणोपचार है तथा सादृश्य-भिन्न उपचार शुद्ध है। मम्मट- 'उपाचार' का अर्थ सादृश्य मानते हैं इनके अनुसार शुद्धा लक्षणा में उपचार का मिश्रण नहीं रहता है। इसमें भेद रूप ताटस्थ्य भी नहीं मानना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर 'गङ्गा तटे घोषः' इस प्रयोग से 'गङ्गायां घोषः' इस लाक्षणिक प्रयोग का वैशिष्ट्य ही समाप्त हो जाएगा।[2]

मुकुलभट्ट एवं मम्मट दोनों ने ही गौणी सारोपा लक्षणा का उदाहरण दिया है 'गौर्वाहीकः' । इसमें मुकुलभट्ट ने गोगत जाड्यमान्द्यादि गुणों के सदृश वाहीकगत

---

1. – -- सा लक्षकार्थानुपरक्तत्वात् तटस्थतया प्रतीयमाने लक्ष्येऽर्थे द्रष्टव्या। न हि तत्र लक्षकार्थोपरक्ततया लक्ष्यस्यार्थस्यावगतिः। (अ० वृ० मा० पृ० 20) ।
2. उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। अनयोर्भेदयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं तटस्थत्वम्,- -- । (श० व्या० वि०, पृ० 9) ।

गुणों के सम्बन्ध के आधार पर वाहीक में लक्षणा मानी है, किन्तु मम्मट का मत इनसे भिन्न है। इस सन्दर्भ में इन्होंने तीन मत प्रस्तुत किये हैं जिनमें प्रथम के अनुसार गो शब्द की लक्षणा गो में रहने वाले गुणों में रहती है। द्वितीय के अनुसार परार्थगत अर्थात् वाहीकगत गुण ही लक्ष्य होते हैं तथा तृतीय मत के अनुसार गो एवं वाहीक दोनों में रहने वाले साधारणगुणों के आश्रयभूत वाहीक में लक्षणा होती है। इनमें कौन-सा मत मम्मट को अभिप्रेत था इसका सङ्केत इन्होंने काव्यप्रकाश में तो नहीं किन्तु 'शब्दव्यापारविचार' में अवश्य किया है। इनके अनुसार जिन्होंने वाहीकगत गुणों को गोगत जाड्यमान्द्यादि के सदृश कहा है उन्होंने दोनों गुणों में भिन्नता मान ली है। गुणों में भिन्नता मानने पर उनमें जाति माननी पड़ेगी जिससे शब्दों की चतुष्टयीप्रवृत्ति समाप्त हो जाएगी। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मम्मट तृतीय मत के ही पक्षधर थे।

उपर्युक्त विषमताओं के अतिरिक्त दोनों में परमाणुत्वादि को गुण अथवा जाति मानने के विषय में भी मतभेद मिलता है। परमाणु या परिमाडल्य परिमाण न्याय- वैशेषिक के रूप, रस आदि 24 गुणों में से एक है। मुकुलभट्ट ने इन परमाणुओं को चतुर्विध उपाधियों में गुण के अन्तर्गत ही माना है किन्तु मम्मट के अनुसार परमाणुत्वादि को गुण कहना मात्र पारिभाषिक ही है। जबकि मुकुलभट्ट के विचार में जाति के समान नित्य होते हुए भी इन्हें जाति नहीं कहा जा सकता।[1]

1. (क) येऽपि च नित्या परमाणुत्वादयो गुणास्तेषामपि सर्वेषां गुणजातीयत्वादेवं प्रकारत्वमेव। (अ० वृ० मा० पृ० 5- 6)।
(ख) परमाणुत्वादीनां तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्। (श० व्या० वि०, पृ० 4)।

परिशिष्ट 'क'

'अभिधावृत्तिमातृका' तथा 'शब्दव्यापारविचार:' का प्रकाशन सर्वप्रथम निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से हुआ । वहाँ से प्रकाशित पुस्तकें अनुपलब्ध हैं। डॉ० वी० राघवन कृत 'New Catalogus catalogorum' में 'अभिधावृत्तिमातृका' की विविध पाण्डुलिपियों का विस्तृत विवरण इस प्रकार दिया गया है –

अभिधावृत्तिमातृका : alaṅk. On the significatory capacities of words; by Mukula Bhatta. Alph. List Beng. Govt. p.7. BORI. 63 of 1873-74. 224 of 1875-76. D. pp. 57. 85. DAVCL. 2940. H. 168. Jesalmere p. 37. Kh. 86. L. 2438. Luck. Uni. P. 44. Oxf. II. 1157(2) (fr.). 1164. R.A. Sastri I. 54. RASB. VI. 4802. Report XV. Stein 58.

Edn. N.S. *Press*.

Alph. List Beng. Govt. : An alphabetical list of manuscripts purchased upto 1891. Printed at the end Notices of Sanskrit manuscripts by Haraprasada Shastri, Vol. XI. Calcutta, 1895. Manuscripts in this list are described in the volumes of the Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Royal Asiatic Society of Bengal, by Haraprasad Shastri.

BORI. : Manuscripts in the Bahandarkar Oriental Research Institute, Deccan Gymkhana, Poona 4. Quoted by manuscript numbers of the library. A copy of the complete card index of the BORI. manuscripts, prepared in 1940.

D. : A Catalogue of the Collections of Manuscripts deposited in the Deccan College. By Shridhar R. Bahandarkar. Bombay, 1888.

DAVCL. : A hand-list of the manuscripts (under 'A') in the

Lalchand Research Library, D.A.V. College, Lahore. 349 manuscripts.

H. : Uber eiene Sammlung indischer Handschriften und Inschriften von E. Hultzsch. Printed in ZDMG. Vol. 40, 1. This collection of manuscripts has been purchased by the Bodleian Library, Oxford.

Jesalmere : A Catalogue of Manuscripts in the Jain Bhandars at Jesalmere. Gaekwad Oriental Series XXI.

Kh. : Report on the search for Sanskrit manuscripts in the Bombay Presidency during the year 1880-81. By F. Kielhorn. Bombay, 1881.

L. : Notices of Sanskrit manuscripts. By Rajendralala Mitra Calcutta, 1871-90. 11 volumes. Volumes X and XI are by Haraprasada Shastri.

Luck. Uni. : There are about 200 manuscripts in the Lucknow University. R.A. Sastri sent names of a few select ones from this collection to V. Raghavan. Now included in the printed Catalogue, 'Catalogue of Oriental Manuscripts in the Lucknow University Library', by Kali Prasad, Lucknow, 1951. See pp. 32-75 in New Catalogus Catalogorum, Vol. 1, (revised), 1969; for the Sanskrit manuscripts.

Oxf. II. : Catalogue of sanskrit manuscripts in the Bodleian Library. Vol. II, Begun by M. Winternitz and completed by A.B. Keith. Oxford, 1905.

R.A. Sastri : Four parts of the Diary of Pandit R.A. Shastri's tour in search of Sanskrit manuscripts handed over to the Catalogus Catalogorum work. Quoted by pages.

RASB. : A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Goverment collection under the care of the Royal Asiatic Society of Bengal. By Haraprasada Shastri.

Vol. VI. Vyakarana 1931.

Report : Detailed report of a tour in search of Sanskrit

manuskripts made in Kashmir, Rajaputana and Central India. By G. Buhler. Bombay, 1877.

Stein. : Catalogue of the Sanskrit manuscripts in the Raghunatha Temple Library of His Highness the Maharaja of Jammu & Kashmir. Prepared by M.A. Stein, Bombay 1894.

परिशिष्ट 'ख'

निर्णयसागर प्रेस के प्रकाशन के अनन्तर 'अभिधावृत्तिमातृका' तथा 'शब्दव्यापारविचारः' दोनों ही पुस्तकें हिन्दी अनुवाद सहित भी प्रकाशित हुई हैं। डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी ने इनका पृथक्-पृथक् अनुवाद किया है तथा डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी के 'वृत्तिसमुच्चय' नामक ग्रन्थ में दोनों पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद सहित एक साथ प्रकाशन हुआ है।

उपर्युक्त दोनों प्रकाशनों में मुकुलभट्ट के ग्रन्थ का नाम 'अभिधावृत्तमातृका' दिया गया है जबकि निर्णय सागर वाले में 'अभिधावृत्तिमातृका' ही मिलता है। वस्तुतः इस ग्रन्थ के नाम में वृत्त के स्थान पर वृत्ति मानना ही युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। मुकुलभट्ट ने अन्तिम कारिका में लिखा भी है-

सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्तिमातृका।

इन्होंने अभिधावृत्ति शब्द का प्रयोग एक बार ही किया है, वृत्त शब्द अनेक बार आया है। अभिधावृत्ति के दस वृत्त अर्थात् मण्डल का विवेचन इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। निश्चयात्मक ज्ञान समस्त व्यवहार के मूल में रहता है। निश्चयात्मक ज्ञान शब्द एवं अर्थ के विना नहीं हो सकता और शब्द विना व्यापार के अर्थबोध नहीं करा सकता। अभिधावृत्ति शब्द का ही व्यापार है जिसके मुख्य और लाक्षणिक रूप से प्रथमतः दो भेद होते हैं[1] तथा इनके अवान्तर भेदों की संख्या दस होती है।

मुकुलभट्ट से पूर्व आचार्य आनन्दवर्धन ने शब्द के तीन व्यापार माने हैं- वाचकत्व, गुणवृत्ति तथा व्यञ्जकत्व। इनमें प्रथम दो के लिए इन्होंने वृत्ति का प्रयोग करते हुए उन्हें मुख्यवृत्ति तथा गुणवृत्ति कहा है। स्पष्ट है यहाँ वृत्ति व्यापार अर्थ में है। सम्भवतः इसी से प्रेरित हो मुकुलभट्ट ने शब्दव्यापार के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है।[2]

---

1. ----पदार्थानां निश्चयमन्तरेण व्यवहारोपारोहिता नोपपद्यते। ---- निश्चयश्च शब्दसंभेदेनार्थं गोचरीकरोति। शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति मुख्यलाक्षणिकयोरभिधाव्यापारयोरत्र विवेकः क्रियते। अ० वृ० मा०, पृ० 1.।

2. वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। ध्व०, तृ० उ०, पृ० 361।

अभिधावृत्तिमातृका का समास-विग्रह करने पर इसका अर्थ होगा अभिधावृत्ति है माता जिसकी। इसका विग्रह इस प्रकार होगा- अभिधावृत्तिः एव माता यस्याः सा। देवमातृकाः देशाः (देवः पर्जन्यः माता येषां देवमातृका वृष्ट्यम्बुजीविनो देशाः)[1] के समान यह भी अन्य पद का विशेषण है। विचार करने पर यह साहित्य-विद्या का विशेषण प्रतीत होता है। मुकुलभट्ट के अनुसार साहित्य से तात्पर्य काव्यशास्त्र है। इनका मानना है कि अभिधावृत्ति का दश-वृत्त पद,वाक्य एवं प्रमाण में तो प्रतिबिम्बित है ही, साथ ही इसका उपयोग जो सम्पूर्ण व्यवहार के दर्पणभूत साहित्य में करता है उसकी वाणी प्रसन्न होती है अर्थात् वह वागीश्वर हो जाता है।[2] वाणी के अनेक अर्थों[3] में यदि सरस्वती अर्थ लें तो उसका अर्थ होगा सरस्वती प्रसन्न होती है और यदि भाषा अर्थ लें तो वाणी की प्रसन्नता का अभिप्राय होगा उसका पुष्ट होना।

इस प्रकार मुकुलभट्ट ने साहित्यविद्या के लिए अभिधा की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है। स्पष्ट है कि यह अभिधावृत्ति साहित्यविद्या के लिए माता के समान है। माता के भी अनेक अर्थों में यहाँ जननी तथा भूमि ये दो अर्थ लिये जा सकते हैं।[4] वाणी के पुष्टिकरण के अभिप्राय से माता का अर्थ जननी हुआ क्योंकि जननी का कार्य पोषण करना भी होता है। इसके अतिरिक्त भूमि जिस प्रकार प्राणियों के लिए आधारस्वरूपा होती है उसी प्रकार अभिधावृत्ति भी सम्पूर्ण सहित्यविद्या के लिए आधारभूमि है।

इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का नाम 'अभिधावृत्तिमातृका' सर्वथा सार्थक ही है। मकुलभट्ट के पूर्व आचार्य शालिकनाथमिश्र, जो कि प्रभाकरमिश्र के शिष्य थे, के ग्रन्थ का नाम भी 'वाक्यार्थमातृका' मिलता है।

---

1. किरातार्जुनीयम्, 1/17. पर मल्लिनाथकृत टीका, पृ० 72।
2. पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत् प्रतिबिम्बितम्।
   यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति।। (अ० वृ० मा०, पृ० 72)।
3. ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती। (अ० को०, पृ० 62)।
4. 'माता गौर्दुर्गा जननी मही। मातरश्च ब्रह्माण्याद्याः'। इति हैमः 2/181, (अ० को०, पृ० 212)।

परिशिष्ट 'ग'

निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित 'अभिधावृत्तिमातृका' तथा डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी कृत अनुवाद सहित प्रकाशित 'अभिधावृत्तमातृका' नामक ग्रन्थों में पाठ-भेद भी मिलता है। दोनों संस्करणों में मिलने वाले पाठ-भेदों की सूची इस प्रकार है-

1 (क) निर्णयसागर प्रेस –

क्रियाविशेषास्तत्समवेतं सामान्यमेव वाच्यम्।

(ख) डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी द्वारा सम्पादित –

क्रियाविशेषाः, तत्समवेतं तासां सामान्यमेव वाच्यम्। (पृ० 8)

2 (क) यत्र वस्त्वन्तरे उपचर्यते।

(ख) यत्र वस्त्वन्तरं वस्त्वन्तरे उपचर्यते। (पृ० 11)

3 (क) अत्रापि च वितर्कानिव धारयतोऽपि पयोधेः वितर्कधारणोपनिबन्धात्- - -।

(ख) अत्रापि च वितर्कानधारयतोऽपि पयोधेः वितर्कधारणोपनिबन्धात् - - -। (पृ० 34)

4 (क) अच्प्रत्ययस्याभाव इत्यप्रत्ययः- - - ।

(ख) अण्प्रत्ययस्याभाव इति अच्प्रत्ययः- - - । (पृ० 38)

5 (क) तथा त्रिकभेदाश्च- - - - ।

(ख) तथा तत्त्रिकभेदाश्च - - - । (पृ० 40)

6 (क) विभक्तन्यग्भागे निवेश्य- - - -।

(ख) विभक्तव्यभागे निवेश्या - - - -। (पृ० 48)

7 (क) वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षितत्वेन तस्यात्यन्तं तिरस्कारः।

(ख) वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षितत्वेन तस्य नात्यन्तं तिरस्कारः। (पृ० 59)

8 (क) तथाहि–तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता। लक्षणे तु वाच्यस्याविवक्षिततार्थान्तरसंक्रमितत्वात्।

(ख) तथाहि–तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता वाच्यस्यार्थान्तरसंक्रमितत्वात्। (पृ० 60)

9 (क) लक्षणात्मिकयोस्तु तयोर्वाच्यस्य विवक्षा नत्वत्यन्तं तिरस्कारः- - -।

(ख) लक्षणात्मिकयोस्तु तयोर्वाच्यस्याविवक्षित्वम्, नत्वत्यन्तं तिरस्कारः- - - । (पृ० 63)

10 (क) इदानीं सकलशब्दविषयविभागात्मकस्य- - - - ।

(ख) इदानीं सकलशब्दाविभागात्मकस्य- - -- । (पृ० 69)

11 (क) भट्टमुकुलविरचिता अभिधावृत्तिमातृका- - -- ।

(ख) भट्टमुकुलविरचिता अभिधावृत्तमातृका- - - - -- । (पृ० 73)

सहायक ग्रन्थ-सूची

अभिधावृत्तमातृका – मुकुलभट्ट, हिन्दीभाष्य सहित, डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1973 ।

अमरकोष – रामाश्रमी टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1997 ।

अलङ्कारमहोदधि – नरेन्द्रप्रभसूरि, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1942 ।

अलङ्कारसर्वस्वम् – रूय्यक, 'सञ्जीवनी' व्याख्या सहित, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1965 ।

आचार्य मम्मट – प्रो० धुंडिराजगोपालसप्रे, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1971 ।

आनन्दवर्धन – डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1972 ।

ऐतेरेय ब्राह्मण (भाग 1) – अनुवादक डॉ० सुधाकरमालवीय, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, 1996 ।

कवि और काव्यशास्त्र – डॉ० सुरेशचन्दपाण्डे, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1981 ।

काव्यानुशासनम् – हेमचन्द्र, मेहरचन्द्र, लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1986 ।

काव्यालङ्कार – भामह, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, 1985 ।

काव्यालङ्कारसूत्राणि – वामन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1995 ।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह – उद्भट, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1931 ।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या – व्याख्याकार डॉ० राममूर्तित्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1966 ।

काव्यलक्षणम् – दण्डीकृत काव्यादर्श पर आधारित – रत्नश्रिया टीका सहित, मिथिलाविद्यापीठ, दरभंगा, 1957 ।

काव्यादर्श – दण्डी, व्याख्याकार – आचार्यश्रीरामचन्द्रमिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1996 ।

काव्यतत्त्वसमीक्षा– नरेन्द्रनाथशर्माचौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, बैंग्लो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली,1959 ।

काव्यप्रकाश– मम्मट, डॉ० श्रीनिवासशास्त्री, साहित्यभण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1985 ।(उद्धरण इसी से दिये गये हैं) ।

काव्यप्रकाश– मम्मट – बालबोधिनी टीका झलकीकरवामनभट्ट विरचित, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1983 ।

काव्यप्रकाश (16 टीकाओं सहित) – मम्मट – डॉ० ज्योत्स्ना मोहन, नाग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम खण्ड – 1995, द्वितीय खण्ड – 1997 ।

काव्यप्रकाश – मम्मट– आचार्यविश्वेश्वरकृत हिन्दी टीका, ज्ञान–मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1960 ।

किरातार्जुनीयम्– भारवि, मल्लिनाथ की टीका सहित, (प्रथम अध्याय) अक्षयवट प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, 1983 ।

जैमिनिसूत्रवृत्ति– सुबोधिनीनामिका, मुद्रण– मेडिकल हाल, वाराणसी, 1956 ।

तत्त्वसंग्रह– आचार्यश्रीशान्तरक्षित, (प्रथम भाग), बौद्ध भारती, वाराणसी, 1981 ।

तर्कभाषा – केशवमिश्र, 1 . साहित्यभण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1987 (उद्धरण इसी से दिये गये हैं)।

2 . आचार्यविश्वेश्वरकृत हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1963 ।

दशरूपक – धनञ्जय (धनिककृत अवलोक टीका सहित)

1. साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1986–87 ।

2. 'चन्द्रकला' हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1990।

ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन

1. लोचन सहित (भाग 1 – 3) –मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। प्रथम भाग–1989 , द्वितीय भाग– 1989, तृतीय भाग–1981 । उद्धरण इसी से दिये गये हैं।

2. आचार्यविश्वेश्वर की हिन्दी व्याख्या– ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2042 वि० संवत् ।

3. दीपशिखा टीका सहित, आचार्यचण्डिकाप्रसादशुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1983 ।

ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त (भाग–1) – डॉ० भोलाशङ्करव्यास, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, 2013 वि० संवत् ।

ध्वनिप्रस्थान में आचार्य मम्मट का योगदान– डॉ० जगदीशचन्द्रशास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1977 ।

ध्वनिसिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य चिन्तन- डॉ० बच्चूलालअवस्थी 'ज्ञान', मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1972 ।

ध्वनिसिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय, उनकी मान्यताएँ - डॉ० सुरेशचन्द्रपाण्डे, वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972 ।

न्यायभाष्य- वात्स्यायनमुनि, सुधी प्रकाशन, वाराणसी, 1986 ।

न्यायमञ्जरी - जयन्तभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, 1936 ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली- श्री विश्वनाथपंचाननभट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1991 ।

निरुक्त - यास्क, पाँच अध्याय सहित (1-4, 7), 1. अनुवाद-पण्डित श्रीशिवनारायणशास्त्री, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, 1972 । (उद्धरण इसी से दिये गये हैं) ।

2 . मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, 1987 ।

परमलघुमञ्जूषा- नागेशभट्ट, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1985 ।

प्रकरणपञ्चिका - शालिकनाथमिश्र, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, 1903 ।

प्रतापरुद्रीय - विद्यानाथ, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1981 ।

प्राचीन भारत- डॉ० राजबलीपाण्डेय, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, 1976-77 ।

भारतीयदर्शन - डॉ० राधाकृष्णन् (भाग 1 - 2), राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1989 ।

भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण - श्रीसंगमलालपाण्डेय, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1976 ।

भारतीय साहित्य-शास्त्र- गणेशत्रयम्बकदेशपाण्डे, नागपुर ।

भारतीय साहित्यशास्त्र-कोष- डॉ० राजवंशसहाय 'हीरा', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1973 ।

महाभाष्य - प्रदीपोद्योत टीका सहित भाग 1 - 4 चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, भाग 1 - 1992, भाग 2 - 1991, भाग 3 - 1991, भाग 4 - 1991 ।

मीमांसा-दर्शन - जैमिनि, पाँच टीकाओं सहित (भाग 1 - 3), तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी, 1984 ।

मीमांसा-दर्शनम् - शाबरभाष्य, तन्त्रवार्तिक तथा टुप्टीका सहित (भाग 1-7), आनन्दाश्रम संस्था, पुणे, भाग 1 - 1976, भाग 2- 1981, भाग 3- 1980, भाग 4- 1984, भाग 5 - 1984, भाग 6- 1984, भाग 7- 1985 ।

मीमांसा-दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास- डॉ० गजाननशास्त्रीमुसलगाँवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1992 ।

रसगङ्गाधर - पण्डितराजजगन्नाथ (भाग 1 - 3) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, भाग 1- 1990, भाग 2 - 1987, भाग 3 - 1987 ।

राजतरङ्गिणी - कल्हण, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1985 ।

व्यक्तिविवेक- महिमभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी, 1993 ।

व्यञ्जनाविमर्श - डॉ० रविशङ्करनागर, वन्दना प्रकाशन, दिल्ली, 1977 ।

व्याकरण-तन्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव - डॉ० हरिराममिश्र, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1994 ।

वाक्यपदीय- भर्तृहरि

1. ब्रह्मकाण्ड - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1990 ।
2. वाक्यकाण्ड- सम्पूर्णानन्द -संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1980 ।
3. पदकाण्ड (जाति-द्रव्य-सम्बन्ध समुद्देशात्मक), सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1991 ।
4. पदकाण्ड (भूयोद्रव्य - गुण- दिक्- साधन - क्रिया- काल- पुरुष- संया - उपग्रह - लिङ्ग समुद्देशात्मक) ।

वाक्यार्थमातृका - शालिकनाथमिश्र, हिन्दी व्याख्या- डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 2036 वि० संवत् ।

विधिशास्त्र का साहित्य पर प्रभाव, मालाचन्द्रा, मित्तल पब्लिकेशन्स, दिल्ली ।

वेदान्तसार - सदानन्द, पीयूष प्रकाशक, इलाहाबाद, 1983 ।

वेदान्तपरिभाषा - धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1992 ।

वैदिक कोष - हंसराज एवं भगवद्दत्त, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर, वाराणसी, 1926 ।

वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा - नागेशभट्ट, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977 ।

वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा - नागेशभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1963 ।

वृत्तिदीपिका - श्री कृष्णभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।

वृत्तिसमुच्य - 1 . (प्रथमगुच्छके प्रथमो भागः) डॉ० ब्रह्ममित्रअवस्थी, इन्द्र प्रकाशन, दिल्ली, 1977 ।

2. (प्रथम गुच्छके द्वितीयो भागः) - डॉ० ब्रह्ममित्रअवस्थी, इन्द्र प्रकाशन, दिल्ली 1978 ।

वृत्तिमीमांसा - डॉ० श्रीकृष्णशर्मा, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1991 ।

श्लोकवार्तिक - कुमारिलभट्ट - (न्यायरत्नाकर व्याख्या सहित), रत्ना पब्लिकेशन्स, कमच्छा, वाराणसी, 1993 ।

शक्तिवाद- श्रीगदाधरभट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1986 ।

शब्दव्यापारविचार - मम्मट, हिन्दी व्याख्या- डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1974 ।

शब्दशक्ति- (आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश पर आधारित), डॉ० पुरुषोत्तमदासअग्रवाल, रोशनलाल जैन एण्ड सन्स, जयपुर, 1970 ।

शब्दशक्तिप्रकाशिका- जगदीशभट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी ।

शब्दार्थमीमांसा - डॉ० गौरीनाथशास्त्री, अनुवादक - श्री मिथिलेश चतुर्वेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1992 ।

शाब्दबोधविमर्श - डॉ० बद्रीनाथसिंह, डी० 43/20 गोदौलिया, वाराणसी ।

साहित्यदर्पण- विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983 ।

साहित्यमीमांसा- मङ्खक - सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1984 ।

सिद्धान्तकौमुदी- (तत्त्वबोधिनी टीका सहित) चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1997 ।

संस्कृत कवि-दर्शन- डॉ० भोलाशङ्करव्यास, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1983 ।

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- डॉ० सुशीलकुमारडे, हिन्दी अनुवाद- श्री मायारामशर्मा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, 1988 ।

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- पी० वी० काणे, हिन्दी अनुवाद डॉ० इन्द्रचन्द्रशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1994 ।

संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव - डॉ० अमरजीतकौर, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1979 ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में तात्पर्य एवं व्यञ्जनाशक्ति - एक विवेचन- डॉ० दामोदररामत्रिपाठी, प्रकाशक- डॉ० लखनप्रसादजायसवाल, संस्कृत विभाग, डी० ए० वी० डिग्री कालेज, वाराणसी, 1988 ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में लक्षणा का उद्भव तथा विकास - ठाकुरदत्तजोशी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1986 ।

संस्कृत ध्वनिविज्ञान – डॉ० हरिशङ्करत्रिपाठी, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद 1989।
संस्कृत सुकवि-समीक्षा – आचार्यबलदेवउपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1987 ।
संस्कृत-हिन्दी-कोष – वामनशिवरामआप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1987।
संस्कृत-हिन्दी- इंग्लिश कोष – सूर्यकान्त, ओरिएण्ट लाँगमैन लिमिटेड, दिल्ली, 1995 ।
हिन्दी काव्यमीमांसा – राजशेखर, हिन्दी व्याख्या-डॉ० गङ्गासागरराय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1982 ।
हिन्दी काव्यालङ्कार – रुद्रट, व्याख्याकार श्रीरामदेवशुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1989 ।
हिन्दी वक्रोक्तिजीवित – कुन्तक, हिन्दी व्याख्याकार – आचार्यविश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1955 ।
हिन्दी सर्वदर्शन संग्रह – माधवाचार्य, हिन्दीभाष्यकार, डॉ० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1994।
Abhinavagupta - An Historical and Philosophical Study, by Dr. K. C. Pandey, Chowkhmba Sanskrit Series Office, 1963.
Bhoja's Sringar Prakasha, by V. Raghavan, Sri Krishnapuram street, Madras, 1963.
Philosophy of Word and Meaning, by Dr. Gauri Nath Shastri, Calcutta Sanskrit College research series (5.), 1949.
Number of Rasas, by V. Raghvan (Adyar Library), 1975.
History of Sanskrit Poetics, by S.K.Dey, 2nd Ed. 1960.
Dhvanvaloka Theory of Suggestion in Poetry, by K. Krishnamoorthy, OBA Poona, 1955.
New Catalogus Catalogorum, An Alphabatical Register of Sanskrit and Allied Works and Authors, Vol. 1, University of Madras, 1969.

पत्र – पत्रिकाएँ

English

Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute.

Allahabad University Studies, Allahabad,
Journal of Ganganath Jha Institute, Allahabad.
Journal of Andhra Historical Research Society.
Indian Historical Quarterly, Calcutta.
Journal of Indian Philosophy, Boston, U.S.A.
Tattvaloka, Journal of Vedānta, Banglore.
Ritam (ऋतम्) Journal of Akhil Bhartiya Sanskrit Parishad, Lucknow.

हिन्दी

प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी।
संगमनी (संस्कृत त्रैमासिकी पत्रिका) संस्कृत साहित्य-परिषद्, दारागंज, प्रयाग ।
अजस्रा (संस्कृत त्रैमासिकी) अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ ।

अभिधावृत्तिमातृकाकारिकाः

शब्द-व्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते।। 1।।
तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः।
शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता।। 2।।
उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता।
स्वसिद्ध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत्।। 3।।

उपादानं,

लक्षणं तु तद्विपर्यासतो मतम्।
आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयोः।। 4।।
प्रत्येकं भिद्यमानत्वादुपचारश्चतुर्विधः।
तटस्थे लक्षणा शुद्धा स्यादारोपस्त्वदूरगे।। 5।।
निगीर्णेऽध्यवसानं तु रूढ्यासन्नतरत्वतः।
वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात्।। 6।।
लक्षणा षट्प्रकारैषा विवेक्तव्या मनीषिभिः।
अन्वयेऽभिहितानां सा वाच्यत्वादूर्ध्वमिष्यते।। 7।।
अन्वितानां तु वाच्यत्वे वाच्यत्वस्य पुरः स्थिता।
द्वये द्वयमखण्डे तु वाक्यार्थपरमार्थतः।। 8।।
नास्त्यसौ कल्पितेऽर्थे तु पूर्ववत् प्रविभज्यते।
मुख्यार्थासंभवात् सेयं मुख्यार्थासत्तिहेतुका।। 9।।
रूढेः प्रयोजनाद् वापि व्यवहारे विलोक्यते।
सादृश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्यातितिरस्क्रिया।। 10।।
विवक्षा चाविवक्षा च संबन्धसमवाययोः।
उपादाने विवक्षात्र लक्षणे त्वविक्षणम्।। 11।।
तिरस्क्रिया क्रियायोगे क्वचित् तद्विपरीतता।
विवर्त्तमानं वाक्तत्त्वं दशधैवं विलोक्यते।। 12।।

संहृतक्रमभेदे तु तस्मिंस्तेषां कुतो गतिः।
इत्येतदभिधावृत्तं दशधाऽत्र विवेचितम्।। 13।।
पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत् प्रतिबिम्बितम्।
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति।। 14।।
भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता।
सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्ति-मातृका।। 15।।

इति शारदाचरणरजःकणपवित्रितस्थल-वास्तव्य-श्रीकल्लटात्मज-भट्टमुकुलविरचिता अभिधावृत्तिमातृका समाप्ता।

।।श्रीः।।

काश्मीरक-श्रीमुकुलभट्टविरचिता

२२५

अभिधावृत्तिमातृका

इह खलु भोगापवर्गसाधनभूतानां तद्विपर्ययपरिवर्जनप्रयोजनानां च पदार्थानां निश्चयमन्तरेण व्यवहारोपारोहिता नोपपद्यते। तथा हि- सर्वाणि प्रमाणानि प्रमेयावगतिनिबन्धनभूतानि निश्चयपर्यवसायितया प्राधान्यं भजन्ते। प्रमाणनिबन्धना च भोगापवर्गसाधनभूतानां तद्विपर्ययपरिवर्जनप्रयोजनानां च पदार्थानामवगतिः। अतो निश्चय एव तेषां पदार्थानां व्यवहारोपारोहनिबन्धनम्। निश्चयश्च शब्दसंभेदेनार्थं गोचरीकरोति। शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति मुख्यलाक्षणिकयोरभिधाव्यापारयोरत्र विवेकः क्रियते।

कः पुनर्मुख्यो लाक्षणिको वाभिधाव्यापार इत्याशङ्क्य विषयोपदर्शनद्वारेण मुख्यलाक्षणिकौ शब्दव्यापारावुपवर्णयितुमाह-

शब्द-व्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते।।1।।

शब्दव्यापाराद् यस्यावगतिस्तस्य मुख्यत्वम्। स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते। तस्मान्मुखमिव मुख्य इति शाखादियान्तेन मुख्यशब्देनाभिधीयते। तस्योदाहरणं 'गौरनुबन्ध्य' हति। अत्र हि गोशब्दव्यापाराद् यागसाधनभूता गोत्वलक्षणा जातिरवगम्यते। अतस्तस्या मुख्यता। तदेवं शब्दव्यापारगम्यो मुख्योऽर्थः।

यस्य तु शब्दव्यापारगम्यार्थपर्यालोचनयावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम्। यथा [गौरनुबन्ध्य इति] पूर्वस्मिन्नेवोदाहरणे व्यक्तेः। सा हि न शब्दव्यापारादवसीयते, 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायात् शब्दस्य जातिमात्रपर्यवसितत्वात्। जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधनभावं न प्रतिपद्यते इति शब्दप्रत्यायितजातिसामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते। तेनासौ लाक्षणिकी।

एवमयं मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधाव्यापारो द्विविधः प्रतिपादितो निरन्तरार्थविषयः सान्तरार्थनिष्ठश्च।

संप्रति मुख्याभिधाव्यापारस्य चातुर्विध्यमभिधीयते–

तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः।

तयोर्मुख्यलाक्षणिकयोरर्थयोर्मध्यान्मुख्यस्यार्थस्य चत्वारो भेदाः, जात्यादिभेदात्। चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिर्भगवता महाभाष्यकारेणोपवर्णिता 'जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चे'–ति। तथाहि सर्वेषां शब्दानां स्वार्थाभिधानाय प्रवर्त्तमानानामुपाध्युपरञ्जितविषयविवेकत्वादुपाधिनिबन्धना प्रवृत्तिः। उपाधिश्च द्विविधः वक्तृसन्निवेशितो वस्तुधर्मश्च। कश्चित् खलु वक्त्रा तस्मिंस्तस्मिन् वस्तुन्युपाधितया सन्निवेश्यते, कश्चित्तु वस्तुधर्म एव। तत्र यो वक्त्रा यदृच्छया तत्तत्संज्ञिविषयशक्त्यभिव्यक्तिद्वारेण तस्मिंस्तस्मिन् संज्ञिनि संनिवेश्यते स वक्तृसंनिवेशितः, तथा डित्थादीनां शब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपम्। तत् खलु तां तामभिधाशक्तिमभिव्यञ्जयता वक्त्रा यदृच्छया तस्मिंस्तस्मिन् संज्ञिनि उपाधितया संनिवेश्यते। अतस्तन्निबन्धना यदृच्छाशब्दा डित्थादयः। येषामपि च डकारादिवर्णव्यतिरिक्तसंहृतक्रमस्वरूपाभावान्न डित्थादिशब्दस्वरूपं संहृतक्रमं संज्ञिष्वध्यवस्यते–इति दर्शनं तेषामपि वक्तृयदृच्छाभिव्यज्यमानशक्तिभेदानुसारेण काल्पनिकसमुदायरूपस्य डित्थादेः शब्दस्य तत्तत्संज्ञाभिधानाय प्रवर्त्तमानत्वाद् यदृच्छाशब्दत्वं डित्थादीनामुपपद्यत एव। तदेवं पूर्वमुपदर्शितो यो वैयाकरणनयः तदाश्रयेण उपाधिर्वक्तृसंनिवेशितस्वरूपाख्यो व्याख्यातः।

यस्य तु वस्तुधर्मत्वेनोपाधेरवस्थानं तस्यापि द्वैविध्यम्, साध्यसिद्धताभेदात्। तत्र साध्योपाधिनिबन्धनाः क्रियाशब्दाः, यथा पचतीति। सिद्धस्य तूपाधि द्वै, (धेर्द्वै) विध्यम्,जातिगुणभेदात्। कस्यचित् खलु सिद्धस्योपाधिः (धेः) पदार्थस्य प्राणप्रदता, यथा जातेः, न हि कश्चित् पदार्थो जातिसंबन्धमन्तरेण स्वरूपं प्रतिलभते, यदुक्तं वाक्यपदीये– 'गौरिति न हि गौः स्वरूपेण गौः' नाप्यगौः, गोत्वाभि-सम्बन्धात्तु गौः'–इति। कश्चित् पुनरुपाधिर्लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो विशेषाधानहेतुः, यथाशुल्कादिर्गुणः। न हि शुक्लादेर्गुणस्य पटादिवस्तुस्वरूपप्रतिलम्भनिबन्धनत्वम्, जातिमहिम्नैव तस्य वस्तुनः प्रतिलब्धस्वरूपत्वात्। अतोऽसौ लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो विशेषाधानहेतुः। येऽपि च नित्या परमाणुत्वादयो गुणास्तेषामपि सर्वेषां गुणजातीयत्वादेवंप्रकारत्वमेव। तदेवं प्राणप्रदोपाधिनिबन्धनत्वं यस्य शब्दस्य स जातिशब्दो यथा गवादिः। यस्माल्लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो विशेषाधानहेतुरर्थः प्रतीयते स गुणशब्दो यथा शुक्लादिः।

ननु सर्वेषामपि गुणक्रियायदृच्छाशब्दाभिमतानां जातिनिबन्धनत्वम्। तथाहि गुणशब्दानां तावच्छुक्लादीनां पयःशङ्खबलाकाद्याश्रयसमवेता ये शुक्लादिलक्षणा गुणा विभिन्नास्तत्समवेतसामान्यवाचिनः। एवं क्रियाशब्दानामपि गुडतिलतण्डुलादिद्रव्याश्रिता ये पाकादयोऽन्योन्यमन्यत्वेनावस्थिताः क्रियाविशेषाः, तत्समवेतं तासां सामान्यमेव वाच्यम्। यदृच्छाशब्दानां तु डित्थादीनां शुकसारिकामनुष्याद्युदीरितेषु भिन्नेषु डित्थादिशब्देषु समवेतं डित्थशब्दत्वादिकं सामान्यमेव यथायोगं संज्ञिष्वध्यस्तमवसेयम्। यदि चोपचयापचययोगितया डित्थादौ संज्ञिनि प्रतिकालं भिद्यमानेष्वभिद्यमानो यन्महिम्ना डित्थो डित्थ इत्येवमादिरूपत्वेनाभिन्नाकारः प्रत्ययो बाधशून्यः सञ्जायते तैः (तत्) तथाभूतं डित्थादिशब्दावसेयवस्तुसमवेतमेव डित्थत्वादिसामान्यमेष्टव्यम्, तच्च डित्थादिशब्दैरभिधीयते। अतश्च गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्नोपपद्यते।

अत्राभिधीयते– गुणक्रियाशब्दसंज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजुषामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्वम्, न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्यात्राभिमतम्। यथा हि एकमेव मुखं तैलखड्गोदकादर्शादीनां प्रतिबिम्बावगतिनिबन्धनानां भेदान्नानाकारत्वेन प्रत्यवभासते तथैकैव शुक्लादिव्यक्तिर्देशकालावच्छिन्ना तत्तत्कारणसामग्र्युपजनित शङ्खाद्याश्रय-विशेष-वशेन नानारूपतयाभिव्यक्तिमासादयन्ती विचित्रेव स्यादिति। अतश्च तस्याः शुक्लादिव्यक्तेरेकत्वाज्जातेश्च भिन्नाश्रयसमवेतत्वात् शुक्लत्वादिजात्यभावान्न शुक्लादिशब्दानां जातिशब्दत्वम्। एवं पचतीत्यादौ डित्थशब्दादौ डित्थादौ च संज्ञिनि वाच्यम्। अत्राप्येकस्या एव पाकादिक्रियाव्यक्तेः डित्थादिशब्दव्यक्तेः डित्थादेश्च संज्ञिनो यथाक्रममभिव्यञ्जकानां पाकादीनां तथा ध्वनीनां वयोवस्थाविशेषाणां कौमारादीनां च यो भेदस्तद्वशेन नानाविधेन रूपेणावभासमानत्वात् स्थितमेतच्छब्द-प्रवृत्तिनिमित्तानां चतुष्ट्वान्मुख्यः शब्दार्थश्चतुर्विध इति।

अधुना लाक्षणिकस्य द्विभेदत्वमुपदर्शयितुमाह–

शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता।।2।।

लक्षणाया द्विप्रकारत्वम् शुद्धत्वादुपचारमिश्रत्वाच्च। शुद्धा तावल्लक्षणा 'गङ्गायां घोष' इति। अत्र हि घोषं प्रति स्रोतोविशेषस्याधारता नोपपद्यते इति गङ्गाशब्दः स्वाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य यः समीपभूतस्तटः, तं, लक्षणयावगमयति। उपचारमिश्रा तु यत्र वस्त्वन्तरं वस्त्वन्तरे उपचर्यते, यथा 'गौर्वाहीक' इति। अत्र हि गोशब्दो वाहीकशब्देनानुपपद्यमानसामानाधिकरण्याद् बाधितमुख्यार्थः सन् गोगता ये जाड्यमान्द्यादयो गुणाः, तत्सदृशवाहीकगत-जाड्यमान्द्यादिगुणलक्षणाद्वारेण

गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादिगुणोपेते वाहीक उपचरितः। तेनेयमुपचारमिश्रा लक्षणा। एवं शुद्धोपचारमिश्रत्वभेदेन लक्षणायां द्वैविध्यमुक्तम्।

इदानीं तु शुद्धाया अपि लक्षणाया द्वैविध्यं दर्शयति–

उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता।

येयं लक्षणा शुद्धा प्रतिपादिता सा द्विविधोक्ता। क्वचित् खल्वर्थान्तरोपादानेन लक्षणा प्रवर्तते, क्वचित्तु अर्थान्तरलक्षणेन। किं पुनरर्थान्तरस्योपादानं किंवा तस्य लक्षणमित्याशङ्क्याह–

स्वसिद्ध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत्।।3।।
उपादानं, लक्षणं तु तद्विपर्यासतो मतम्।

यत्र स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम् यथा 'गौरनुबन्ध्य' इति। अत्र हि गोत्वस्य यागं प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिद्ध्यर्थतया व्यक्तेराक्षेपः। यथा च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति। अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन कारणभूतं नाभावविशिष्टतयावगम्यमनमेव कार्यत्वात् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति। न हि पीनत्वस्य रसायनाद्युपयोगजन्यता, प्रमाणान्तरेण तदभावावसाये सत्येतस्योदाहरणत्वात्। पीनत्वस्य चात्र दिनाधिकरणकभोजनाभावविशिष्टत्वेन रसायनाद्युपयोगबाधहेतुत्वात्। अत्र च रात्रौ भुङ्क्ते इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया प्रमाणस्यापरिपूरणस्य परिपूरणात् श्रुतार्थापत्तित्वं भवतु, अथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति सर्वथा स्वसिद्ध्यर्थत्वेनार्थान्तरस्याक्षेपपूर्वकतयान्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते।

यत्र तु पूर्वोदितोपादानरूपविपर्याससंश्रयान्न स्वार्थसिद्ध्यर्थतयार्थान्तरस्याक्षेपः, अपि त्वर्थान्तरसिद्ध्यर्थत्वेन स्वार्थसमर्पणम्, तत्र लक्षणम्, यथा पूर्वमुदाहृतं 'गङ्गायां घोष' इति। अत्र हि तटस्य घोषाधारतया धारणक्रियान्वितस्य गङ्गाशब्देन स्ववाच्यभूतः स्रोतोविशेषोऽत्र समर्प्यते इत्यर्थान्तरसिद्ध्यर्थत्वेन स्वार्थसमर्पणम्। एवं चात्र पूर्वोदितोपादानरूपविपर्यासाल्लक्षणत्वम्। एवं शुद्धा लक्षणा द्विविधा प्रविभक्ता।

इदानीमुपचारमिश्रां चतुर्भेदत्वेन निरूपयितुमाह–

आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयोः।।4।।
प्रत्येकं भिद्यमानत्वादुपचारश्चतुर्विधः।

द्विविधः उपचारः, शुद्धो गौणश्च। तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभवस्या–

भावेनोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणासंभवात् कार्यकारणभावादिसंबन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते, यथा 'आयुर्घृतमि'ति। अत्र ह्यायुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारणभावाल्लक्षणापूर्वकत्वेनायुष्ट्वं कार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः।

गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगतगुणसदृश-गुणयोगलक्षणां पुरस्सरीकृत्योपमेय उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते, यथा 'गौर्वाहीक' इति। अत्र हि गोगतजाड्य-मान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्दगोत्वयोरुपचारः।

केचित् तु उपचारे शब्दोपचारमेव मन्यन्ते, नार्थोपचारम्, तदयुक्तम्, शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्।

एवमयमुपचारः शुद्धगौणभेदेन द्विविधोऽभिहितः।

तस्य च प्रत्येकं द्वैविध्यम्, अध्यारोपाध्यवसानाभ्याम्। यत्राध्यारोप्यारोप-विषययोर्भेदमनपह्नुत्यैव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते तत्रानपह्नुतस्वरूप एव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्याधिकस्यारोप्यमाणत्वादध्यारोपः, यथा पूर्वोक्तयोरुदाहरणयोः। तथाहि आयुर्घृतमित्यत्र नायुर्लक्षणकार्यान्तर्लीनतया कारणभूतस्य घृतस्य प्रतिपत्तिः, स्वरूपेणैव तस्य प्रतिपत्तेः। स्वरूपेणैव तु तस्य प्रतीयमानस्यायुःकारणत्वादायुष्ट्वं प्रतीयते। तेनात्राध्यारोपः। एवं गौर्वाहीक इत्यत्रापि उपमानोपमेयस्वरूपानपह्नवात्। तदेवं यत्रोपचर्यमाणेनोपचर्यमाणविषयस्य स्वरूपं नापह्नूयते तत्राध्यारोपः।

यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्तर्लीनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्राध्यवसानम्। तत्र शुद्धोपचारेऽध्यवसानस्योदाहरणं 'पञ्चाला' इति। अत्र हि पञ्चालापत्यनिवासाधिकरणत्वाज्जनपदे लक्षितलक्षणया पञ्चालशब्दः प्रयुज्यते। पञ्चालेनापत्यानां लक्षणाद्, अपत्यैश्च स्वनिवासाधिकरणस्य जनपदस्य। न चात्रोपचर्यमाणार्थविषयस्योपचर्यमाणाद् भेदेन प्रतिपत्तिः उपचर्यमाणार्थनिगीर्णतयैव तस्य प्रतिपत्तेः। तेनात्रोपचारत्वं रूढिमाहात्म्याद् भ्रष्टमिव लक्ष्यते। अतोऽत्राध्यवसानगर्भः शुद्ध उपचारः। गौणोपचारे तु अध्यवसानस्योदाहरणं 'राजे'ति। राजशब्दो ह्यत्र प्रयोगदर्शनात् क्षत्रिये मुख्यया वृत्त्या प्रयुक्तः सन् शूद्रादौ क्षत्रियगतजनपदपरिपालनसदृशजनपदपरिपालनयोगलक्षणपूर्वकतया गौणवृत्त्या युज्यते। न चात्र झगित्येव गौणत्वस्यावगतिः, विचारणाव्यवस्थाप्यत्वात्। तेनात्र गौणत्वं झगित्येवाप्रतीयमानत्वाद् भ्रष्टं सद् विचारणया समधिगम्यते। अतोऽत्राध्यवसानगर्भो गौण उपचारः। तदेवमुपचारश्चतुर्विधः प्रविभक्तः।

एतेन चतुर्विधेनोपचारेण सह पूर्वोक्तौ द्वौ लक्षणाभेदौ संकलय्य षट्प्रकारा लक्षणा वक्तव्या।

एषा च लक्षणा त्रिस्कन्धा शुद्धत्वाद्, अध्यारोपाद्, अध्यवसानाच्च। तत्र शुद्धस्कन्धस्य द्वैविध्यमुपादानलक्षणाभ्यामुक्तम्, अध्यारोपाध्यवसानस्कन्धयोरपि प्रत्येकं द्विप्रभेदता, शुद्धगौणोपचारमिश्रत्वात्। तत्रैतेषां त्रयाणां स्कन्धानां विषयविभागं प्रदर्शयितुमाह–

तटस्थे लक्षणा शुद्धा स्यादारोपस्त्वदूरगे।। 5।।
निगीर्णेऽध्यवसानं तु रूढ्यासन्नतरत्वतः।

यैषा लक्षणा शुद्धा उपादानलक्षणात्मकत्वेन द्विप्रभेदा प्रतिपादिता सा लक्षकार्थानुपरक्तत्वात् तटस्थतया प्रतीयमाने लक्ष्येऽर्थे द्रष्टव्या। न हि तत्र लक्षकार्थोपरक्ततया लक्ष्यस्यार्थस्यावगतिः। तथाहि– 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र घोषाधिकरणभूत-तटोपलक्षणाभिसंधानेन 'गङ्गायां घोषो न वितस्तायामि' ति गङ्गाशब्दे प्रयुज्यमाने तटस्य स्रोतोविशेषेणोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्तत्वेनोपरागो न प्रतीयते, तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात्। एवमुपादानेऽपि वाच्यम्, यथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति।

यदा तु गङ्गाशब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्याविदूरवर्त्तितया तटमनपह्नुतस्वरूपं स्रोतोविशेषोपरक्ततया विवक्षितं भवति तदा पूर्वस्मिन्नुदाहरणेऽध्यारोपो भवति। स्रोतोविशेषोपरक्तस्य तटस्य प्रतीतेः स्रोतोविशेषाविदूरवर्त्तित्वात् स्रोतोविशेषरूपे तटे घोष इति। यदा त्वत्यन्तमासन्नतां घोषं प्रति स्रोतोविशेषस्य प्रतिपादयितुमेतद् वाक्यं स्रोतोविशेषनिगीर्णतया तटमपह्नुत्य प्रयुज्यते 'गङ्गायामेव साक्षाद् घोषः न त्वन्यत्रे 'ति, तदाध्यवसानम्।

यथा चैतच्छुद्धोपचारनिष्ठतयाध्यारोपाध्यवसानयोरुदाहरणमुक्तं तथा गौणेऽप्युपचारे वाच्यम्– 'गौर्वाहीक' इति 'गौरेवायं' साक्षादि 'ति च। अत्रापि यथाक्रमं गोगतगुणसदृशगुणयोगद्वारेण गोरविदूरत्वेन वाहीकस्य विवक्षितत्वाद् गोत्वाध्यारोपः, गोगतानां तु गुणानामुत्कटत्वेन वाहीकस्य गोत्वाध्यवसानम्।

यथा चासन्नतरत्वेनाध्यवसानं पूर्वं प्रविभक्तं तथा रूढत्वेनापि प्रविभक्तव्यम्, यथा पूर्वोपदर्शितयोरुदाहरणयोः 'पञ्चाला' इति तथा 'राजे 'ति। तदिदमुक्तं 'रूढ्यासन्नतरत्वत' इति। रूढत्वाद् आसन्नतरत्वाच्च निगीर्णेऽर्थेऽध्यवसानं स्यादित्यर्थः।

ननु–

मुख्यार्थे शब्दस्य संबन्धावधारणात् प्रतिपादकत्वमुपपद्यते, न तु लाक्षणिके, तद्विपर्ययात्। तथाहि–संबन्धावधारणसमये व्यवहर्तृगतयोस्तावत् शब्दप्रयोगार्थ-पतिपत्त्योरविभक्तोद्देशवाक्यवाक्यार्थनिष्ठतया पूर्वं हेतुफलभावावसायो भवति। तदनन्तरं च त्रिचतुरादिदर्शनेभ्योऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यवाक्यार्थोद्देशप्रविभागगते ये शब्दप्रयोगार्थप्रतिपत्ती तन्निष्ठकार्यकारणभावावधारणम्, तदुत्तरकालं च व्यवहर्तृगतार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दार्थसंबन्धावगतिः। सा च मुख्य एवार्थे जात्यादौ चतुर्विधे, न तु लाक्षणिके षट्प्रकारे। न हि लाक्षणिकेनार्थेन सह शब्दस्य संबन्धः। मुख्येनैवार्थेन परिदृश्यते। तथाभावे हि सति तस्य मुख्यत्वमेव स्यान्न लाक्षणिकत्वम्।

अथ शब्दस्य मुख्यो योऽसावर्थस्तेन सह संबन्धो लक्ष्यमाणस्यार्थस्य दृष्ट इति तद्द्वारेण शब्दात् तस्यावगतिरित्यभिधीयते, एवं सति यदि निरपेक्षः स्वार्थप्रतिपादनद्वारेण लक्ष्यमाणमर्थमवगमयति तदा सर्वदा तमर्थमवगमयेत्, अथ सापेक्षः, किं तस्यापेक्षणीयमित्याशङ्क्याह–

वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात्।।6।।
लक्षणा षट्प्रकारैषा विवेक्तव्या मनीषिभिः।

यः परिप्रतिपत्तये वाक्यमुच्चारयति स वक्ता। साकाङ्क्षाणां पदानामेकार्थः समूहो वाक्यम्। शब्देन मुख्यं लाक्षणिकं वाभिधाव्यापारमाश्रित्य यद् गोचरीक्रियते तद् वाच्यम्। एतेषां त्रयाणां वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तभेदभिन्नानां देशकालावस्थावैलक्षण्यगत-समस्त-व्यस्त-भेद-संयोजितानां यः स्वभावभेदप्रपञ्चः, तत एषा षट्प्रकारा लक्षणा परामर्शकुशलैर्विवेचनीया। तथाविधवक्त्रादिसामग्र्यपेक्षयैव शब्दानां स्वार्थमेवगमयतां स्वार्थद्वारेण लक्ष्यमाणार्थसंबन्धस्य वृद्धव्यवहारेणावधारितत्वात्। **एतदुक्तं भवति**– न शब्दानामनवधारितलाक्षणिकार्थसंबन्धानां लाक्षणिकमर्थं प्रति गमकत्वम्, नापि च तत्र साक्षात्संबन्धग्रहणम्, किं तर्हि वक्त्रादिसामग्र्यपेक्षया स्वार्थव्यवधानेनेति। यदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना– 'कथं पुनः परशब्दः परत्र वर्त्तते, स्वार्थाभिधानेनेति ब्रूमः' इति। अत्र हि स्वार्थद्वारेण लक्ष्यमाणार्थाभिनिवेशिता शब्दानामुक्ता। पुनश्चासावेवाह–'लक्षणापि हि लौकिक्येवे'–ति। अत्र हि संबन्धावधारणसापेक्षाणां शब्दानां लक्ष्यमाणेऽर्थे प्रवृत्तिरुक्ता। व्यवहारोपारूढानि हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि लोकशब्देनाभिधीयन्ते। लोक एव विदिता लौकिकी व्यवहारावगम्या परिगृहीतसंबन्धशब्दनिष्ठेत्यर्थः। तदुक्तं भट्टकुमारिलेन–

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।। इति।

तत्र निरूढा लक्षणा राजेत्यादिकाः। साम्प्रतं क्रियन्ते या वृद्धव्यवहारवक्त्राद्यपेक्षया तथाविधेऽन्यत्र विषये परिदृष्टस्वभावाः। यथा–

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः सीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भवे'–ति।।

अत्र हि लिप्तशब्दः कान्तेः कुङ्कुमादिवल्लेपनसाधनत्वाभावाद् बाधितमुख्यार्थः, अतस्तेन स्वार्थगतो योऽसावीषत्तिरोधीयमानत्वादिधर्मः प्रतिपादितः तत्सदृशेषत्तिरोधीयमानत्वादिधर्मयोगात् कान्तिसंपृक्तोऽर्थो लक्ष्यते। एवं सुहृच्छब्देनापि पयोदानामचेतनत्वेन मैत्रीसंबन्धाभावान्मुख्यशब्दार्थबाधे सति सुहृद्गता ये ते ते सांमुख्यादयो धर्माः तत्सदृशसांमुख्यादिधर्मयोगतः पयोदाभिमुखा मयूरा लक्ष्यन्ते। रामशब्दस्यापि प्रतिपन्नत्वात् संज्ञिनो मुख्यशब्दार्थबाधः। अतस्तेनापि राज्यभ्रंश वनवास सीतापनयन–पितृमरणादयःस्वाभिधेयभूतार्थैकगामिनोऽसाधारणदुःखहेतवो धर्मा विशिष्टसामग्र्यनुप्रविष्टेन लक्षिताः। तत्, एवमादीनां लक्षणानां साम्प्रतं क्रियमाणता।

यासां तु लक्षणानां न वृद्धव्यवहारे दृष्टता, न च तस्मिन् शब्दे राजशब्दवद् दर्शनम्, नापि च तज्जातीयेषु शब्दान्तरेषु लिप्तादिशब्दवत्, तासामशक्यत्वाद–क्रियमाणत्वमेव। यथा–

मध्येसमुद्रं कुकुभः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनभूमि–भासा।
तुरङ्ग–कान्तानन–हव्यवाह–ज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास।।–इति।

अत्र हि 'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह'–शब्दो वडवामुखाग्नौ लक्षणया प्रयुक्तः। न चासौ वडवामुखाग्नौ निरूढः, नापि च तज्जातीयः शब्दो विशिष्टसामग्र्यनुप्रविष्टतया विद्धाविद्धार्थावगाहित्वेन परिदृष्टः।

ननु–

'द्विरेफादीनां शब्दानां रेफद्वितयानुगत–भ्रमरादि–शब्द–लक्षणाद्वारेण यथा षट्पदादौ प्रवृत्तिः, तथा तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहशब्दस्यापि वडवामुखाग्नौ वडवादिशब्दलक्षणाद्वारेण कथं प्रवृत्तिर्न स्यात्, तज्जातीये द्विरेफादौ शब्दलक्षणायाः परिदृष्टत्वात्।

नैतत्,

यतो वृद्धव्यवहाराभ्यनुज्ञातेष्वेव शब्देषु तज्जातीयशब्ददर्शनात् लक्षणात्वमभ्युपगम्यते, न तु सर्वत्र। अन्यथा सर्वेषामेव शब्दानां येन केनचिज्जातिलेशेन सर्वानर्थान् प्रति लक्षणाशब्दत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात् न कश्चिच्छब्दः कञ्चिदर्थं प्रत्यवगमकः स्यात्। वृद्धव्यवहाराभ्यनुज्ञानानभ्यनुज्ञानाभ्यां तु विषयविभागे क्रियमाणे तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहेत्यादीनामसति प्रयोजने दुष्टत्वमेव, सति तु गुप्तार्थप्रतिपादनादिप्रयोजनसंभवे एवंविधानामपि लक्षणानामदुष्टत्वम्। तथाविधविषये वृद्धव्यवहारेण तासामभ्यनुज्ञातत्वात्।

तदेवं वक्त्रादिसामग्र्यनुप्रवेशेन शब्दानां स्वार्थमर्पयतामर्थान्तरं प्रति वृद्धव्यवहारे स्वरूपद्वारेण सजातीयशब्दद्वारेण वा गमकतयावधारितानां लक्षकत्वमिति स्थितम्।

तत्र वक्तृनिबन्धनत्वेन यत्र लाक्षणिकोऽर्थोऽवगम्यते तत्रोदाहरणम्–

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि,
प्रायो नैष शिशोः पिताऽस्यविरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि तद् वरमितः स्त्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रा वपुरालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः।।-इति।

अत्र हि परपुरुषसंभोगानुभवेच्छया सङ्केतस्थानं युवतिर्व्रजन्ती स्वप्रवृत्तिप्रयोजनं विशिष्टसङ्केतस्थानाधारं परपुरुषसंभोगात्मकं तथा संभोगचिह्नानि नखदशनक्षतानि गात्रसंलग्नतया शङ्क्यमानाविर्भावाणि यथाक्रमं भर्तृपिपासा-निवृत्ति-क्षम-नादेय-सरस-पानीयानयनेन चिरच्छिन्न-नल-ग्रन्थि-परुष-जर्जर-प्रान्त-जनयिष्यमाणेन च गात्रगत-विकारविशेषोद्गमेनापह्नुत्याभिधत्ते। सा चात्रापह्नुतिरसाध्या वक्तृत्वं पर्यालोच्यावगम्यते। अपह्नवस्य चालीकवस्त्वभिधानात्मकत्वादलीकस्य च सत्यार्थविपर्यासकारित्वादलीकेनार्थेन त्वसत्योक्तः (?) स्वसिद्ध्यर्थत्वेनाक्षिप्यते। तेनात्र वक्तृविशेषपर्यालोचनया सत्यार्थे निष्ठाया उपादानात्मिकाया लक्षणायाः प्रतिपत्तिः। न ह्यत्र वाक्यवाच्ययोः सामर्थ्यम्। साध्व्या वक्तृत्वे सति तयोरेवंविधार्थाक्षेपासमर्थत्वात्।

वाक्यगत-रूपविशेष-पर्यालोचनया तु यत्र लाक्षणिकार्थपरिग्रहः, तत्रोदाहरणम्–

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या–
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति स सकलद्वीपनाथानुयात–
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः।।-इति।

अत्र हि चाटुश्लोकेनोपश्लोक्यते यो नृपतिस्तदीयबलभरक्षोभ्यमाणस्वावस्थस्य समुद्रस्य यः कम्पः अतिशयोक्त्योपवर्णितः तस्य समुद्रकर्तृकवितर्क-धारणहेतुकत्वमत्रोत्प्रेक्षितम् 'इति वितर्कान् दधत इवे'ति। ते च वितर्काः प्राप्तश्रीरित्यादिना भगवद्वासुदेवस्य व्यापारविशेषविषयाः। यावच्च तस्य नृपतेर्भगवद्वासुदेवता न समस्ति तावत् कथं तदीयेषु व्यापारविशेषेषु संशयः समुपजायते। अतोऽत्र यदेतद् बलभरा-क्रान्तत्वेन समुद्रस्याकम्पमानस्यापि कम्पमानार्थसादृश्यात् कम्पमानत्वमध्यवसितम् तत्राध्यवसानगर्भगौणोपचारः, अकम्पमानस्यापि तस्य कम्पनार्थत्वेनाध्यवसितत्वात्। अत एव चेयं भेदेऽप्यभेद इत्येवमात्मिकातिशयोक्तिः। विकल्पवशाद् यश्चेतनानां मूर्धकम्पो बाहुल्येन परिदृश्यते चेतनगतसंशयहेतुकमूर्धकम्पसादृश्यात् तद्भावोऽस्य कम्पस्योपचर्यते। एवं चात्राप्यध्यवसानगर्भो गौण उपचारः। इयमपि च विभिन्नयोरपि कम्पयोरभेदेनाध्यवसानात् भेदेप्यभेद इत्येवमात्मिकातिशयोक्तिः। तन्निबन्धनैव चेयमुत्प्रेक्षा-' इति वितर्कान् दधत इवे'इति। अत्र हि कार्यभूतकम्पदर्शनात् कारणभूतं वितर्कधारणं मिथ्याज्ञानस्वरूपयोत्प्रेक्षयोत्प्रेक्ष्यते। अत्रापि च वितर्कानधारयतोऽपि पयोधेः वितर्कधारणोपनिबन्धाद् भेदेप्यभेद इत्येवमात्मिकातिशयोक्तिर्गर्भीकृता। तदुक्तमुत्प्रेक्षालक्षणे-

साम्यरूपविवक्षायां वाच्ये वाच्यात्मभिः पदैः।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्तिवा।।-इति।

संभाव्यमानस्य गुणक्रियायोगात्, तेनात्राप्यध्यवसानगर्भो गौण उपचारः। प्राप्तश्री-रित्यादिषु तु त्रिषु वितर्केषु भगवद्वासुदेवविषयेषु यथायोगं तत्तत्कार्यनिराकरणहेतुगर्भतया प्रवर्त्तमानेषु नृपतेर्भगवद्वासुदेवताऽऽक्षिप्ता। तेनात्रोपादानात्मिका लक्षणा। भगवद्वासुदेवरूपतया चात्र नृपतेरध्यवसानादध्यवसानगर्भो गौण उपचारः। एतच्चात्र सर्ववाक्योपात्त-पद-समन्वयान्यथानुपपत्त्यावगम्यत इति वाक्यनिबन्धनात्र लक्षणा।

वाच्यनिबन्धना तु यथा-

दुर्वारा मदनेषवो दिशि दिशि व्याजृम्भते माधवो
हृद्युन्मादकराः शशाङ्करुचयश्चेतोहराः कोकिलाः।
उत्तुङ्गस्तनभारदुर्धरमिदं प्रत्यग्रमन्यद् वयः
सोढव्याः सखि साम्प्रतं कथममी पञ्चाग्नयो दुःसहाः।। इति।

अत्र हि स्मरशरप्रभृतीनां पञ्चानामध्यारोपितवह्निभावानामसह्यत्वं वाक्यार्थीभूतम्, अतस्तस्य वाच्यता। तात्पर्यालोचनसामर्थ्याच्च विप्रलम्भशृङ्गारस्याक्षेप इत्युपादानात्मिका

लक्षणा वाच्यनिबन्धना। न ह्यत्र वक्तृस्वभावपरिशीलनस्य शब्दरहितस्योपयोगः, नापि च वाक्ये पदानां विप्रलम्भशृङ्गाराक्षेपमन्तरेणान्वयोपपत्तिः। वाच्यस्वरूपविचारेण तत्र विप्रलम्भशृङ्गाराक्षेपादुपादानात्मिका लक्षणा वाच्यनिबन्धना। विप्रलम्भशृङ्गारस्य चाक्षिप्यमाणस्यापि वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, सहृदयहृदयाह्लादहेतुतया प्राधान्येनाक्षेपात्।

'हृद्युन्मादकरा' इत्यत्र सत्यपि शशाङ्करुचीनां स्त्रीत्वे हेतुताच्छील्यानुलोम्यानामविवक्षितत्वाट् टप्रत्ययाभावेन अच्प्रत्ययान्तत्वादीकाराभावः। पूर्वं चात्र कर्मसंबन्धस्याविवक्षणात् अण्प्रत्ययस्याभाव इति अच्प्रत्ययः 'शिवशमरिष्टस्य करे' इतिवत्। अत एव हेत्वादिविवक्षायामपि टप्रत्ययाभावाददोषः।

एवं वक्तृवाक्यवाच्यानामेकैकसमाश्रयेण ये त्रयो भेदा भवन्ति ते तावदुदाहृताः। अन्येऽपि च ये वक्तारं वाक्यवाच्ययोरन्यतरेण संयुज्य, तथा वाक्यं वाच्येन सह समुच्चित्य द्विकभेदास्त्रयः, तथा तत्रिकभेदाश्च, वक्तृ-वाक्य-वाच्यानां त्रयाणामपि परस्परसंयोजनया चैक इत्येवं चत्वारो भेदा दृश्यन्ते, ते स्वबुद्ध्या षट्प्रकारलक्षणाविषयत्वेन मनीषिभिरुदाहार्याः। तेषां च देशकालावस्था-स्वालक्षण्यगत-समस्त-व्यस्त-भेद-प्रपञ्च-योजना लक्ष्येऽन्वेषणीया।

तदेवं चतुर्विधो मुख्योऽर्थो निर्णीतः। लक्षणया तु षट्प्रकारा उक्ताः।

इदानीमभिहितान्वयोऽन्विताभिधानं तत्समुच्चयः, तदुभयाभावश्चेत्येवं ये चत्वारः पक्षास्तेषु लक्षणायाः कक्षाविभागं दर्शयितुमाह-

अन्वयेऽभिहितानां सा वाच्यत्वादूर्ध्वमिष्यते।।7।।
अन्वितानां तु वाच्यत्वे वाच्यत्वस्य पुरः स्थिता।
द्वये द्वयमखण्डे तु वाक्यार्थपरमार्थतः।।8।।
नास्त्यसौ कल्पितेऽर्थे तु पूर्ववत् प्रविभज्यते।

इह केषाञ्चिदन्वयव्यतिरेकावसेय-सामान्यभूत-स्वार्थमात्र-विश्रान्तेषु पदेषु पदार्थाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतामहिम्ना वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्य हर्षशोकादिवदवसेयत्वमेव। यथा हि 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणीती'-ति यथाक्रमं पुत्रजन्मकन्यागर्भिणीत्वनिमित्तौ हर्षशोकौ स्वशब्देनानभिहितावपि शब्दाभिधेयभूत- वस्तुसामर्थ्यादाक्षिप्येते, एवं वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्यैव पदार्थाक्षेप्यत्वे द्रष्टव्यम्। एषां चैवंवादिनां मतेनार्थानामभिहितानामुत्तरकालं परस्परान्वयादभिहितान्वयः।

अपरे त्वाहुः- वृद्धव्यवहाराच्छब्दार्थसंबन्धावसायः। स च वृद्धव्यवहारः

प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः। प्रवृत्तिनिवृत्ती च विशिष्टार्थनिष्ठे। अतो विशिष्ट एवार्थे पदानां संबन्धावधृतिः। ततश्च विशिष्टा एव पदार्थाः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्। एवं च परस्परान्वितानां तत्तत्सामान्यावच्छादितत्वेन गृहीतस्ववाचकसंबन्धानां पदैः प्रत्यायनादन्विताभिधानमिति।

अन्येषां तु मते-पदानां तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थः, वाक्यस्य तु परस्परान्विताः पदार्था इति पदापेक्षयाभिहितान्वयः, वाक्यापेक्षया तु अन्विताभिधानम्। एवं चैतयोरभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चयः इति।

अखण्डवाक्यार्थवादिनस्त्वाहुः– विशिष्टस्य वस्तुनो वाक्यार्थत्वेऽभ्युपगम्यमाने विशेषस्यानन्वितत्वेन तद्विपरीतसामान्यविरुद्धत्वान्न परमार्थ-स्वभाव-सामान्य-भूतार्थावच्छादितरूपतया विशेषाणां स्ववाचकैः संबन्धग्रहणमुपपद्यते। अतः परमार्थतो वाक्यवाक्यार्थयोरखण्डत्वान्नाभिहितान्वयो नाप्यन्विताभिधानम्, न च तत्समुच्चयो युज्यते, पदार्थानामविद्यमानत्वात्, कल्पितपदार्थनिष्ठत्वेनोभयमपि व्यस्तसमस्तरूपतया कल्प्यत इति।

तत्र च यदा तावदभिहितान्वयः तदा स्ववाचकैरभिहितानां पदार्थानाम-भिहितोत्तरकालम् आकाङ्क्षा-योग्यता-संनिधि-माहात्म्याद् विशेषणविशेष्यभावात्मके परस्परमन्वये सति सा लक्षणा पदार्थानां सामान्यभूतानां यद् वाच्यत्वं तस्मादूर्ध्वं वाक्यार्थे पदार्थसामर्थ्यादवगम्यमाने सतीष्यते।

अन्विताभिधानपक्षे त्वन्वितानां विशिष्टानामेव पदार्थानां 'वाच्यत्वम्' अभिधेयत्वम्, न तु पदार्थानां सामान्यभूतत्वेनाभिहितानां वैशिष्ट्यम्।

तत्र विशिष्यमाणानां वस्तूनां पदार्थत्वं तावन्न घटते, यावत् सकलवाक्यार्था-नुयायितया प्रतिपन्नस्याव्यभिचरित-स्व-वाचकसम्बन्धस्य सामान्यरूपस्य निमित्तभूतस्यार्थस्य संप्रत्यये सति तत्तद्वाक्यार्थविषयतया यथाविषयं षट्प्रकारा लक्षणा नाविर्भवति। अतोऽन्विताभिधाने विशिष्टानां पदार्थानां वाक्यार्थस्वभावानां यद् वाच्यत्वं तस्य 'पुरः' तस्मात् पूर्वं निमित्तावस्थायां लक्षणावस्थिता।

अभिहितान्वयान्विताभिधानसमुच्चये तु पूर्वोदितन्यायद्वितयसङ्कलनया पदापेक्षया वाच्यत्वोत्तरकालभाविनी लक्षणा भवति, [वाक्यापेक्षया च] वाक्यार्थोत्तरकालं तस्याः [वाच्यत्वात्] पूर्वमवस्थानम्। तदिदमुक्तं 'द्वये द्वयमि'ति। 'द्वये' अभिहितान्वयान्वि-ताभिधानसमुच्चयात्मके 'द्वयं' वाच्यत्वाद् ऊर्ध्वम्, प्रागभावश्च लक्षणाया इत्यर्थः।

अखण्डे तु वाक्यार्थेऽसौ लक्षणा परमार्थेन नास्ति। भिन्नानां पदार्थानां परमार्थतोऽभिधेयभावस्यानुपपद्यमानत्वात्, तदाश्रितत्वाच्च लक्षणायाः। कल्पितपदार्थाश्रयेण तु सा लक्षणा यथारुचि पूर्ववदभिहितान्वयान्विताभिधानतत्समुच्चयकल्पनया विभक्तव्यभागे निवेश्या परस्परस्य देशकालावच्छेदेनाशेषव्यवहर्तृनिष्ठतया रूढत्वात्।

एवमभिहितान्वयादिपक्षचतुष्टये लक्षणायाः कक्षाविभागो निरूपितः।

एवमभिहितान्वयादिपक्षचतुष्टये लक्षणाया, यत्र मुख्यार्थासंभवस्तत्र मुख्यार्थासन्नवस्तुविषयां, सति प्रयोजने, प्रवृत्तिमुपदर्शयितुमाह–

मुख्यार्थासंभवात् सेयं मुख्यार्थासत्तिहेतुका।।९।।
रूढेः प्रयोजनाद् वापि व्यवहारे विलोक्यते।।

या चेयं षट्प्रकारा लक्षणा पूर्वमुक्ता सा–

1. मुख्यास्यार्थस्य प्रमाणान्तरबाधितत्वेनासंभवात्–
2. लक्ष्यमाणस्य चार्थस्य मुख्यार्थं प्रति आसन्नत्वमात्,
3. सान्तरार्थग्रहणस्य च सप्रयोजनत्वात्

इत्येवंविधकारणत्रितयात्मकसामग्रीसमाश्रयणेन वृद्धव्यवहारे परिदृश्यते।

यच्च तत् मुख्यार्थासन्नत्वम् तत् पञ्चप्रकारतयाचार्यभर्तृमित्रेण प्रदर्शितम्–

अभिधेयेन संबन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मते–।।–ति।

श्लोकेन। तेन

प्रयोजनस्यापि द्वैविध्यम्।

किञ्चिद्धि सान्तरार्थपरिग्रहे प्रयोजनम् अनादिवृद्धव्यवहारप्रसिद्ध्यनुसरणात्मकत्वाद् रूढ्यनुवृत्तिस्वभावम्, यथा द्विरेफादौ। द्विरेफशब्देन हि रेफद्वितययोगितया भ्रमरशब्दलक्षणाद्वारेण रूढ्यनुवृत्तिरेव क्रियते। अपरं तु रूढ्यनुसरणात्मकं यत् प्रयोजनमुक्तं तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरगतस्य संविज्ञानपदस्य रूपविशेषप्रतिपादनं नाम, यथा पूर्वमुदाहृतं 'रामोऽस्मी'–ति।

एतच्च प्रयोजनद्वितयं मुख्यार्थासंभवे सति मुख्यार्थप्रत्यासन्नतया पूर्वोपदर्शितेन संबन्धपञ्चकेनावगम्यमाने लाक्षणिकेऽर्थे यथाविषयमनुसर्त्तव्यम्।

तत्र

सम्बन्ध–लक्षणा–

यथा–

'गङ्गायां घोष' इति।

अत्र हि गङ्गाशब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्त्या मुख्यशब्दार्थबाधे सति योऽसौ समीपसमीपिभावात्मक: संबन्ध: तदाश्रयेण तटं लक्षयति। अत्र च लक्षणाया: प्रयोजनं तटस्य गङ्गात्वैकार्थसमवेतासंविज्ञानपद–पुण्यत्वमनोहर-त्वादिप्रतिपादनम्। न हि तत् पुण्यत्वमनोहरत्वादि स्वशब्दै: स्प्रष्टुं शक्यते, अव्याप्त्यति-व्याप्तिप्रसङ्गात्।

सादृश्य–लक्षणायामुदाहरणम्–

भ्रमर भ्रमता दिगन्तराणि
क्वचिदासादितमीक्षितं श्रुतं वा।
वद सत्यमपास्य पक्षपातं
यदि जातीकुसुमानुकारि पुष्पम्।।

अत्र हि भ्रमरपुष्पशब्दौ संबोधनान्यथानुपपत्त्या बाधितमुख्यार्थावभिधेय–सादृश्यात् तद्गतगुणसदृशगुणप्रयुक्तमर्थान्तरं लक्षणयावगमयत:। प्रयोजनं चात्र भ्रमरत्वपुष्पत्वैकार्थसमवेतक्रियागुणसदृशानामसंविज्ञानपदानां क्रियागुणानां प्रतिपादनम्।

समवायतो लक्षणा

यथा–

'छत्रिणो यान्ती'–ति।

अत्र बहुवचनप्रयोगान्मुख्यशब्दार्थबाध:। न ह्येकस्मिंश्छत्रिणि बहुवचनस्य प्रयोग उपपद्यते, अतोऽत्र गमनलक्षणायां क्रियायां छत्रिणा सह योऽसौ छत्रशून्यानां समवाय:=साहचर्यम्, तद्वशात् छत्रिशब्देन छत्रशून्या अपि लक्षणयाऽवगम्यन्ते। प्रयोजनं चात्र छत्रशून्यानां सर्वात्मना छत्रोपेतस्वाम्यनुयायितया प्रतिपादनम्।

वैपरीत्या–ल्लक्षणा,

यथा–

'भद्रमुख' इति।

अत्र हि भद्रमुखशब्दस्याभद्रमुखे प्रयोगात् स्वार्थबाधः, अतोऽसौ वाच्यभूतभद्रमुखत्वविपरीतत्वादभद्रमुखत्वं विपरीतनिबन्धनया लक्षणया प्रत्याययति। अत्र च लक्षणाप्रयोजनं गुप्तासत्यार्थप्रतिपत्तिः। गुप्तो ह्यसत्योऽर्थः तत्तदभिप्रायवशेन प्रायेण प्रयोक्तृभिः प्रतिपाद्यते।

क्रियायोगाल्लक्षणायाम्

उदाहरणं यथा–

'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वमि'-ति।

अत्र हि अशत्रुघ्ने शत्रुघ्नशब्दप्रयोगान्मुख्यशब्दार्थबाधः। शत्रुघ्नशब्दश्चाशत्रुघ्ने शत्रुहननक्रियाकर्तृत्वयोगाल्लक्षणयोक्तः। प्रयोजनं चात्र शत्रुघ्नशब्दाभिधेये नृपतिरूपताप्रतिपादनम्। तथा च–

पृथुरसि गुणैः, कीर्त्त्या रामो नलो भरतो भवान्,
महति समरे शत्रुघ्नस्त्वं, क्षितौ जनकः स्थितेः।
इति सुचरितैः ख्यातिं बिभ्रच्चिरन्तनभूभृतां
कथमसि न मांधाता देव त्रिलोकविजय्यपि।।- 'इति

शत्रुघ्नरूपतया नृपतित्वमुपश्लोक्यमानस्य राज्ञो वर्णितम्। तदेवं निबन्धनत्रितयसमुद्भवता लक्षणात्रयस्योक्ता।

इदानीं पञ्चविधसंबन्धनिबन्धनायामासत्तौ पूर्वोपवर्णितायां क्वचिद् वाच्यस्याततिरस्कारः, क्वचिद् विवक्षितत्वं क्वचिच्चाविवक्षितत्वमित्येवंविधं त्रयं यत् सहृदयैरुपदर्शितं तस्य विषयविभागमुपदर्शयितुमाह–

सादृश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्याततिरस्क्रिया।। 10।।
विवक्षा चाविवक्षा च संबन्धसमवाययोः।
उपादाने विवक्षात्र लक्षणे त्वविवक्षणम्।। 11।।
तिरस्क्रिया क्रियायोगे क्वचित् तद्विपरीतता।

'अभिधेयेन संबन्धादि'त्यत्र यद् आसत्तिरूपं पञ्चममुक्तं तत्र सादृश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्यात्यन्तं तिरस्कारः। तथाहि–

सादृश्य-निबन्धनायां लक्षणायामुपमानवाचिनः पदस्योपमेयपरत्वमुपमानात्मकं वाच्यमत्यन्तं तिरस्क्रियते। यथोपदर्शितं 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्ते'ति 'पयोदसुहृदामि-'ति च। अत्र हि लिप्तसुहृच्छब्दयोः स्वार्थोपमितवस्तुपरत्वात् स्वार्थस्यात्यन्तं कार्येऽनन्वितत्वम्।

वैपरीत्य–समाश्रयायामपि तस्यामर्थान्तरस्य वाच्यविपरीत्यस्योपादेयत्वाद् वाच्यस्यात्यन्तं तिरस्कारः, यथा 'भद्रमुखे–'ति। अत्र हि भद्रमुखत्वमभद्रमुखत्वादत्यन्तं तिरस्कृतम्।

एवं सादृश्यवैपरीत्ययोरत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता।

संबन्धसमवाययोस्तु वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षितत्वेन तस्य नात्यन्तं तिरस्कारः। तत्र–

[सम्बन्धे] हि

उत्पादानात्मिकायां लक्षणायामुपादाने वाच्यविवक्षायां वाच्यस्य विवक्षितत्वम्। तथाहि–तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता, वाच्यस्यार्थान्तरसंक्रमितत्वात्। तथाहि

यत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यता तत्र संबन्धनिबन्धनायां लक्षणायामुपादाने वाच्यविवक्षायामुदाहरणम्–'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते', इति। अत्र, हि दिनाधिकरण –भोजनाभावविशिष्टतया पीनत्वलक्षणं कार्यं विवक्षितमेव सत् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन संबन्धनिबन्धनायां लक्षणायां रात्रिभोजनात्मकं कारणमाक्षिपति।

समवायनिबन्धनायां तस्याम्–

उपादाने वाच्यस्य विवक्षितत्वं, यथा 'छत्रिणो यान्ती'–ति। अत्र हि यदा छत्री बहुत्वोपेतत्वात् स्वगतबहुत्वान्वयसंसिद्ध्यर्थत्वेन छत्रशून्यानपि आक्षिपति तदा समवायनिबन्धने छत्रशून्यानामुपादाने क्रियमाणे वाच्यश्छत्री विवक्षितः। तदेवं संबन्धसमवायनिबन्धनयोरुपादानात्मिकयोर्लक्षणयोर्वाच्यस्य विवक्षितत्वमुक्तम्।

लक्षणात्मिकयोस्तु तयोर्वाच्यस्याविवक्षितत्वम्, न त्वत्यन्तं तिरस्कारः लक्ष्यमाणद्वारेण कथंचित् कार्येऽन्वितत्वात्। तत्र

सम्बन्धनिबन्धनायां

लक्षणायामविवक्षितवाच्यत्व उदाहरणं 'रामोऽस्मी'–ति। अत्र हि रामशब्दवाच्यं दाशरथिरूपं व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतत्वात् स्वपरत्वेनानुपात्तम्, तस्मादविवक्षितम्, नत्वत्यन्तं तिरस्कृतम्, व्यङ्ग्यधर्मद्वारेण वाक्यार्थे कथंचिदन्वितत्वात्। एवं 'गङ्गायां घोष' इत्यादावप्युन्नेयम्।

समवायसम्बन्धनिबन्धनायां तु

लक्षणायामविवक्षितवाच्यता 'छत्रिणो यान्ती'–त्यत्रैवोदाहार्या। तथाहि यदा छत्रित्वं

बहुत्वान्वयान्यथानुपपत्त्या समुदायपरतयोपादीयते तदात्र समुदायस्य विवक्षिततत्वाद् वाच्यस्याविवक्षा। एवमपि च समुदायान्तर्भूतत्वात् समुदायद्वारेण छत्रिणोऽपि क्रियान्वयः सुलभ एव। अत एव चात्र वाच्यस्य नात्यन्तं तिरस्कारः, समुदायरूपान्तर्भूतत्वेन क्रियान्वितत्वात्।

तदेवं सम्बन्धसमवायनिबन्धनयोर्लक्षणयोर्वाच्यस्य विवक्षिततत्वमविवक्षिततत्वं च, न त्वत्यन्ततिरस्कार इति स्थितम्।

क्रियायोगनिबन्धनायां तु लक्षणायां शब्दगतावयवशक्त्यनुसरणे शब्दशक्तिमूलता लक्ष्यमाणस्यार्थस्य। तत्र च वाच्यस्यार्थस्य तिरस्क्रिया यथा 'पुरुषः पुरुष' इति। अत्र ह्येकेन पुरुषशब्देन विशिष्टजातीयस्यार्थस्योपात्तत्वादपरः पुरुषशब्दः स्ववाच्यव्यतिरेकेणैव क्रियायोगनिबन्धनया लक्षणया पुनरतिशयितृत्वमुपादत्ते।

यत्र तु निमित्तसद्भावाद् वाच्येऽर्थे विवक्षित एव तस्यार्थान्तरस्य शब्दशक्त्यन्तरमूलतया व्यवस्थितस्याऽव्यवायः क्रियते तत्र तद्विपरीततया वाच्यार्थतिरस्क्रियावैपरीत्यम्। न खल्वत्र वाच्यस्यार्थस्य तिरस्क्रिया, अपि तु विवक्षिततत्वमेव, यथा 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वमि'ति। अत्र हि शत्रुघ्नशब्दः शत्रुहननक्रियायाः कर्तृत्वं क्रियायोगनिबन्धनया लक्षणयावगमयन्नपि स्वार्थं दाशरथिमुपमानतयापि प्रतिपादयति। तेन तस्य विवक्षितस्य स्वार्थतापि। यद्यपि चोपमेयपरत्वेनोपमानस्योपादानादेवंविधे विषयेऽऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता सहृदयैरङ्गीक्रियते तथापि क्रियायोगनिबन्धनलक्षणावसरे तावद् वाच्यस्योपमानत्वेनाङ्गीकृततत्वादतिरस्कृतवाच्यतापि भवति।

तदेवं क्रियायोगनिबन्धनायामन्तः संक्रान्तनानार्थवशतः क्वचिद् वाच्यं तिरस्क्रियते, क्वचित् तु विवक्ष्यत इति स्थितम्।

एतच्च सर्वं बहुवक्तव्यत्वादिह न निरूप्यते। लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्। एतच्च विद्वद्भिः कुशाग्रीयया बुद्ध्या निरूपणीयम्, न तु झगित्येवासूयितव्यमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

तदेवं वाच्यस्य तिरस्कृतविवक्षायां विषयविभागो निरूपितः।

इदानीं 'सकलशब्दाविभागात्मकस्य शब्दतत्त्वस्य यदा शब्दार्थसम्बन्धत्रितयरूपतया रज्जुसर्पतया विवर्त्तमानत्वं तदैतदभिधावृत्तं दशविधव्यवहारोपारोहितयोपपद्यते, न तु संहृतार्थ-वाक्तत्त्वविषयतये'ति दर्शयितुमाह-

विवर्त्तमानं वाक्तत्त्वं दशधैवं विलोक्यते।। 12।।
संहृतक्रमभेदे तु तस्मिंस्तेषां कुतो गतिः।

सकलशब्दाविभागात्मनः शब्दतत्त्वस्य प्रमातृप्रमाणप्रमेयप्रमितिरूपेण प्रकारचतुष्टयेन प्रत्येकं वाच्यवाचकतत्संबन्धप्रपञ्चभाजो रज्जुसर्पवद् विवर्तमानस्य निरूपितैवंविध-दशविधाभिधा-वृत्त-सम्बन्धित्वम्। अप्रत्यस्तमित-सकल-विकल्पोल्लेखोपप्लवत्वे तु क्रमभेदसंहारेण तस्मिन् वाक्तत्त्वे विवर्त्तमाने तेषां दशानामभिधावृत्तानां 'कुतो गतिः'- नैव प्रसर इत्यर्थः।

इदानीं प्रकरणार्थमुपसंहरति-

इत्येतदभिधावृत्तं दशधाऽत्र विवेचितम्।। 13।।

मुख्यस्याभिधावृत्तस्य प्रकाराश्चत्वारः, लाक्षणिकस्य तु षडित्येवं दशप्रकारमभिधावृत्तमत्र विवेचितम्।

अधुना फलमेतस्य दर्शयति-

पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत् प्रतिबिम्बितम्।
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति।। 14।।

पदावगतिहेतुत्वात् पदं व्याकरणम्। वाक्यसमन्वयावसायहेतुत्वाद् वाक्यं मीमांसा। प्रमाणप्रतिपत्तिकारित्वात् प्रमाणं तर्कः। एतेषु पदवाक्यप्रमाणशास्त्रेषु चतुर्वर्गोपयोगिसर्व-विद्याधिगमोपायभूतेषु त्रिषु प्रविभिद्यमानेषु संक्रान्तानन्तरनिरूपितस्वरूपप्रतिबिम्बं दशविधमभिधावृत्तं यः साहित्यादौ [साहित्ये सर्गबन्धादौ] सकललोकव्यवहारदर्पणप्रख्ये संचारयति स वाचि क्रमेण प्रसीदन्त्यां वागीश्वरो भवति।

दशविधेनानेनाभिधावृत्तेन समग्रस्य वाक्परिस्पन्दस्य व्याप्तवादनेन व्याकरण-मीमांसा-तर्क-साहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात् तद्द्वारेण च सर्वासु विद्यासु सकलव्यवहारमूलभूतासु प्रसारणादस्य दशविधस्याभिधावृत्तस्य सकलव्यवहारव्यापित्वमाख्यातम्।

भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता।
सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्ति-मातृका।। 15।।

इति शारदाचरणरजःकणपवित्रितस्थल-वास्तव्य-श्रीकल्लटात्मज-भट्टमुकुलविरचिता अभिधावृत्तिमातृका समाप्ता।

शब्दव्यापारविचारकारिका:

जातिः क्रिया गुणः संज्ञा वाच्योऽर्थः समितध्वनिः।
तद्बाधे रूढितोऽर्थाद् वा लक्षणीयस्तदन्वितः।।1।।
स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।।2।।
सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।।3।।
भेदाविमौ च सादृश्यात् संबन्धातरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ, लक्षणा तेन षड्विधा।।4।।
निरूढा काचनान्या तु कार्या सा काचिदन्यथा।
उक्तान्वये च सा पश्चादन्वितोक्तौ पुनः पुरः।।5।।
द्वये द्वयमखण्डे तु वाक्यार्थे नास्ति सत्यतः।
प्रज्ञानैर्मल्य-वैदग्ध्य-प्रस्तावादिविधायुजः।
अभिधालक्षणायोगी व्यङ्ग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः।।6।।

इति श्रीराजानक-मम्मटभट्टविरचितः

शब्दव्यापारविचारः समाप्तः।।

।। श्रीः ।।

श्री राजानकमम्मटाचार्यविरचितः

शब्दव्यापारविचारः

इह हेयोपादेयानां हानोपादाने प्रमाणादेव। तच्च निश्चयात्मतया प्रामाण्यं भजते। निश्चयश्च शब्दसाहित्येनार्थं विषयीकरोति। शब्दस्य चार्थप्रतिपत्तिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्त्या कारकत्वात् कल्प्यमानो व्यापारोऽभिधादिशब्दप्रतिपाद्यो नानाप्रकार इति तत्परीक्षार्थं शब्दव्यापारविचारात्मकं प्रकरणमिदमारभ्यते। व्यापारश्च शृङ्गग्राहिकया दर्शयितुं न युज्यत इति विषयमुखेन प्रदर्श्यते–

[कारिका] जातिः क्रिया गुणः संज्ञा वाच्योऽर्थः समितध्वनिः।

अगृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति। तेन समितः सङ्केतितो ध्वनिः शब्दो यत्र सोऽर्थः पूर्वमुपलभ्यमानत्वात्, न तु विश्रान्तिधामत्वात् मुख्य इति प्रसिद्धो वाच्योऽभिधेयोऽर्थः। तथा चाह–'जातिरि'–त्यादि।

इह यद्यपि प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयो व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं न पार्यते इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनामेकार्थत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति च शब्दानामुपाधावेव सङ्केतः।

उपाधिश्च वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासंनिवेशितश्च। आद्यः सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः, पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। आद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये 'गौर्हि स्वरूपेण न गौः, नाप्यगौः, गोत्वाभिसंबन्धात्तु गौः'–इति। द्वितीयो गुणः। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशेष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः। डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधितया संनिवेश्यते इति च संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। गौः शुल्क्श्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्भाष्ये कथिता।

परमाणुत्वादीनां तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्।

ननु

पयःशङ्खाद्याश्रयिभूतेषु शुकलादिगुणेषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययौ स्तः, तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुलादिपाकेष्वेवमेव पाकत्वादिकम्। शुकसारिकाद्युदीरितेषु। डित्थादिशब्देषु च डित्थादिशब्दत्वम्, प्रतिक्षणं भिद्यमाने वा डित्थाद्यर्थे डित्थादित्वमस्तीति कथं चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः।

उच्यते–

संस्थानावस्थानप्रमाणवर्णैर्भेदेऽपि व्यक्तीनां शाबलेयो गौः, धावलेयो गौरित्याद्येकप्रत्ययहेतुत्वं जातेरेव। हंसहारादीनां घृतगुडादीनां शुकसारिकाद्युदीरितडित्थादिशब्दानां नानावस्थडित्थाद्यर्थानां च भेदेऽपि 'हंसः शुक्लः', 'हारः शुक्लः' घृतं पच्यते, गुडं पच्यते', 'डित्थशब्दो डित्थशब्दः', 'डित्थो डित्थ' इत्येकाकारावगतिनिबन्धनत्वादेकरूपत्वमेव गुणक्रियायदृच्छानामिति नैतासां भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुः जातिर्घटत इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि।।

अपरमाह–

[का०] तद्बाधे रूढितोऽर्थाद् वा लक्षणीयस्तदन्वितः।। 1।।

'शब्दे कुशल'इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाधिकरणतासंभवाद् मुख्यार्थस्य बाधः, रूढितः प्रसिद्धेः, तथा 'गङ्गातट' इत्यादेर्येषां न तथा प्रतिपत्तिस्तेषां पावनत्वादीनां तथाप्रतिपादनात्मना प्रयोजनेन च तेन मुख्यार्थेनान्वितो लक्षणीयो लक्षणाव्यापारगोचरः। संबन्धश्चात्र विवेचकत्वादिः सामीप्यादिश्च। एवं वाच्यवाचकार्थनिष्ठौ व्यापारावभिधालक्षणे।

[का०] स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।। 2।।

'कुन्तान् प्रवेशय' 'यष्टीः प्रवेशये'–त्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्धये स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते, तत उपादानेनेयं लक्षणा।

"–गौरनुबन्ध्य इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं में स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते, 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषण' इति न्यायाद्–" इति उपादानलक्षणा नोदाहर्त्तव्या, न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति, न वा रूढिः, व्यक्त्यविनाभावात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, यथा क्रियतामित्यत्र कर्ता, कुवित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च।

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

'गङ्गायां घोष' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणतायाः सिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयतीत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा।

उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। अनयोर्भेदयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं तटस्थत्वम्, तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसंप्रत्ययः, गङ्गासंबन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।।

[का०] सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

आरोप्यमाण आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा।

[का०] विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।। 3।।

विषयिणा आरोप्यमाणेन अन्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन् आरोपविषये सति साध्यवसाना।

[का०] भेदाविमौ च सादृश्यात् संबन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ,

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीक' इत्यत्र 'गौरयमि'त्यत्र च। अत्र

(1) स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधानं प्रति निमित्तत्वमुपयान्तीति केचित्।

(2) स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यपरे।

(3) साधारणगुणाश्रयणेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यन्ये।

उक्तं चान्यत्र–

'अभिधेयाविनाभूत–प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।।' इति।

अविनाभावोऽत्र संबन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम्, तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ

लक्षणा न स्यात्, अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम्। येन गोगत-जाड्य-मान्द्यादि-सदृश-जाड्य-मान्द्याद्युच्यते तेन गुणा(ण)भेदाभ्युपगमे गुणजातिप्रसङ्गाच्चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरुक्ता व्याहन्येत।

'आयुर्घृतम्', 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ सादृश्यादन्यः कार्यकारणाभावादिः परः संबन्धः। एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने।

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदावगमश्च प्रयोजनम्। शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि।

क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः यथा इन्द्रार्थास्थूणा, इन्द्रः, क्वचित् स्वस्वामिभावात् यथा राजकीयः पुरुषो राजा, क्वचिदवयवावयविभावाद् यथा अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रावयवे हस्तः, क्वचित् तात्कर्म्यात् यथा अतक्षा तक्षा।

[का०] लक्षणा तेन षड्विधा।।4।।

आद्यभेदाभ्यां सह।

सा च–

[का०] वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदाद् विभिद्यते।

तत्र वक्तृस्वरूपपर्यालोचनात् सा यथा–

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते
सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे
सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।।

बहुभिरपकारैस्ताप्यमानस्य कस्यचिदुक्तिरियम्, अतो वक्तृमहिम्ना मूर्खे बृहस्पतिशब्देन मूर्खत्वमिवापकारिणि दुर्जनत्वादि अत्र लक्ष्यते।

वाक्यविशेषावधारणाद् यथा–

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते च करे प्रियेण।
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि।।

अत्र धन्यास्मीति लक्ष्यते। वाक्यस्यैवात्र शक्तिः।

वाच्यविशेषनिरूपणाद् यथा–

भुवनाभयदानसक्तशक्तेः
सकलस्वीक्रियमाण-संपदस्ते।
नसमानधुराधिरोहदोषं
सुमते कोऽपि कदापि कर्तुमीष्टे।।

अत्र प्राणसमस्य व्यसनेऽपि तटस्थः, तृणमात्रमपि दातुमसमर्थश्च वाच्यः। एवं द्विकभेदास्त्रयः, त्रिकभेदश्चैक उदाहार्यः।

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायो नैव शिशोः पितास्य विरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यापि यामि तद् द्रुतमितः स्त्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नडग्रन्थयः।।

—इत्यत्र,

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः।।

—इत्यत्र,

दुर्वारा मदनेषवो दिशि दिशि व्याजृम्भते माधवो
हृद्युन्मादकराः शशाङ्करुचयश्चेतोहराः कोकिलाः।
उत्तुङ्गस्तनभारदुर्धरमिदं प्रत्यग्रमन्यद् वयः
सोढव्याः सखि साम्प्रतं कथममी पञ्चाग्नयो दुःसहाः।।

—इत्यत्र च

नादेय-पानीयानयनेन परपुरुषसंभोगस्य नडग्रन्थिलेखनेन संभाव्य-मान-नख-दशन-क्षतानां च निह्नवात्मकं वस्तु, भवान् हरिरिति रूपकालङ्कारः, विप्रलम्भशृङ्गारश्च रसो लक्ष्यत इति नोदाहार्यम्, मुख्यार्थस्य बाधाभावात्। असख्या अपि सख्यभिधानस्यैवं संभवात्। आक्षिप्तस्यालङ्कारस्य लक्ष्यत्वे च वह्न्यानयने पात्रानयनस्य लक्ष्यत्वप्रसङ्गात्। अबाधितस्यैव वाच्यस्य रसप्रतीतिकृत्त्वात्।

सप्रयोजनायां च लक्षणायां तदतिरिक्तो व्यापारोऽवश्यमङ्गीकर्तव्यः। तथा च, सति प्रयोजने लक्षणा, तच्च न मुख्यार्थबाधनिमित्तवत्प्रमाणान्तराद् बोद्धव्यम्। तदर्थमेव लक्षणाशब्दप्रयोगात्। न खलु शाब्देऽर्थे प्रत्यक्षं क्रमते, नापि तत्पूर्वकमनुमानम्। नानुमानान्तरम्, अनवस्थापत्तेः। न स्मृतिः, तदनुभवाभावात्। सत्यामपि वा तस्यां

नियतस्मरणं न स्यात्। तस्माच्छब्द एव तत्र प्रमाणम्। निर्व्यापारश्च शब्दो नार्थप्रतीतिकृत्। व्यापारश्चनाभिधा, तत्र सङ्केताभावात्। न लक्षणा, तस्मिन् सति हि सा, न तु तद्विषया। नाप्यस्या लक्ष्ये बाधोस्ति। लक्ष्यप्रयोजनयोश्च संबन्धस्य, प्रयोजनस्य चाभावात्। तस्यापि लक्षणेऽनवस्थापत्तिरिति न लक्षणा स्यात्। अस्ति च सा। ततः प्रयोजनविषयो व्यापारोऽभ्युपगन्तव्यः। स च ध्वननावगमनप्रकाशनद्योतनादिशब्दव्यवहार्यः।

ननु

"गङ्गातटे घोष इत्यादिस्वशब्दाद् यादृगर्थप्रतीतिर्न भवति तादृशी 'गङ्गायां घोष' इत्यादेः, तदेव प्रयोजनम्, पावनत्वादिधर्माक्रान्तं च तटादि लक्ष्यत इति विशिष्टे लक्षणा, न तु लक्षिते विशेषाः, एवं हि तटादेः पावनत्वादीनां च धर्मधर्मिभावकल्पकश्चतुर्थो व्यापार उररीकर्तव्यः। लक्षणाफलं च कथमन्येन क्रियते। न च व्यापारस्य लक्षणात्मनो व्याजनात्मा व्यापारो भवति। शब्दस्यासाविति चेत्, न तर्हि लक्षणायाः प्रयोजनम्। तस्माद् विशिष्टमेव लक्ष्यते।"

उच्यते–

लक्षणायास्तटादिर्विषयः। न च तत्र पावनत्वादयः सन्ति। तत्, कथं विशिष्टे लक्षणा। सामान्यनिष्ठश्च सङ्केत इति त्रितयात्मना सङ्केतभेदेन लक्षणा सा कथं विशिष्टं गोचरीकुर्यात्। व्यज्यते त्वसङ्केतित एव। किं च लक्षणाया गोचरो लक्ष्यः, न प्रयोजनम्। प्रत्यक्षस्य हि नीलं विषयः, प्रकटता संवित्तिर्वा फलम्। अव्यभिचाराच्च लक्ष्यसंवित् फलत्वेनोक्ता, एवं ह्यभिधाया अपि फलम्।

शब्दस्य च वाचकस्य संविदेव फलम्। तच्च विना व्यापारान्न संभवति। न च व्यापारस्य व्यापार इति शब्दस्यैवासौ वाच्यः। लक्षणान्वयव्यतिरेकानुविधानं च सव्यापारस्य फलस्येति तस्याः तत् कार्यम्, कार्यं च फलमुच्यते। क्रियान्तरप्राप्यस्य यागफलत्वमिवव्यञ्जनशक्तिनिर्वर्त्यस्य प्रयोजनस्य लक्षणाफलत्वम्।

नीलविषयस्य प्रमाणस्य यथा नीलनिष्ठैव प्रकटता संविद् वा फलं तद्वल्लक्षणायास्तद्विषयनिष्ठमेव प्रयोजनम्। तेन धर्मधर्मिभावकल्पकं नोपयुज्यते व्यापारान्तरम्।

तेन सिद्धमेतल्लक्षणाया अतिरिक्तो व्यापारः समाश्रयणीय इति।

[का०] निरूढा काचनान्या तु कार्या सा काचिदन्यथा।

अनुलोमप्रतिकूलादिशब्देशु काचन सा वाच्यमर्थं परिहृत्य लक्ष्य एवार्थे वाचकवन्निरूढा।

अपरा तु मुख्यार्थबाधनिमित्तप्रयोजनेषुसत्सु ['कार्या'] कर्तव्या। [यथा]

रविणा हृतसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निश्श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।।

इत्यादावन्धादिशब्देषु अनुपपद्यमानत्वाद् वाच्यमत्यन्ततिरस्कृतम् इति विच्छायत्वस्य लक्षितस्यासामान्यत्वं व्यङ्ग्यम्। तथा–

स पुरुषः स च जीवति सत्कृतं
जगति यस्य पराक्रमसंभृतम्।
भ्रमति सूर्यकरैः सह गामिमा–
मभिनवोदितपल्लवितं यशः।।

इत्यादौ पुरुषशब्दोऽनुपयुज्यमानत्वाल्लक्षित–स्वगत–पराक्रमादिधर्म–व्यङ्ग्य–तदानन्त्य [:] संक्रमित–वाच्यः।

रेफद्वयानुगतभ्रमरादिशब्दाभिधेयत्वे द्विरेफशब्दः षट्पदे यथा प्रयुज्यते तथा कोकिलादौ द्विक इत्यादिका 'अन्यथा' न प्रयोज्याः।

[का०] उक्तान्वये च सा पश्चात्–

इहानन्त्यात् व्यभिचाराच्च वाक्यस्य वाक्यार्थ इव विशेषरूपे पदार्थे पदस्य सङ्केतः कर्तुं न पार्यत इति सामान्य एव सङ्केतः। आकाङ्क्षा–सन्निधि–योग्यता–वशात् सामान्यानामभिहितानां सताम् अन्वय इति पदार्थानां वैशिष्ट्यम्। एवं चापदार्थोऽपि वाक्यार्थः तात्पर्यशक्त्या प्रतिपाद्यते। अत्र पक्षे पूर्वमभिधा ततोऽन्वयबाधे लक्षणा।

[का०]– अन्वितोक्तौ पुनः पुरः।। 5।।

'देवदत्त गामानये'–त्याद्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणान्मध्यमवृद्धो विशिष्टं व्यापारं करोतीति दृष्ट्वा व्युत्पा(प)द्यमानो निर्विभागेऽर्थे निर्विभागं वाक्यं वाचकं जानाति। ततो 'यज्ञदत्त गामानये'–त्यादिवाक्यान्तरप्रयोगे सति अन्वय–व्यतिरेकाभ्यां नियतस्य नियतार्थमवस्यतीति सामान्यावच्छादिते विशिष्ट एव पदार्थे पदानां सङ्केत इत्यन्वितानामेव सताम् अभिधानमिति विशिष्टानां पदार्थता। अत्र पक्षे अभिधायाः 'पुर' आदौ लक्षणा, विशिष्टस्यैव पदार्थत्वात्।

[का०] द्वये द्वयम्–

पदापेक्षयाभिहितान्वयः वाक्यापेक्षया त्वन्विताभिधानमिति 'द्वयं'–पक्षे 'द्वयम्' अभिधायाः पश्चात् पुरस्ताच्च सा।

[का०]–अखण्डे तु वाक्यार्थे नास्ति सत्यतः।

वाक्यमेव वाक्यार्थस्य वाचकम्। पदेषु वर्णवद् वाक्येषु हि पदानामनर्थकत्वम्। ततश्च लक्षणा नास्त्येव। कशाभिघातात् तुरगस्ययथा प्रेषितो–[प्रेरितो] हमनेन धावन इति प्रतिभोदेति तद्वत् प्रतिभावशाद् विशिष्टवाक्यात् प्रतिपत्तिरिति सैव वाक्यार्थः। असत्यभूतप्रकृतिप्रत्ययादिकल्पनादविद्यापदे पदार्थकल्पनायां तूक्तेषु पक्षेषु त्रयः पक्षाः।

यश्च संबन्धो लक्षणाया निमित्तं तं पञ्चविधमाहुः। यथोक्तम्–

अभिधेयेन संबन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता।।–इति–।

तत्र द्विरेफादिशब्दस्य भ्रमरादिः शब्दोऽभिधेयः। तत्संबन्धात् तेन षट्पदो लक्ष्यते इति अभिधेयसंबन्धनिमित्तता।

सादृश्याद्, यथा 'सिंहो माणवक' इति। यथा वा–

वर्षे समस्त एवैकः श्लाघ्यः कोऽप्येष वासरः।
दिनैर्महत्तयान्वेयो यो न पूर्वैर्न चापरैः।।

अत्र प्रकरणवशाद् महापुरुषः कश्चिल्लक्ष्यते यस्य [कुले] पूर्वे, भाविनो वा पुरुषा न समानत्वमुपयन्ति।

समवायः उक्तसंबन्धेभ्योऽन्यः संबन्धः। ततो यथा----- [खण्डितम्]।

सामीप्याद् 'गङ्गायां घोष ' इति।

साहचर्यात् 'छत्रिणो यान्ती'–ति। अत्र हि छत्रिसाहचर्यादच्छत्रा अप्येवं व्यपदिश्यन्ते।

वैपरीत्याद् यथा 'कातरे भार्गव' इति।

क्रियायोगाद् यथा–

'पृथुरसि गुणैः–कीर्त्त्या रामो नलो भरतो भवान्
महति समरे शत्रुघ्नस्त्वं तथा जनकः स्थितेः।
इति सुचरितैर्मूर्त्ति बिभ्रत् पुरातनभूभृतां
कथमसि न मान्धाता देव त्रिलोक-विजय्यपि।।

–अत्र अशत्रुघ्नेऽपि शत्रुहननक्रियायोगाच्छत्रुघ्नत्वेन व्यपदेशः।

[का०] प्रज्ञानैर्मल्य-वैदग्ध्य-प्रस्तावादिविधायुजः(?)।
अभिधालक्षणायोगी व्यङ्ग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः।। 6।।

यथा सङ्केतेन मुख्यार्थबाधादित्रितयेन च सहायेनाभिधायको लक्षकश्च, यथा वा पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकसहगतो विवक्षाया अनुमापकः तथा प्रतिभानैर्मल्यविदग्धपरिचय-प्रकरणादि-ज्ञान-सापेक्षो वाचको लक्षकश्च व्यङ्ग्यमर्थं ध्वनि[:] शब्दो व्यनक्ति। तत्र व्यङ्ग्यः

पदप्रकाश्यो यथा–

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अह्माणं वग्घकित्ती अ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुण्हा।।
[वाणिजक हस्तिदन्ता कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृतयश्च।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिसंक्रामति स्नुषा।]

वाक्यप्रकाश्यो यथा–

'अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि।।
[श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोर्निमङ्क्ष्यसि।।]

अत्राभिधामूलं व्यञ्जनम्।

लक्षणामूलं यथा–'निश्श्वासान्ध इवादर्श' इत्युदाहृतम्।

स एव गुणभूतः पदप्रकाश्यो यथा–

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः।।–

अत्रैते वराका दासभावं गताः किं करिष्यन्ति, अस्मदेकशरणाः परिभविष्यन्ति इत्यादि द्यूतकाले भवद्भिश्चिन्तितमासीन्नास्माकं विस्मृतम्। तत्र काचित् प्रतिक्रिया निर्व्यूढा, न कि निर्व्यूढा, इत्यादिकं तमर्थमभिव्यज्य सर्वैरेव कर्ता द्यूतच्छलानामित्यादिभिर्वाच्य एवार्थे विश्रम्यते।

वाक्यप्रकाश्यो यथा–

वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइ।।
[वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया बध्वाः सीदन्त्यङ्गानि।।-]

अत्र दत्तसङ्केतः पुरुषो वानीरलतागृहं प्रविष्टं इति व्यङ्ग्यमर्थमवगमय्य वाच्योऽर्थः स्वप्राधान्येनास्ति।

न चैवमभिधाया लक्षणाया वा कश्चिदवसर इति भिन्नमेव ध्वननम्।

ननु

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति व्यङ्ग्याभिमतोऽपि तात्पर्यात् कथं न वाच्यः। इह सर्वाण्येव कारकाणि कारकत्वात् सव्यापाराणीति साध्यायमानानि, अतो 'भूतभव्यसमुच्चारणेभूतं भव्यायोपदिश्यत' इत्यदग्ध दहनन्यायेन यावदविहितं तावद् विधीयते इति क्वचित् कारकपदार्थोऽपि विषयो भवति। यथा 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोती'-ति।

[उत्तरम्]

एवं हि पूर्वो धावतीत्यपरार्थेऽपि तात्पर्यं स्यात्।

अ[न]न्वितः पदार्थोऽभिहितान्वये अन्वितमात्रं त्वन्विताभिधाने, तत्रैव सङ्केतोपपत्तेः, अन्वितविशेषस्तूभयमतेऽप्यवाच्य एव। एवं च वाच्यत्वे का वार्त्ता वाच्यविपरीतात्मनो व्यङ्ग्यस्य।

न तु व्यङ्ग्यमनुमेयमिति शक्यं वक्तुम्, न हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्रतिबन्धग्रहे किञ्चित् प्रमाणं क्रमते। प्रकरणादिसामग्रीमन्तरेण हि न व्यङ्ग्यम्। न च सा प्रमाणगोचरा। व्यङ्ग्यवाचिनां त्वदोषः, एवंभूतायां प्रमाणैरप्रतिपन्नायां हि सामग्र्यामुपपत्तिमनपेक्ष्यापि समुदयमाना प्रतीतिः केन निह्नोतुं शक्यत इति।

सिद्धम्—अभिधातात्पर्यलक्षणाव्यापारातिरिक्तं ध्वननम्।
एतच्चान्यत्र विस्तरेण विचारितमिति संक्षेपेणेहोक्तमिति शिवम्।।

इति श्रीराजानक-मम्मटभट्टविरचितः

शब्दव्यापारविचारः समाप्तः।।

